चरकसंहिता का वचन है- 'आयुर्वेदोऽमृतानाम्' अर्थात् अमृतमय उपदेशों में आयुर्वेद सर्वश्रेष्ठ है। यह हमें स्वस्थ, सुखी एवं दीर्घ जीवन की कला सिखाता है। प्रस्तुत पुस्तक में परम श्रद्धेय गुरुवर ने चरकसंहिता , सुश्रुतसंहिता एवं अष्टाङ्गहृदय के अति उपयोगी अमृतमय उपदेशों को सरल भाषानुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। इनमें एक-एक वचन बहुत ही मार्मिक एवं प्रेरणाप्रद है, यथा-

समग्रं दु:खमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले सम्प्रतिष्ठितम्।।

अर्थात् शरीर एवं मन के समग्र दु:ख का कारण अज्ञान है और समग्र सुख का कारण निर्मल ज्ञान है। इससे स्पष्ट है यदि हम आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य के नियमों को जानकर अपनायें तो मन व तन की सभी आधि-व्याधियों से मुक्त होकर स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन जी सकते हैं। पुस्तक का एक-एक वचन मार्गदर्शक का काम करता है-

नरो हिताहार-विहार-सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्त:।
दाता सम: सत्यपर: क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोग:।।
मतिर्वच: कर्म सुखानुबन्धि सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धि:।
ज्ञानं दमस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगा:।।

-(चरक, शारीरस्थान)

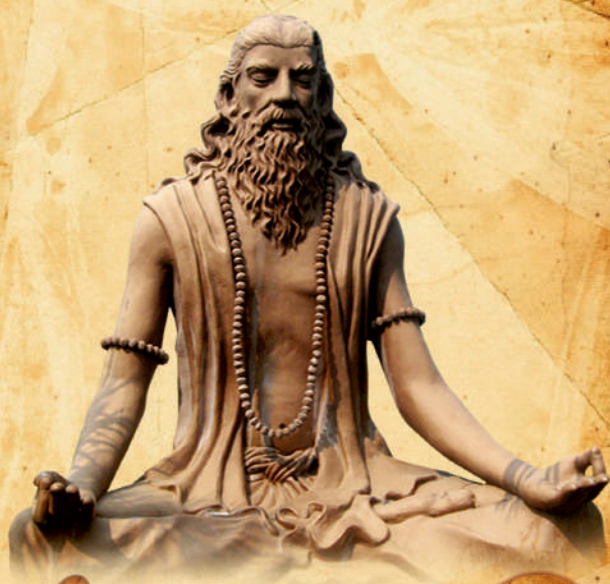
अर्थात् जो व्यक्ति नित्य हितकर आहार-विहार का सेवन करता है, विचारपूर्वक सब कार्य करता है, इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्त रहता है, दानशील व सत्यपरायण होता है, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, हानि-लाभ, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों में समता बनाए रखता है, क्षमाशीलता अपनाता है और आप्तजनों की संगति करता है, वह व्यक्ति निरोग रहता है। जो मन, वचन व कर्म को संयमित कर सुखद परिणाम वाले कर्म करता है, जिसका मन सदा वशीभूत एवं बुद्धि निर्मल अर्थात् राग-द्वेष व विषयासक्ति से रहित होकर तत्त्व को ग्रहण करने वाली होती है। जो ज्ञानवान्, जितेन्द्रिय व योग में तत्पर रहता है, उसे रोग कभी नहीं सताते हैं।

इस प्रकार के वचनों का नित्य स्वाध्याय एवं मनन हमारे जीवन में उच्च चेतना बनाये रखता है। परम श्रद्धेय गुरुवर द्वारा प्रस्तुत इस आयुर्वेदामृत प्रसाद को श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर पाठक अवश्य ही आरोग्यलाभ कर जीवन को सुखमय व सफल बना सकते हैं।

आयुर्वेदामृतम्

आचार्य प्रद्युम्न

आयुर्वेदामृतम्





सम्पादक एवं व्याख्याकार
आचार्य प्रद्युम्न

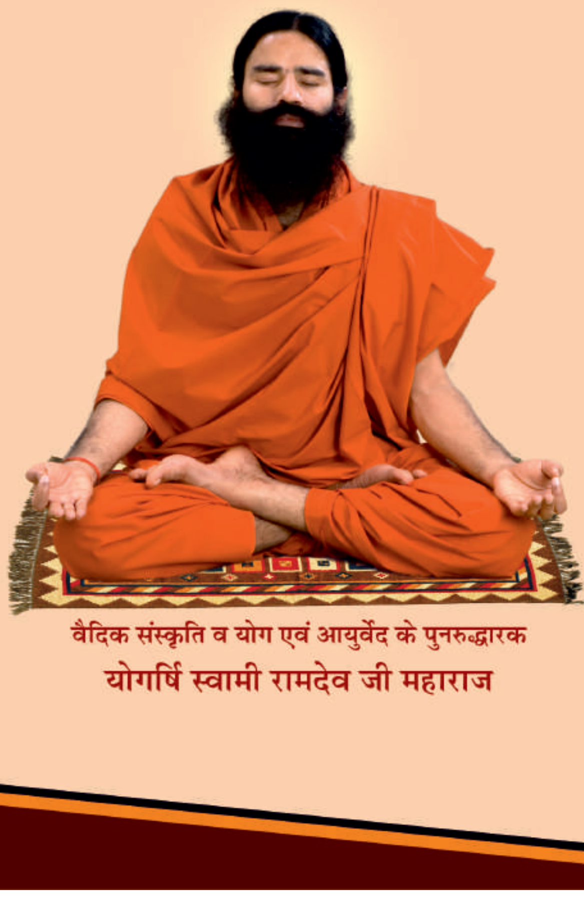
आयुर्वेदामृतम्



आयुर्वेद शब्द में 'आयु:' का अर्थ 'जीवन' है। स्वस्थ, सुखी एवं दीर्घ जीवन पाने की विद्या को ही 'आयुर्वेद' कहते हैं। आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि- **'स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च'** अर्थात् स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी के रोग का निवारण ही आयुर्वेद का प्रयोजन है। सभी आयुर्वेदीय संहिताओं में स्वस्थ के स्वास्थ्य-रक्षण वाले पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। वहाँ उचित आहार-विहार, सन्तुलित दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं पथ्यापथ्य आदि की जानकारी दी गई है, जिससे व्यक्ति रोगी ही न हो और रोग होने पर सावधानीपूर्वक पथ्य से सहज ही दूर किया जा सके। आयुर्वेद के इस पक्ष की जानकारी प्रत्येक आरोग्याभिलाषी के लिए अत्यावश्यक है। प्राचीन काल में वैद्यों द्वारा इस प्रकार की अनिवार्य जानकारी जन-जन तक पहुँचा रखी थी। इससे प्राचीन भारत का समाज अधिक स्वस्थ, बलवान् सुखी व दीर्घायुष्य से सम्पन्न था।

आज पुन: आयुर्वेद के इन उपदेशों के प्रचार की महती आवश्यकता है। इसे ध्यान में रखते हुए श्रद्धेय गुरुवर आचार्य प्रद्युम्न जी महाराज ने **'आयुर्वेदामृतम्'** नामक यह पुस्तक प्रस्तुत की है। इसमें आयुर्वेद की प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य रचना चरक-संहिता, सुश्रुतसंहिता एवं अष्टाङ्गहृदय से चयनित सर्वजनोपयोगी उपदेशों को सरल हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। इसके अध्ययन से आयुर्वेद के सिद्धान्तों एवं स्वास्थ्योपयोगी नियमों की जानकारी प्राप्त कर तदनुसार आचारण करने से उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन की प्राप्ति की जा सकती है। आशा है यह पुस्तक पाठकों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

आचार्य बालकृष्ण



वैदिक संस्कृति व योग एवं आयुर्वेद के पुनरुद्धारक

योगर्षि स्वामी रामदेव जी महाराज

ओ३म्

आयुर्वेदामृतम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार

आचार्य प्रद्युम्न

आर्ष गुरुकुल खानपुर

पत्रालय-मण्ढ़ाणा, तहसील-नारनौल,

जिला- महेन्द्रगढ़, (हरियाणा)

पिन-123001, दूरभाषाङ्क: 8954890130

प्रकाशक	**आर्ष गुरुकुल खानपुर** **पत्रालय-मण्ढ़ाणा, तहसील-नारनौल,** **जिला- महेन्द्रगढ़, (हरियाणा)** **पिन-123001, दूरभाषाङ्कः 8954890130**
ई-मेल	divyayoga@rediffmail.com
वेबसाइट	www.divyayoga.com
दूरभाष	**(01334) 244107, 240008, 246737**
फैक्स	**(01334) 244805**
आईएसबीएन	978-93-88508-50-6
मूल्य	**551/-**
सर्वाधिकार	© **प्रकाशकाधीन**
प्राप्ति-स्थल	१. आर्ष गुरुकुल खानपुर, पत्रालय- मण्ढ़ाणा, तहसील- नारनौल, जिला- महेन्द्रगढ़, (हरियाणा) पिन- **123001**, दूरभाषाङ्क : **8954890130** २. पतञ्जलि योगपीठ हरिद्वार, उत्तराखण्ड ३. विश्ववारा कन्या गुरुकुल रुड़की जिला- रोहतक (हरियाणा) दूरभाषाङ्क : **9416197366** ४. कन्या गुरुकुल चोटीपुरा जिला- अमरोहा (उत्तरप्रदेश)
संस्करण	द्वितीय
मुद्रकः	: ....

।। ओ३म्।।

।। इदं नम ऋषिभ्य: पूर्वजेभ्य: पूर्वेभ्य: पथिकृद्भ्य:।।

प्राक्कथन

आयुर्वेद में एक समग्र चिकित्सा-विद्या के साथ-साथ जीवन-विद्या एवं मोक्ष-विद्या का भी विधान है। अपरा व परा विद्याओं में निष्णात पारंगत हमारे पूर्वज आप्त पुरुष थे और आज से हजारों वर्ष पूर्व भी उन्होंने जीवन के लगभग सभी पहलुओं पर प्रामाणिकता से प्रकाश डाला है। हम भारतवाासियों को अपने महान् पूर्वजों पर गर्व है, जिन्होंने विश्व को सबसे पहले शिक्षाव्यवस्था, चिकित्साव्यवस्था, कृषिव्यवस्था, राजव्यवस्था व अर्थव्यवस्था सहित एक समग्रता, सन्तुलन, न्याय, समानता, दिव्यता या आध्यात्मिकता पर आधारित अहिंसक वैज्ञानिक व सार्वभौमिक जीवन–पद्धति का उपदेश दिया।

वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, गीता, पुराणों एवं व्याकरणशास्त्र से लेकर आयुर्वेदशास्त्र के महान् ग्रन्थ एवं संहिताएँ जो भी श्रुति, स्मृति एवं ऋषिकृत शास्त्र आज हमें उपलब्ध हैं, यह हमारी बहुत बड़ी विरासत है। अपने पूर्वजों की अप्रतिम मेधा, दिव्य, श्रेष्ठ आचरण तथा विश्व एवं समग्र मानवता के लिए उनके किये हुए उपकार या योगदान हमारे लिए बहुत बड़ा गौरव व प्रेरणा हैं।

परमश्रद्धेय गुरुवर्य आचार्य श्री प्रद्युम्न जी महाराज ने अपना पूरा जीवन भारत की प्राचीन विद्या एवं परम्परा की महान् सेवा-साधना में समर्पित किया हुआ है। मूल वैदिक श्रुति, स्मृति एवं आर्षज्ञान-परम्परा के प्रामाणिक विद्वान् होने के साथ-साथ श्रद्धेय गुरुदेव ने इस युग के महान् योगी श्री अरविन्द, महान् विचारक व चिन्तक श्री जे. कृष्णमूर्ति, महर्षि रमण, महर्षि दयानन्द जैसे अनेक साधु सन्तों, महापुरुषों एवं दार्शनिकों के

हजारों-हजारों ग्रन्थों को पढ़कर जीवन के सन्दर्भ में गम्भीर निष्कर्षों को उपलब्ध किया है।

श्रद्धेय गुरुदेव की ५ दशकों की विद्या-साधना से जहाँ एक ओर मुझ जैसे अनेक संन्यासी, आचार्य, ब्रह्मचारी, एवं ब्रह्मचारिणियाँ उपकृत हुए हैं, वहीं गुरुदेव ने '**जीवन का समाधान**', '**दृष्टि**' एवं '**साधना पथ**' आदि श्रेष्ठ पुस्तकों का भी लेखन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ '**आयुर्वेदामृतम्**' श्रद्धेय गुरुवर्य की श्रेष्ठतम रचना है। इस ग्रन्थ में गुरुदेव ने आयुर्वेद के लगभग ३५ ग्रन्थों के सारभूत ज्ञान के साथ-साथ अपने पचास वर्ष की विद्या-साधना के निष्कर्षों का समावेश करके मानव जाति पर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक का अध्ययन तथा तदनुरूप आचरण कर पाठकों को अपने जीवन को पूर्ण स्वस्थ, सुन्दर एवं दिव्य बनाने में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के साथ-साथ आहारचर्या, दिनचर्या एवं स्वस्थ जीवन के मूलभूत सत्यों का समावेश किया है। प्रकृति के श्रेष्ठ द्रव्यों के गुण एवं विज्ञान, रोग-रोगी–वैद्य एवं औषध की विवेचना के साथ जीवन के अन्तिम व शाश्वत सत्य, तत्त्वबोध या आत्मबोध का प्रामाणिक मार्गदर्शन किया है। व्याधियों की समाप्ति से लेकर समाधि की प्राप्ति का मार्ग इस '**आयुर्वेदामृतम्**' में प्रशस्त होगा, ऐसी मेरी निष्ठा है। भारत सहित विश्व के सभी नागरिकों को सामान्य शिक्षा के साथ-साथ स्वास्थ्य एवं सदाचारशिक्षा (हेल्थ, न्यूट्रिशिन तथा मोरल एजुकेशन) भी देनी चाहिए, इस विषय में अब विश्व में निर्विवादित सहमति बन रही है। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक सार्थक आदर्श पुरुषार्थ है। इस दिव्य रचना या कृति के लिए श्रद्धेय गुरुदेव को कृतज्ञतापूर्वक अनन्त कोटि प्रणाम।

–स्वामी रामदेव

।। ओ३म्।।

।। इदं नम ऋषिभ्य: पूर्वजेभ्य: पूर्वेभ्य: पथिकृद्भ्य:।।

भूमिका

आयुर्वेद एक बहुत ही महनीय शास्त्र है। जब मैं आयुर्वेद के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ तो मैंने पाया कि यह शास्त्र मात्र शारीरिक रोगों और उनकी चिकित्सा तक सीमित नहीं है, यह तो मानव-जीवन की समग्र परिपूर्णता का निदर्शक शास्त्र है। धर्म, अर्थ, काम- इस त्रिवर्ग की सिद्धि तो यह करा ही रहा है, मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' के लिए भी यहाँ कुछ कम संकेत नहीं मिलते। यह एक ज्ञानप्रधान शास्त्र है और ज्ञान का पर्यवसान तो क्रिया में ही होता है। यह शास्त्र मनुष्य की समझ (Understanding) को स्वस्थ बनाता है। इस शास्त्र का जोर इस बात पर है कि मनुष्य की ऋतुचर्या-दिनचर्या इस प्रकार की हो कि उसे कभी भी रोग का मुँह ही न देखना पड़ा। रोगी होने पर व्यक्ति कैसे रोगों से मुक्ति पाये, इसका भी विस्तृत एवं व्यापक वर्णन मिलता है।

जीवन को स्वस्थ व सुखी बनाने के लिए आयुर्वेद के अनुसार व्यक्ति को हितकर आहार-विहार एवं समुचित दिनचर्या व ऋतुचर्या को अपनाना चाहिए। स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए और परलोकैषणा हेतु आस्तिकबुद्धि से सत्कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। अतियोग, अयोग, एवं मिथ्यायोग को समझकर इनसे अपने को बचाना चाहिए और समयोग को अपनाना चाहिए। वात, पित्त एवं कफ को जानकर इन्हें सम रखने का उपाय करना चाहिए, सप्तधातुओं की विषमता के कारण को जानकर उन्हें सम रखने का भी उपाय करना चाहिए।

भूमिका

आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य- ये शरीर के तीन उपस्तम्भ बताए गए हैं। इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर इन्हें समुचित रूप में अपनाने से शरीर स्वस्थ रहता है। समय-समय पर संशोधन चिकित्सा का ग्रहण, किसी भी मल-मूत्र आदि के शारीर वेगों का धारण (अवरोध) न करना और काम, क्रोध आदि मानस वेगों का सदा धारण (नियन्त्रण) करते रहना, ज्ञान (अध्यात्म ज्ञान), विज्ञान (शास्त्रज्ञान), धैर्य (चित्त को उछलने न देना), स्मृति (अनुभूत अर्थ का स्मरण करते रहना), समाधि (मन को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाए रखना), ऋतु-परिवर्तन के समय विशेष सावधानी, अपनी प्रकृति का ज्ञान व तदनुसार आहार-विहार का ग्रहण इत्यादि स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक उपदेश हैं। इन विषयों पर यदि ध्यान दिया जाता है और प्रारब्ध बहुत प्रतिकूल नहीं है तो रोगी होने की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं।

आयुर्वेद में एक विशिष्ट प्रकरण है- 'अग्र्य प्रकरण'। इस प्रकरण में बहुत सारी चीजें गिनाई हैं, जिनमें कुछ तो गुणों में सबसे उत्तम हैं, कुछ दोषों में सबसे बढ़कर। जैसे **आयुर्वेदोऽमृतानाम्** अमृतों में जीवनप्रदान के हेतुओं में आयुर्वेद सर्वोत्तम है। **सर्वसंन्यासः सुखानाम्** सुख देने वालों में सर्वस्वत्याग (अहं भावना या ममभावना का त्याग) इत्यादि। ये जीवन को आनन्दमय बनाने वाले सूत्र हैं।

आयुर्वेद का एक विषय है 'विरुद्ध आहारों का बोध'। जैसे दूध के साथ सभी खट्टे फलों का तथा सममात्रा में घृत व मधु, गर्म पानी या गर्म दूध के साथ मधु, दूध के साथ ककड़ी, खीरा, खरबूजा इत्यादि का निषेध है। इनके एक साथ सेवन से बचना चाहिए; क्योंकि ये विरुद्ध आहार रोगकारक होते हैं।

भूमिका

चरक व अष्टांगहृदय के सूत्रस्थान में आयुर्वेद के प्राय: सभी प्रमुख सिद्धान्तों या विषयों का वर्णन उपलब्ध है। जैसे– कौन सा रस किस दोष को घटाता या बढ़ाता है, वैद्य और रोगी में कौन-कौन से गुण होने चाहिएं इत्यादि।

चिकित्सा के दो रूप संशोधन-संशमन, दिनचर्या-ऋतुचर्या, विरुद्ध आहारों का परिगणन, साध्य-असाध्य रोगी, पुनर्जन्म की सिद्धि, कर्मों का फल, स्वस्थवृत्त का पालन, आयुर्वेद का प्रयोजन, अष्टाङ्ग आयुर्वेद, शरीर एवं मानस दोनों प्रकार की व्याधियों का हेतु, काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थों का अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग और (सुखों का कारण) समयोग, आयुर्वेद की परिभाषा इत्यादि आयुर्वेद के उपयोगी विषयों का यहाँ समावेश किया गया है। चरकसंहिता के शारीरस्थान में उत्तम सन्तति का निर्माण, सात्त्विक-राजसिक-तामसिक पुरुषों का स्वभाव व उनके विविध कर्म वर्णित हैं, वहीं पर पञ्चम अध्याय में मोक्षविद्या का वर्णन है, जो है तो संक्षेप में किन्तु उसमें समस्त सार आ गया है, कुछ भी छूटा नहीं है।

हमने आयुर्वेद के अमृत के रूप में आयुर्वेद में रुचि रखने वाले अध्येताओं व जिज्ञासुओं के लिए चरक, सुश्रुत व अष्टाङ्गहृदय से विषय के अनुसार **'आयुर्वेदामृतम्'** पुस्तक में बहुत सारे महत्त्वपूर्ण विषयों का चयन किया है। इस वर्तमान युग में आयुर्वेद व जड़ी-बूटियों पर अतिविशिष्ट महनीय कार्य करने वाले आदरणीय **श्री आचार्य बालकृष्ण जी** द्वारा सम्पादित व व्याख्यात भोजनकुतूहलम्, सुषेण-निघण्टु इत्यादि बहुत सारे ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। उन ग्रन्थों से भी आवश्यक सामग्री का यहाँ संकलन किया गया है। जो लोग सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन नहीं कर सकते उनके लिए अवश्य ही यह पुस्तक बहुत उयोगी सिद्ध होगी, इसमें मुझे थोड़ा-सा भी संशय नहीं है।

भूमिका

इस पुस्तक को तैयार करने में हमारे वैदिक गुरुकुल के **श्री स्वामी परमार्थदेव जी** सहित अनेक ब्रह्मचारियों व संन्यासियों ने अपना-अपना योगदान दिया, तदर्थ उनके लिए शुभाशीः, उनका जीवन निरन्तर ऊर्ध्वारोहण करता रहे, जीवन में जो उनके लिए आवश्यक है, वह सब उन्हें प्राप्त हो। मेरे अत्यन्त प्रिय **प्रो. डॉ. विजयपाल जी प्रचेता** ने पुस्तक को अन्तिम रूप देने में इसे ध्यान से पढ़कर अनेक उपयुक्त सुझाव दिए। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि मैं तो मात्र रेखाएँ खींचता हूँ, वे उसमें रङ्ग भर देते हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि वह उन्हें अपने ज्ञान-बल-आनन्द व ऐश्वर्य से भरपूर कर दे। **श्री गोविन्द जी** एक निष्ठावान् और कुशल टंकणकर्ता हैं, उन्होंने भी इस कार्य में श्रद्धा से अपनी आहुति लगाकर इसे पूरा किया, उनके लिए भूरिशः आशीर्वाद।

'आयुर्वेदामृतम्' पुस्तक के द्वितीय संस्करण के परिशोधन में विवेकसम्पन्ना व सरलस्वभावा आचार्या **डा० सुरभि** (विश्ववारा कन्या गुरुकुल रुड़की, रोहतक) के महान् श्रम के लिए भूरिशः शुभाशीष। इसी कन्या गुरुकुल की **सुश्री सीमा, प्रिया एवं चेतना** आदि का सहयोग भी पुस्तक के संशोधन में सुलभ रहा। इसके साथ ही मेरे प्रिय उदारमना **डा० यशपाल जी यादव I.A.S.** तथा **डा० जितेन्द्र सिंह जी** (वरिष्ठ निदेशक, जिला सूचना विज्ञान केन्द्र, रोहतक) ने भी अपनी-अपनी आहुति देकर इस कार्य को पूर्ण करने में सहायता प्रदान की। अत्यन्त मेधाविनी व कुशल वैद्य **डा० सुजाता** के अनेक उपयोगी परामर्शों से इस संस्करण की उपादेयता में अभिवृद्धि हो गई है। **श्रीमान् श्रीकान्त** जी ने लग्न व श्रद्धापूर्वक पुस्तक को संशोधित व परिवर्द्धित रूप प्रदान किया है। इन सबकी सहज सुलभ आत्मीयता के लिए धन्यवाद देता हुआ ईश्वर से इनके सर्वविध मंगल की कामना करता हूँ।

पतञ्जलि योगपीठ एक ऐसी संस्था है जो अनेक क्षेत्रों में जीव-जगत् की सेवा कर रही है। इसके मूल में **श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज** व **आदरणीय आचार्य श्रीबालकृष्ण जी** इन दोनों ही महापुरुषों का अथक पुरुषार्थ, दूरदृष्टि, समय पर सही निर्णय लेने की क्षमता इत्यादि असाधारण योग्यता ही है। इन दोनों महात्माओं के तप-त्याग को देखकर मेरे जैसे कितने ही लोग अपनी-अपनी आहुतियाँ देने के लिए कटिबद्ध हैं। इन दोनों विभूतियों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

–आचार्य प्रद्युम्न

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

अध्याय-१

आयुर्वेद का अवतरण

दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्।। (च.सू. १.३)

दीर्घ आयुष्य के इच्छुक महातपस्वी ऋषि भरद्वाज देवराज इन्द्र को शरण्य (शरणागत का परम सहायक) जानकर उनकी शरण में गये।

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः।। (च.सू. १.४)
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्।। (च.सू. १.५)

क्योंकि ब्रह्माजी से प्रजापति ने आयुर्वेद का उपदेश ग्रहण किया था। प्रजापति से अश्वनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का उपदेश प्राप्त किया था इसलिए ऋषियों द्वारा प्रेरित भरद्वाज इन्द्र के पास गये।

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्।। (च.सू. १.६)
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे।। (च.सू. १.७)

जब तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य, व्रत आदि का आचरण करने वाले मनुष्यों में भी विघ्नकारक रोग प्रादुर्भूत हो गये, तब प्राणियों पर करुणावान् होकर पुण्यकर्मा महर्षिगण रोगशमन के विचार हेतु हिमालय की उपत्यका में एकत्र हुए।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। (च.सू. १.१५)
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।। (च.सू. १.१६)
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः।
अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा।। (च.सू. १.१७)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुर्विध पुरुषार्थ) की प्राप्ति में आरोग्य (शारीरिक स्वास्थ्य) परम साधन है। रोग उस आरोग्य एवं जीवन के कल्याण के घातक हैं। मनुष्यों के लिए यह एक साक्षात् महान् विघ्न प्रकट हो गया है। अत: उन रोगों के शमन का उपाय जानने के लिए महर्षिगण समाधिस्थ हो गये। तब उन्होंने अपने ज्ञानचक्षु से सर्वसमर्थ इन्द्र को अपने शरण्य स्वरूप में देखा, जो समस्त रोगों के शमन का उपाय बताने में समर्थ हैं। ऋषियों की सम्मति से भरद्वाज को इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान पाने हेतु नियुक्त किया गया।

त्रिसूत्रात्मक आयुर्वेद

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।। (च.सू. १.२४)
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः।
यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः।। (च.सू. १.२५)

इस त्रिसूत्रीय, नित्य एवं कल्याणप्रद आयुर्वेद को सर्वप्रथम ब्रह्मा ने जाना। इसके त्रिसूत्र या त्रिस्कन्ध हैं- (१) हेतुसूत्र- जिससे रोगों के कारणों का बोध होता है (२) लिङ्गसूत्र- जिससे रोगों के लक्षणों का बोध होता है (३) औषधसूत्र- जिससे रोगनिवारक औषध-द्रव्यों का ज्ञान होता है। यह त्रिसूत्रीय आयुर्वेद स्वस्थ[१] के स्वास्थ्य व आतुर (रोगी) के रोग-शमन में

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। (सु.सू १५.४१)

सहायक है। इस अनन्तफलदायक आयुर्वेद को महामति भरद्वाज ने देवेन्द्र से अल्प काल में यथावत् समझ लिया।

आयुर्वेद के षट् पदार्थ

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।। (च.सू. १.२८)
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्[1]।। (च.सू. १.२९)

उन महर्षियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से आयुर्वेद के षट् पदार्थ- १. सामान्य २. विशेष ३. गुण ४. द्रव्य ५. कर्म और ६.समवाय को जानकर आयुर्वेद में कथित विधि का आश्रय लेकर (पथ्य एवं अपथ्य के ज्ञान से) परम सुख तथा दीर्घ जीवन को प्राप्त किया।

ग्रन्थ-प्रणेता

बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः।
तन्त्रस्य कर्त्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्।। (च.सू. १.३२)

मुनि का उपदेश समान होते हुए भी शिष्यों की अलग-अलग बुद्धि में विशेषता होने से ‘आयुर्वेदशास्त्र’ के प्रथम प्रणेता अग्निवेश हुए।

अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः।
बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया।। (च.सू. १.३९)

तदनन्तर उन अग्निवेश आदि ऋषियों में बुद्धि, सिद्धि (साध्य और साधन का ज्ञान), स्मृति (प्रतिभानशक्ति), मेधा (ग्रन्थ को धारण करने की शक्ति), धृति (धैर्य), कीर्ति (विषयवस्तुज्ञानपूर्वक प्रवचन-सामर्थ्य), क्षमा (सहिष्णुता) और दया रूप ज्ञानदेवताओं का प्रवेश हुआ अर्थात् प्रस्फुरण हुआ।

---

१. अनित्वरम् अगत्वरम् इत्यर्थः।

आयु एवं आयुर्वेद

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं[१] च तच्च[२] यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। (च.सू. १.४१)

जिस शास्त्र में १.हित २.अहित ३.सुख ४. दुःख- इन चार प्रकार की आयु का उल्लेख हो, जिसमें हितकर या अहितकर आहार या आचार का उल्लेख हो, आयु का मान बतलाया गया हो अर्थात् किस प्रकृति का, किन लक्षणों वाला, किस प्रकार के रोग वाला तथा किस प्रकार की बुद्धि-मन-चेष्टा वाला, किस तरह के आचार-विचार वाला व्यक्ति अल्पायु या चिरायु होता है, इसका विवेचन उपलब्ध हो तथा आयु किसे कहते हैं? उसका स्वरूप क्या है? इन समस्त सन्दर्भों का जिस शास्त्र में युक्तियुक्त विशद वर्णन प्राप्त होता है, उसे 'आयुर्वेद'[३] कहते हैं।

आयु का लक्षण एवं पर्याय

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।। (च.सू. १.४२)

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संघात को आयु कहते हैं। आयु का बोध- धारि, जीवित, नित्यग और अनुबन्ध– इन पर्यायवाची शब्दों से भी होता है।

---

१. आयुषः प्रमाणं यत्रोक्तम्। (चक्रपाणिः)

२. तच्चायुःस्वरूपं यत्रोक्तम्। (चक्रपाणिः)

३. (क) आयुषो वेदः= आयुर्वेदः।
आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेनवाऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः। (सु.सू. १.१५)
(ख) १.आयुः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगः, तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः अथवा २.आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः ३.आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वा इत्यायुर्वेदः ४.आयुरनेन विन्दति प्राप्नोतीति वा आयुर्वेदः। 'विद् धातुः' सद्भावे ज्ञाने विचारणे प्राप्तौ च प्रयुज्यते। (सु.सू.१.१५ पर डल्हण)

आयुर्वेद का उभयलोकहितत्व

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।। (च.सू. १.४३)

आयुर्वेद आयु का परम पवित्र वेद (ज्ञानराशि) माना जाता है। **'चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिदपि शुश्रुम'** अर्थात् पीड़ितों की यथाविधि चिकित्सा करने से मनुष्य अपार पुण्य को प्राप्त करता है। यह मनुष्यों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस को सिद्ध करने में परम साधक है। इसलिए वेदविदों (आयुर्वेदज्ञों) में आयुर्वेदशास्त्र सर्वदा पूजनीय है।

सामान्य एवं विशेष

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य[1] तु।। (च.सू. १.४४)

सर्वदा समस्त भावों (द्रव्य-गुण-कर्म) की अभिवृद्धि का कारण 'सामान्य' होता है तथा समस्त भावों (द्रव्य-गुण-कर्म) के ह्रास का कारण 'विशेष' होता है। आयुर्वेदशास्त्र में इन दोनों सामान्य और विशेष की उपयोगिता है अर्थात् इन दोनों के द्वारा त्रिदोष[2], सप्तधातु[3] एवं मलों[4] की वृद्धि या ह्रास किया जाता है।

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः।।(च.सू. १.४५)

सामान्य अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म की समानता जिससे पदार्थों में परस्पर समत्व भाव उत्पन्न होता है तथा विशेष अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म की भिन्नता

१. उभयस्य सामान्यस्य विशेषस्य च प्रवृत्तिः प्रवर्तनं शरीरेणाभिसम्बन्ध इति यावत्। एवंभूता प्रवृत्तिः सामान्यविशेषयोर्वृद्धिह्रासे कारणमित्यर्थः।
२. शरीरदूषणाद् दोषाः। (शा.सं. ५.२४)
३. धातवो देहधारणात्। (शा.सं. ५.२४)
४. मलिनीकरणान्मलाः। (शा.सं. ५.२४)

जिससे पदार्थों में भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। पदार्थों का सामान्य धर्म उनकी समान जाति, प्रयोजन, गुण, धर्म की तुल्यार्थता को दर्शाता है तथा उनका विशेष धर्म पदार्थों की विपरीत गुण-धर्म-क्रिया का बोध कराता है।

आयुर्वेद में त्रिदण्ड

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।। (च.सू. १.४६)
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः।। (च.सू. १.४७)

मन, आत्मा और शरीर का समूह आयुर्वेद में 'त्रिदण्ड' के रूप में जाना जाता है अर्थात् ये तीन जीवन के आधारभूत स्तम्भ हैं। यह लोक (जीवात्मायुक्त पुरुष) इन्हीं तीनों के संयोग से स्थित है तथा इसी शरीरेन्द्रियमन में सब कुछ कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोह, सुख, दुःख आदि प्रतिष्ठित हैं[१]। यह पुमान् (सत्त्व-आत्म-शरीरसंयोग) जिसे चेतन भी कहा जाता है, इस आयुर्वेदशास्त्र का अधिकरण (आश्रय) है; क्योंकि इस पुरुष के प्रयोजन के लिए यह आयुर्वेदशास्त्र प्रकाशित है।

आयुर्वेद में नौ द्रव्य

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।। (च.सू. १.४८)

आयुर्वेदशास्त्र में नौ द्रव्यों को स्वीकार किया गया है- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल और दिशा। इन्हीं द्रव्यों को चेतन एवं अचेतन (जड़) भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है। इन्द्रियसहित द्रव्यों को चेतन एवं इन्द्रियरहित द्रव्यों को अचेतन (जड़) कहा जाता है।

---

१. अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।। (च.शा. १.३७)

आयुर्वेद में गुण एवं कर्म

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।। (च.सू. १.४९)

आयुर्वेदशास्त्र में ४१ गुणों को स्वीकार किया गया है। ५ इन्द्रिय- अर्थ[1] (अर्थात् इन्द्रियगोचर विषय- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) २० गुरु[2] आदि गुण (गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, मन्द, तीक्ष्ण, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र और द्रव), ६ बुद्धि आदि आध्यात्मिक गुण (बुद्धि, इच्छा, द्वेष,सुख, दुःख, प्रयत्न[3]) तथा १० परादि सामान्य गुण (परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास)- ये गुण कहे गये हैं। प्रयत्नपूर्वक चेष्टा (शरीर-क्रिया) को कर्म कहते हैं।

समवाय का लक्षण

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः।। (च.सू. १.५०)

नित्यसम्बन्ध (परस्पर अपृथग्भाव) को 'समवाय'[4] कहते हैं। वह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है। यथा-पृथ्वी का गन्ध, जल का शीतलता, अग्नि का उष्णता, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द के साथ जो नित्य सम्बन्ध है, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। द्रव्यों में गुण नियत रूप से रहते हैं अर्थात् गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं।

---

१. अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः। (च.शा. १.३१)
२. गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः।
गुणाः समूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः।। (अ.हृ.सू. १.१८)
३. इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नः। (च.शा. १.७२)
४. नित्यसम्बन्धः समवायः अयुतसिद्धवृत्तिः। (तर्कसंग्रहः)

द्रव्य एवं गुण का लक्षण

यत्राश्रिता: कर्मगुणा: कारणं समवायि यत्।
तद्द्रव्यं समवायी[1] तु निश्चेष्ट:[2] कारणं गुण:।। (च.सू. १.५१)

जिसमें कर्म और गुण आश्रित हों अर्थात् जो समवाय सम्बन्ध से गुण और कर्म का आश्रय हो और किसी (कार्यद्रव्य, गुण या कर्म) का समवायिकारण बनता हो, उसे 'द्रव्य'[3] कहते हैं। द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला (जैसे पट में रूप इत्यादि), चेष्टारहित (चेष्टाशून्य और चेष्टाव्यतिरिक्त) एवं किसी द्रव्य के ग्रहण में जो कारण बना हुआ धर्म है वह 'गुण'[4] कहलाता है। 'कारणम्' ऐसा कहकर अकारणरूप सामान्य, विशेष और समवाय से व्यावृत्ति की गई है।

कर्म व कार्य का लक्षण

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।। (च.सू. १.५२)
इत्युक्तं कारणं, कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते। (च.सू. १.५३)

जो संयोग तथा विभाग में स्वयं कारण बना हो किन्तु पूर्वदेशविभाग व उत्तरदेशसंयोग में पश्चात्कालभावी किसी कारणान्तर की अपेक्षा न करता हो (कर्म नान्यदपेक्षते), द्रव्य जिसका आश्रय हो (द्रव्यमाश्रितम्) तथा किसी कार्य की सम्पन्नता में जो चेष्टा (प्रयत्न) या क्रिया की जाती है प्रकृत में उसे ही 'कर्म'[5] कहते हैं न कि वमन, विरेचन अदृष्टादि को

---

१. समवायीति समवायाधेय: (समवायस्याधेय:)। (चक्रपाणि:)
२. निर्गतश्चेष्टाया: निश्चेष्ट:। चेष्टानिर्गत्या चेह चेष्टाशून्यत्वं तथा चेष्टाव्यतिरिक्तत्वं चोच्यते। (चक्रपाणि:)
३. समवायेन गुणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा द्रव्यत्वम्। (तर्कसंग्रह:)
४. अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणा:। (कारिकावली)
५. (क) कर्म वाङ्मन:शरीरप्रवृत्ति:। (च.सू. ११.३९)

(कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म)। इस प्रकार सभी कार्यों की उत्पति में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय के कारणत्व का विवरण पूरा हुआ। आयुर्वेदशास्त्र में धातुसाम्य (आरोग्य) को 'कार्य' कहा गया है।

तत्र चेत् प्रष्टारः स्युः-चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमु-पदिशन्त्यायुर्वेदविदः? किमायुः? कस्मादायुर्वेदः? किमर्थमायुर्वेदः? शाश्वतोऽशाश्वतो वा? कति कानि चास्याङ्गानि? कैश्चायमध्येतव्यः? किमर्थं च? इति।। (च.सू. ३०.२०)

जब प्रश्न पूछने वाले ऐसा पूछें कि आयुर्वेदज्ञ जन- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद- इन चारों वेदों में से किसे आयुर्वेद (आयुर्विज्ञान का आधारभूत वेद) कहते हैं? आयु क्या है? आयुर्वेदशास्त्र का कारण क्या है? आयुर्वेद किसलिए है? यह शाश्वत (नित्य) है अथवा अनित्य है? आयुर्वेद के कितने भेद हैं तथा कौन-कौन से अङ्ग हैं? आयुर्वेद पढ़ने के अधिकारी कौन हैं और किसलिए आयुर्वेद पढ़ें?

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्म-नोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या, वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययनबलि-मङ्गलहोमनियम-प्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह; चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते।। (च.सू. ३०.२१)

ऐसा पूछे जाने पर वैद्य को ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद- इन चारों वेदों में से अथर्ववेद में अपनी अनुरक्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि इन वेदों में अथर्ववेद ही दान, कल्याण, बलि, मङ्गल, हवन, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास (लङ्घन) तथा मन्त्रों के परिग्रह द्वारा चिकित्सा को कहता है और चिकित्सा आयु के हितार्थ ही बताई जाती है।

(ख) वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्चकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः।। (शा. सं. ८.७०)

तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः।।
(च.सू. ३०.२२)

यहाँ पर आयु, चेतना का अनुवर्तन, जीवित, अनुबन्ध तथा धारि ये एक ही अर्थ को बताने वाले शब्द हैं।

तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः।। (च.सू. ३०.२३)

यह आयु का ज्ञान कराता है, इसलिए इसे आयुर्वेद कहते हैं।

सुख-असुख व हिताहित आयु

तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्ययशःपौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदये वर्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारिणः सुखमायुरुच्यते; असुखमतो विपर्ययेण। (च.सू. ३०.२४)

सुख आयु तथा असुख आयु के लक्षण कहते हैं- शारीरिक तथा मानसिक रोगों से सदा अनाक्रान्त (मुक्त) रहने वाले, प्रमुखरूप से युवावस्था वाले, सामर्थ्यानुरूप बल, वीर्य, यश, पौरुष व पराक्रम वाले और ज्ञान, विज्ञान, इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय इन सभी के बलसमुदाय से सम्पन्न, अत्यधिक सम्पत्ति के द्वारा रुचिर विविध भोगों का उपभोग करने वाले, सभी कार्यों को सिद्ध कर लेने वाले, बन्धनरहित होकर स्वतन्त्र विचरण करने वाले पुरूष की आयु को 'सुख-आयु' कहते हैं, इसके विपरीत 'असुख-आयु' कहलाती है।

हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियत-

रागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशम-नित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते; अहितमतो विपर्ययेण।।(च.सू. ३०.२४)

हित एवं अहित आयु के लक्षण- सभी प्राणियों के हितैषी, परधन की इच्छा न करने वाले, सत्यभाषी, मन के निग्रह में तत्पर, परीक्षा के पश्चात् कार्य करने वाले, अप्रमादी, त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का परस्पर अबाधित रूप से सेवन करने वाले, पूजनीयजनों की पूजा (सम्मान) करने वाले, ज्ञान-विज्ञानशील, शान्तिशील, वृद्धोपसेवी, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मद, मान आदि वेगों को सुनियन्त्रण में रखने वाले, सतत विविध वस्तुओं के दान देने में तत्पर, नित्य तप, ज्ञान, शान्ति से युक्त, अध्यात्म का ज्ञान रखने वाले व उसका आचरण करने वाले, इस लोक और परलोक का चिन्तन करने वाले तथा स्मरण शक्ति व प्रतिभा से सम्पन्न पुरुष की आयु 'हित-आयु' है, इसके विपरीत 'अहित-आयु' कही जाती है।

प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुप-लभ्यतेऽनिमित्तैः, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्ताद् दिवसात् त्रिपञ्चसप्तदश-द्वादशाहात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद् वा स्वभावमापत्स्यत इति।। (च.सू. ३०.२५)

अर्थ (इन्द्रिय-विषय), मन, बुद्धि एवं चेष्टा आदि में अकारण विकृतरूप संकेतों से आयु का प्रमाण देखते हैं, जैसे- यह प्राणी इस क्षण, इस मुहूर्त, एक दिन, तीन, पाँच, सात, दस, बारह दिन में अथवा एक पक्ष, एक मास, छः मास या वर्ष भर में स्वभाव[१] (मरण) को प्राप्त हो जायेगा।

---

१. तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः।

(च.सू.३०.२५चक्रपाणिः)

आयुर्वेद का प्रयोजन

प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।। (च.सू. ३०.२६)

इस आयुर्वेदशास्त्र के मुख्य प्रयोजन हैं– स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण तथा रोगी पुरुष के रोगों का शमन करना।

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।। (च.सू. १.५३)

शरीर को धारण करने वाली रस-रक्तादि सप्तधातुओं में समता स्थापित करना आयुर्वेदशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

आयु: कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेय: परमादर:।। (अ.हृ.सू. १.२)

धर्म (मनुष्य के नैतिक-कर्म), अर्थ (यश, कीर्ति, धन, वैभव आदि) एवं सुख (दैहिक एवं नि:श्रेयस सुख) के साधन-स्वरूप आयु (जीवन) की कामना करने वाले व्यक्ति को आयुर्वेद के उपदेशों में पूर्ण आदर रखना चाहिए।

वत्स सुश्रुत! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्ष: स्वस्थस्य रक्षणञ्च।। (सु.सू. १.२२)

हे सुश्रुत! व्याधिग्रस्त मनुष्यों की व्याधियों को दूर करना तथा स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है।

आयुर्वेद की शाश्वतता

सोऽयमायुर्वेद: शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत् कदाचिदायुष: सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदु:खं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्। एष चार्थसङ्ग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति।।

गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ, यथोक्तं- गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनां, एवमेवेतरेषामिति, एष भावस्वभावो नित्यः, स्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनां; सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः।

न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशभ्याम्; एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके। स्वाभाविकं चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिहाद्येऽध्याये च। यथा- अग्नेरौष्ण्यम्, अपां द्रवत्वम्। भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य, यथोक्तं- गुरुभिरभ्यस्य-मानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामिति। (च.सू. ३०.२७)

अनादि होने से, सर्वदा संसिद्ध = सन्तानन्याय से सिद्ध लक्षण वाला होने से तथा भाव पदार्थों के वृद्धिह्रासरूप स्वभाव के नित्य होने से यह आयुर्वेद शास्त्र नित्य कहा जाता है। आयु का संतान=प्रवाह अथवा बुद्धि का संतान=प्रवाह कभी न हुआ हो ऐसा नहीं है अर्थात् आयुयुक्त प्राणियों के अनुच्छेद से आयु और बुद्धि का संतान भी अनादि काल से ही है। आयुर्वेद का जानने वाला भी नित्य है तथा द्रव्य=व्याधिकारण एवं हेतु= व्याधि के प्रशमहेतु रूप लक्षण वाले सुख (आरोग्य), दुःख (व्याधि) भी अपरापर योग =प्रवाह से अनादि हैं। इस प्रकार यह अर्थसंग्रह= अभिधेयसंग्रह (आयु, बुद्धि, वेदिता, सुख-दुःखादि) आयुर्वेद का लक्षण है, ऐसा माना जाता है।

गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि द्रव्यों का सामान्य तथा विशेष के द्वारा वृद्धि तथा ह्रास होता है। जैसा कि कहा भी है - गुरु द्रव्यों के अभ्यास (सेवन) से शरीरस्थ गुरु धातुओं (रस, मांस, मज्जा, मेद, शुक्र) का उपचय होता है और लघु धातुओं (रक्त, अस्थि) का अपचय होता है। ऐसे ही लघु (सुपाच्य) द्रव्यों के सेवन से शरीरस्थ लघु धातुओं का उपचय और गुरु धातुओं का अपचय होता है। इस प्रकार भाव पदार्थों

का यह (वृद्धि-ह्रासरूप) स्वभाव नित्य है अर्थात् सामान्य और विशेष के द्वारा यह वृद्धि और ह्रासरूप भावस्वभाव कभी अन्यथा नहीं होता। पृथ्वी आदि द्रव्यों के स्वलक्षण (खरत्वद्रवत्वादि) भी नित्य हैं क्योंकि द्रव्य और गुण नित्य (आकाशादि, परिमाणादि) तथा अनित्य (पृथिव्यादि कार्य-द्रव्य तथा कार्यगुण रसादि) दोनों प्रकार के हैं। अनित्य द्रव्य और गुण भी सजातीय अपरापरसतानन्याय से सदा रहते हैं इसलिए अनित्यों का भी संताननित्यत्व होता है। यहाँ भावस्वभावनित्यत्व के द्वारा तत्प्रतिपादक आयुर्वेद का भी नित्यत्व सिद्ध होता है।

अवबोध (ज्ञान) और उपदेश के अतिरिक्त पूर्वत: अविद्यमान आयुर्वेद की उत्पत्ति नहीं होती। इन दोनों (अवबोध और उपदेश) को अधिकृत करके कुछ लोग आयुर्वेदशास्त्र की उत्पत्ति कहते हैं। जहाँ-जहाँ आयुर्वेद की उत्पत्ति कही गई है वह अवबोध से (यथा-ब्रह्मा से) तथा उपदेश से (यथा इन्द्र से उपदेश प्राप्त कर भरद्वाज ऋषि ने पृथ्वीलोक में आयुर्वेद उत्पन्न किया) ही होती है। इस आयुर्वेद के लक्षण स्वाभाविक हैं न कि कृत्रिम, यह चरक के प्रथम अध्याय में 'हिताहितं सुखं दु:खम्' इत्यादि वाक्यों से कहा जा चुका है। जैसे- अग्नि की उष्णता तथा जल की द्रवता अकृतक होने से अनादि है वैसे ही भावस्वाभाव नित्यता भी है। और कहा भी गया है-गुरु द्रव्यों के निरन्तर सेवन से गुरु धातुओं की वृद्धि तथा लघु धातुओं में कमी आती है।

आयुर्वेद के आठ अङ्ग

तस्यायुर्वेदस्याङ्गान्यष्टौ; तद्यथा- कायचिकित्सा, शालाक्यं, शल्यापहर्तृकं, विष[1]गर[2]वैरोधिकप्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनं, वाजीकरणमिति। (च.सू. ३०.२८)

१. तत्कालप्रभावि विषम्। (चक्रपाणि:)
२. गर: कालान्तरप्रकोपि विषम्। (चक्रपाणि:)

आयुर्वेद के आठ अंग हैं- कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्यापहर्तृक (शल्यशास्त्र), विषगरवैरोधिकप्रशमन (अगदतन्त्र), भूतविद्या, कौमारभृत्य (बाल चिकित्सा), रसायन (वयः स्थापन) और वाजीकरण।

कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गशल्यदंष्ट्राजरावृषान्।।
अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता। (अ.हृ.सू. १.५)

आत्रेय, पुनर्वसु आदि महर्षियों द्वारा आयुर्वेद के आठ अङ्ग यथा- कायचिकित्सा, कौमारभृत्य, भूतविद्या, शालाक्यतन्त्र, शल्यतन्त्र, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र एवं वाजीकरणतन्त्र कहे गये हैं, जिनमें सम्पूर्ण आयुर्वेद चिकित्सा का समावेश हो जाता है।

रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरण-समर्थञ्च।। (सु.सू. १.१५)

युवावस्था को दीर्घकाल तक बनाये रखने वाले, आयु-मेधा और बल को बढ़ाने वाले तथा रोगप्रतिरोधक-सामर्थ्य की वृद्धि करने वाले उपायों का वर्णन करने वाला आयुर्वेद का 'रसायनतन्त्र' नामक अङ्ग है।

आयुर्वेद शास्त्र पढ़ने के अधिकारी

सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः (अध्येतव्यः)।

यह आयुर्वेदशास्त्र सामान्य रूप से धर्म, अर्थ व काम की सम्यक् सिद्धि के लिए सभी को पढ़ना चाहिए।

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्।। (च.सू. ३०.८४)
इदमेवमुदारार्थम[1]ज्ञानां न प्रकाशकम्।
शास्त्रं, दृष्टिप्रणष्टानां यथैवादित्यमण्डलम्।। (च.सू. ३०.८५)

---

१. लोकद्वयहितार्थाभिधायकम्। (चक्रपाणिः)

समस्त शारीरिक तथा मानसिक (रोगादि) दु:ख अज्ञानता (मूर्खता) के अधीन हैं अर्थात् समस्त रोगादि दु:खों का कारण मूर्खता ही है तथा समस्त सुखों का आश्रय विमल विज्ञान (विशुद्ध ज्ञान) है। विमल विज्ञान से मोक्ष अर्थात् सभी दु:खों की निवृत्ति होती है, यही समग्र सुख है। यद्यपि यह आयुर्वेदशास्त्र उदार प्रयोजन (इह लोक तथा परलोक के हितार्थ) वाला है तो भी जिनके पास विवेक बुद्धि नहीं है ऐसे अज्ञानियों को प्रकाशित करने वाला नहीं है, जिस प्रकार आदित्यमण्डल नेत्रहीन पुरुषों का प्रकाशक कभी भी नहीं हो सकता।

रोग-निदान

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। (च.नि. १.५)

व्याधि, आमय, गद, आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार तथा रोग- ये समानार्थक हैं।

तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितः। (च.नि. १.६)

अब रोगों की उपलब्धि निदान[१], पूर्वरूप, रूप[२](लिङ्ग), उपशय और सम्प्राप्ति से होती है (ऐसा ज्ञान कराया जायेगा)।

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे। (च.नि. १.७)

रोग के कारण को 'निदान' कहते हैं।

पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः। (च.नि. १.८)

व्याधि की उत्पत्ति के पूर्व जो लक्षण दिखते हैं वे 'पूर्वरूप' होते हैं।[३]

१. निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तिरिति निदानपञ्चकम्।
२. उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम् (मा.नि.मधुकोष १.६)।
३. भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्। (मा.नि.मधुकोष १.६)

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम्। (च.नि. १.९)

रोगों से उत्पन्न इन लक्षणों को ही 'लिङ्ग' कहा जाता है। यहाँ लिङ्ग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यञ्जन, रूप आदि शब्द एक ही अर्थ को कहने वाले हैं।

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः। (च.नि. १.१०)

उपशय[१] का लक्षण करते हैं- हेतु से विपरीत, व्याधि से विपरीत, हेतु -व्याधि दोनों से विपरीत तथा हेतुविपरीतार्थकारी व व्याधिविपरीतार्थकारी एवं हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध, आहार व विहार का उपयोग सुखकारी है, वही 'उपशय' है।

सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः। (च.नि. १.११)

सम्प्राप्ति[२] (रोग का जन्म), जाति और आगति- ये सभी व्याधि के समानार्थक शब्द हैं।

सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते।
(च.नि. १.११.१)

वह सम्प्राप्ति संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प, बल एवं काल-विशेष के द्वारा विभाजित की जाती है।

---

१. उपशयः- हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्।।
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः।। (अ.हृ.नि. १.६-७)

२. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः।। (अ.हृ.नि.- १.८)

संख्या तावद्यथा- अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः। (च.नि. १.११.२)

संख्या के उदाहरण हैं- आठ ज्वर, पाँच गुल्म, सात कुष्ठ आदि।

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते। तत्र द्वयोस्तरः, त्रिषु तम इति। (च.नि. १.११.३)

दोषों का प्राधान्य तरप्, तमप् प्रत्ययों से जाना जाता है। इनमें दो (दोषों) में तो तरप् किया है एवं तीन (दोषों) में तमप् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। जैसे- वृद्धतर, वृद्धतम।

विधिर्नाम- द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रि-दोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन। (च.नि. १.११.४)

निज तथा आगन्तु के भेद से व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं। वात-पित्त-कफ के भेद से तीन प्रकार की होती हैं तथा साध्य, असाध्य, मृदु व दारुण भेद से व्याधियाँ चार प्रकार की होती हैं।

समवेतानां[1] पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पो विकल्पोऽस्मिन्नर्थे। (च.नि. १.११.५)

रोग में सम्बद्ध वात-पित्त-कफ दोषों की उत्कर्ष-अपकर्ष रूप अंशांशकल्पना 'विकल्पसम्प्राप्ति' कहलाती है। वात, पित्त, कफ के रूक्षता, स्निग्धता व गुरुता आदि धर्म 'अंश' हैं। इन दोषों की वृद्धि या ह्रास होने पर उनके रूक्षतादि अंशों में वृद्धि या ह्रास होता है, यह वृद्धि-ह्रास सभी अंशों में समान रूप से नहीं होता है, जैसे कि वात के प्रकुपित होने पर

१. समवेतानां सर्वेषां, तेन एकशो द्विशो मिलितानां च दोषाणां ग्रहणम्; अंशम् अंशम् प्रति बलम् अंशांशबलं तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोंऽशांशबलविकल्पः; एवम्भूतो दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थेऽस्मिन्प्रकरणे विकल्प उच्यते, प्रकरणान्तरे तु विकल्पशब्देन भेदमात्रमुच्यते।। (चक्रपाणिः)

कहीं उसके रूक्षांश, कहीं शीतांश तो कहीं लघ्वंश में वृद्धि या ह्रास होता है, इसी प्रकार पित्त व कफ में भी अंशांशबलविकल्प समझना चाहिए।

बलकालविशेषः[१] **पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिविनियतो भवति।** (च.नि. १.१२)

ऋतु, अहोरात्र और आहारकाल के भेद से व्याधियों का बलकाल विशेष सुनिश्चित होता है। कोई व्याधि किस काल-विशेष में बल या तीव्रता को प्राप्त करती है, उस काल के आधार पर व्याधि की विशेषता का ज्ञान किया जा सकता है। जैसे यदि कोई व्याधि पूर्वाह्न में बलसम्प्राप्ति कर रही है तो यह उस व्याधि की कफजन्यता को प्रकट करता है। इसी प्रकार रात्रि के प्रारम्भ में बलसम्प्राप्ति भी कफजन्यता को लक्षित करती है। मध्याह्न में होने वाली बलसम्प्राप्ति से व्याधि की पित्तजन्यता का अनुमान होता है।

ऋतु-विशेष में बलसम्प्राप्ति से भी व्याधि की विशेषता जान सकते हैं, जैसे- वसन्त ऋतु में होने वाले ज्वर श्लेष्मजन्यता को लक्षित करते हैं। इसी प्रकार भुक्तमात्रकाल में बलसम्प्राप्ति से श्लेष्मज्वर आदि आहार-नियत बलकाल-विशेष को जानना चाहिए।

तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुद्ध्येत। (च.नि. १.१३)

इस प्रकार से अविकृत, निर्मल बुद्धि वाले भिषक् को हेतु आदि के माध्यम से रोगों को उचित प्रकार से समझना चाहिए।

---

१. बलकालविशेषः ऋतवो वसन्तादयः अहोरात्र आहारश्च तेषां कालविधिना विनियतोऽवधारितो भवति। यस्य दोषस्य यो बलकालविशेषः ऋत्वादिभिरवधार्यते तद्दोषजन्यव्याधेरपि तैर्ऋत्वादिभिर्बलकालविशेषोऽवधार्यते। (गङ्गाधरः)

सात त्रिक

अथ खलु त्रय उपस्तम्भा[१]:,त्रिविधं बलम्, त्रीण्यायतनानि, त्रयो रोगाः, त्रयो रोगमार्गाः, त्रिविधा भिषजः, त्रिविधमौषधमिति।।

(च.सू. ११.३४)

अब इस अध्याय में सप्त त्रिकों का वर्णन किया गया है। तीन उपस्तम्भ, त्रिविध बल, तीन रोगों के आयतन, तीन प्रकार के रोग, तीन रोगों के मार्ग, तीन प्रकार के वैद्य, तीन प्रकार के औषध-इस अध्याय में इनका विस्तार से विवेचन किया है।

तीन उपस्तम्भ

त्रय उपस्तम्भा इति- आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभि- र्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुसंस्कारात् संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य।।

(च.सू. ११.३५)

इन सात त्रिकों में सर्वप्रथम आयुर्वेद के तीन उपस्तम्भों का वर्णन किया जाता है, वे हैं-आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन तीनों उपस्तम्भों का युक्तियुक्त सेवन करने से शरीर स्थिरता को प्राप्त होता है और उसमें बल, वर्ण, मांस आदि सप्तधातुओं की वृद्धि होती है। ऐसे वृद्धिजनक संस्कारों द्वारा उसका शरीर आजीवन स्वस्थ और समृद्ध रहता है यदि वह अपथ्य का सेवन न करे।

त्रिविध बल

त्रिविधं बलमिति- सहजं कालजं युक्तिकृतं च। सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतं, कालकृतमृतुविभागजं वयःकृतं च, युक्तिकृतं पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम्।। (च.सू. ११.३६)

---

१. मूलभूतशरीरधारकाः। (चक्रपाणिः)

सहज, कालज और युक्तिकृत-ये तीन प्रकार के बल आयुर्वेद में वर्णित हैं। जो शरीर और मन का स्वाभाविक बल है वह सहज बल की कोटि में आता है। मानस बल को ही दूसरे शब्दों में उत्साह कहा जाता है। जिन माता-पिता से शरीर का जन्म हुआ है, उन माता-पिता के सदृश मनोबल और शारीरिक बल को यहाँ सहज बल माना गया है। छः ऋतुओं के विभागों द्वारा (अर्थात् विसर्गकाल और आदानकाल के क्रमशः आदि-अन्त में दुर्बलता, तथा मध्य में मध्य बल और अन्त-आदि में श्रेष्ठबल) और आयु (बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था) के अनुसार जो बल होता है, उसे कालज अथवा कालजनित बल कहते हैं। घृत-दूध आदि पौष्टिक आहार, उत्तम चेष्टाओं तथा रसायन या वाजीकरण योगों से जो बल प्राप्त किया जाता है, वह युक्तिकृत बल कहलाता है।

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः। तत्त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन; सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसं, मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। तत्रावरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेणैव प्रवरमुपपादयेत् सात्म्यम्। सर्वरसमपि च सात्म्यमुपपन्नः प्रकृत्याद्युपयोक्त्रष्टमानि सर्वाण्याहार-विधिविशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुध्येत।। (च.वि. १.२०)

अपने लिये अर्थात् शरीर के लिये जो (आहार-विहार) उपशय (अनुकूल) है, वह **सात्म्य** कहलाता है। सात्म्य उपशय का अभिधेयार्थ है। प्रवर, अवर तथा मध्य विभाग से सात्म्य तीन प्रकार का है। एक-एक रस के प्रयोग से छः तथा सभी रसों के प्रयोग से (एक), इस प्रकार कुल सात प्रकार के (सात्म्य) होते हैं। उसमें सभी रसों का प्रयोग 'प्रवर सात्म्य', एक रस का प्रयोग 'अवर सात्म्य' तथा प्रवर व अवर के मध्य में 'मध्य सात्म्य' होता है। उनमें अवर तथा मध्यम सात्म्य के द्वारा क्रमशः

प्रवरसात्म्य को उपपादित (प्राप्त) करना चाहिए। सर्वरस सात्म्य वाले पुरुषों को अग्रलिखित प्रकृति आदि आठ आहारविधिविशेषायतनों का विचार करके हितकर का ग्रहण करना चाहिए।

आहारविधिविशेषायतन

तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा- प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)।

(च.वि. १.२१)

उनमें आहारविधिविशेषायतन आठ हैं- प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था एवं उपयोक्ता।

तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः, स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः; तद्यथा- माषमुद्गयोः।।(१)

(च.वि. १.२१)

यहाँ जो स्वभाव है उसे (ही) **प्रकृति** कहते हैं। वह (स्वभाव) आहार तथा औषधद्रव्यों में स्वभाविकरूप से रहने वाला गुरु आदि गुणों का योग है, यथा- उड़द की दाल स्वभावतः गुरु तथा मूँग की दाल स्वभावतः लघु होती है।

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकाल- लवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते।। (२)

(च.वि. १.२१)

स्वाभाविक गुणों वाले द्रव्यों को संस्कारित करना **करण** कहलाता है। द्रव्यों में दूसरे गुणों को निष्पन्न करना 'संस्कार' कहा जाता है। उन गुणों का आधान जल, अग्निसन्निकर्ष (अग्निसंयोग), शौच[१],

१. तोयाग्निसन्निकर्षशौचैस्तण्डुलस्थं गौरवमुपहत्य लाघवमन्ने क्रियते।

मन्थन, देश, काल, वासन (सुगन्धित करना), भावना आदि के द्वारा तथा कालप्रकर्ष, जैसे पुराना अन्न एवं भाजन (पात्र/बर्तन) आदि के द्वारा किया जाता है।

संयोग: पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभाव:, स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते; तद्यथा- मधुसर्पिषो:, मधुमत्स्यपयसां च संयोग:। (३) (च.वि. १.२१)

दो या दो से अधिक द्रव्यों के मेल को **संयोग** कहते हैं। द्रव्यों का यह संयोग ऐसे विशेष कार्य को आरम्भ करता है, जिस को संघात में स्थित द्रव्य पृथक्-पृथक् रहने पर आरंभ नहीं कर पाते हैं। जैसे- मधु तथा घृत का संयोग। दोनों हि अमारक अर्थात् हितकर पदार्थ हैं, परन्तु दोनों द्रव्यों का समान मात्रा में संयोग विषतुल्य मारक हो जाता है। इसी प्रकार मधु, मत्स्य एवं दूध का संयोग भी रोगजनक व मारक ही है।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थ:। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रह:, परिग्रह: पुन: प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रह: सर्वग्रह:, सर्वतश्च ग्रह: परिग्रह उच्यते।। (४) (च.वि. १.२१)

मात्रा तथा अमात्रा के फल का निश्चय करने के लिए राशि[1] (प्रमाण) है, जो सर्वग्रह और परिग्रह के रूप में है। अन्न, दाल, शाक, दही आदि सम्पूर्ण आहार के प्रमाण को एक साथ निश्चित माप में ग्रहण करना 'सर्वग्रह' है और इनमें से एक कुडव अन्न, एक पल सूप, एक पल शाक आदि के रूप में अलग-अलग माप कर ग्रहण करना 'परिग्रह' है।

तदुक्तम् -सुधौत: प्रस्रुत: स्विन्न: संतप्तश्चौदनो लघु:। (चक्रपाणि: सू०अ० २१)

१. राशि: प्रमाणम्। (आयुर्वेददीपिका)

देशः पुनः स्थानं; स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे।। (५) (च.वि. १.२१)

स्थान[१] को **देश** कहते हैं और वह द्रव्यों की उत्पत्ति, प्रचार[२] तथा देशसात्म्य[३] को बतलाता है।

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च; तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः।। (६)(च.वि. १.२१)

नित्यग तथा आवस्थिक भेद से **काल** दो प्रकार का होता है। इनमें आवस्थिक (अवस्था विशेष से संबंधित) काल-विकार (श्लेष्मविकार ज्वरादि) की अपेक्षा करता है (अर्थात् रोगी के बाल्य, युवत्व, वृद्धत्व, सबलता, निर्बलता आदि अवस्था-भेद से युक्त रुग्णता के हेतु से आहार-नियम की अपेक्षा) तथा नित्यग काल तो ऋतुसात्म्य की अपेक्षा करता है।

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः; स जीर्णलक्षणापेक्षः।। (७) (च.वि. १.२१)

उपयोगसंस्था तो उपयोग नियम ही है। वह जीर्ण (पाचन) के लक्षणों की अपेक्षा करता है।

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते, यदायत्तमोकसात्म्यम्। इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि व्याख्यातानि भवन्ति।(च.वि. १.२२)

---

१. स्थानग्रहणेनाहारद्रव्यस्य तथा भोक्तुश्च स्थानं दर्शयति। (चक्रपाणिः)

२. प्रचारेण लघुभक्ष्याणां प्राणिनां तथा धन्वप्रचारिणां बहुक्रियाणां च लाघवं विपर्यये च गौरवं गृह्यते। यथा-एकस्मिन् स्थाने बद्धानां गवामथ च चङ्क्रम्यमाणानां गवां दुग्धे गौरवं लाघवं वा भवति।

३. देशसात्म्येन देशविपरीतगुणं सात्म्यं गृह्यते; यथा- आनूपे उष्णरूक्षादि, धन्वनि च शीतस्निग्धादि।

आहार का उपयोग करने वाले को **उपयोक्ता** कहते हैं। आहार ग्रहण करने वाला जब पथ्यापथ्यरूप विशिष्ट आहार को अभ्यास से अपने अधीन कर लेता है अर्थात् अपने अनुकूल बना लेता है उसे 'ओकसात्म्य' कहते हैं। उपयोक्ता के अधीन ओकसात्म्य[१] है। इस प्रकार यहाँ तक आठ प्रकार के आहार विधि-विशेषायतनों की व्याख्या की गई है।

एषां विशेषाः शुभाशुभफलाः परस्परोपकारका भवन्ति; तान् बुभुत्सेत, बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात्; न च मोहात् प्रमादाद्वा प्रियमहितमसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद्वा किञ्चित्।

(च.वि. १.२३)

इन अष्टविध आहारविधि-विशेषायतनों के भेद शुभ व अशुभ फल देने वाले, परस्पर एक दूसरे के लिये हितकारी होते हैं, इसलिये इनको जानने की इच्छा करनी चाहिए तथा जानकारी होने के पश्चात् हितकर आहार की ही कामना करनी चाहिए। अज्ञानवश अथवा प्रमादवश प्रिय किन्तु अहितकर एवं भविष्य में कष्टप्रदायक किसी भी आहार का सेवन थोड़ा-सा भी न करें।

देश-भेद एवं काल-भेद

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा।
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमानूपं तु कफोल्बणम्।। (अ.हृ.सू. १.२३)
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्।
क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भेषजयोगकृत्।। (अ.हृ.सू. १.२४)

आयुर्वेद में देश दो प्रकार के कहे गये हैं - १. भू-देश एवं २. देह-देश। भू-देश पुनः तीन प्रकार का कहा गया है- १. जाङ्गल-देश (वातदोष-प्रधान), २. आनूप-देश (कफदोष-प्रधान) तथा ३. साधारण-देश

१. उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं तदुच्यते।। (च.सू. ६.४९)

(समदोष वाला)। इसी प्रकार औषधप्रयोग हेतु काल भी दो प्रकार का कहा गया है- १. क्षणादि (मुहूर्त, प्रहर, प्रातःकाल, सांयकाल, रात, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं संवत्सर आदि। जैसे- पूर्वाह्ने वमनं देयं मध्याह्ने तु विरेचनम्।) एवं २. रोगावस्था (आमावस्था, पच्यमानावस्था, पक्वावस्था, नवीन व पुराना, तीक्ष्ण एवं मृदु आदि। जैसे- ज्वरे पेयः कषायश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्। त्र्यहं वा षडहं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्।।)। वैद्य को इन दो कालों के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिए।

जन्म-विषय

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः।। (सु.शा. २.४९)

जिस प्रकार के आहार, आचार और चेष्टाओं से युक्त होकर स्त्री-पुरुष समागम करते हैं, उनका पुत्र भी उसी प्रकार का होता है।

विशेष- सम्भोग के समय कायिक, वाचिक और मानसिक भावों का परिणाम सन्तान के ऊपर पड़ता है। यदि वे शुभ हैं तो सन्तान अच्छी होती है। उनमें भिन्नता होगी तो सन्तान में भी दोषों का उद्रेक होगा।

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुरा कृतैः।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात्।। (सु.शा. २.५५)

माता-पिता के नास्तिक्य से, पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों से तथा वातादि के प्रकुपित होने से गर्भ विकृत होता है।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः।। (सु.शा. २.६०)

पूर्वजन्मों में निरन्तर शास्त्राभ्यास करने वाले, ज्ञान-विज्ञान से परिशुद्ध मनुष्य सत्त्वगुणोपेत तथा पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले होते हैं।

विशेष- शास्त्रों के अभ्यास से बुद्धि में सत्त्वगुण का आधिक्य हो जाता है, जिससे रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं। इससे अगले जन्म में पूर्व जन्म का स्मरण हो आता है।

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्।। (सु.शा. २.६१)

जो व्यक्ति जिस कर्म से प्रेरित हुआ है, वह पुनर्जन्म में उसी कर्म के संस्कार को प्राप्त करता है। पूर्वजन्म में अभ्यस्त गुण ही उसे इस जन्म में प्राप्त होते हैं।

देवता ब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्।। (सु.शा. ३.३३)

दिव्यगुणयुक्त, ब्राह्मणों की सेवा में निरत, पवित्र एवं हितकारी आचरण में रत माता-पिता महागुणी सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाले माता-पिता निर्गुण सन्तानों को जन्म देते हैं।

आयुवर्धक तत्त्व

आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम्।। (सु.चि. २८.२८)

पूर्व आहार के पच जाने पर भोजन करना, मल-मूत्रादि के वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य पालन, अहिंसा-पालन, साहस (अविचारित-कार्य) का त्याग आदि आयु को बढ़ाने वाले होते हैं।

आयुर्वेदज्ञ की परिभाषा

तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः। तत्राह- कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चोक्तानि भवन्तीति।

(च.सू. ३०.१६)

जो इस तन्त्र (शास्त्र), स्थानों, अध्यायों तथा प्रश्नों के भिन्न-भिन्न वाक्यों, उनके अर्थों तथा अर्थावयवों के अनुसार प्रवचन करने में सक्षम हों, उन्हें ही आयुर्वेदज्ञ मानना चाहिए। इस पर प्रश्न करते हैं कि तन्त्रादि का वाक्यशः, वाक्यार्थशः तथा अर्थावयवशः किस प्रकार प्रवचन करते हैं।

अत्रोच्यते- तन्त्रमार्षं कार्त्स्न्येन यथाम्नायमुच्यमानं वाक्यशो भवत्युक्तम्। (च.सू. ३०.१७)

यहाँ इसके विषय में उपदेश करते हैं कि ऋषियों द्वारा लिखे गये आयुर्वेदशास्त्र को परम्परानुसार समग्रता से प्रवचन करना 'वाक्यशः प्रवचन' कहा जाता है।

बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं वाग्भिर्व्याससमासप्रतिज्ञाहेतू-दाहरणोपनयनिगमनयुक्ताभिस्त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्याभिरुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम्। (च.सू. ३०.१८)

प्रज्ञा द्वारा आयुर्वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व को सम्यक् प्रकार से जानने के पश्चात् उसे विस्तार, समास (संक्षेप), प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन आदि से युक्त बुद्धिगम्य वचनों द्वारा तीनों प्रकार की बुद्धि वाले (उत्तम, मध्यम व अधम) शिष्यों के समक्ष व्याख्यान करना 'वाक्यार्थशः प्रवचन' कहलाता है।

तन्त्रनियतानामर्थदुर्गाणां पुनर्विभावनैरुक्तमर्थावयवशो भवत्युक्तम्। (च.सू. ३०.१९)

शास्त्र द्वारा कहे गये जटिल व गूढ़ अर्थों को पुनः अपना व्याख्यान करके सरलतापूर्वक प्रवचन करना 'अर्थावयवशः प्रवचन' कहलाता है।

अध्याय- २

त्रिदोष सिद्धान्त

त्रिदोष-परिचय

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।। (अ.हृ.सू. १.६)
विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।

आयुर्वेद में संक्षेपतः **वात, पित्त** एवं **कफ** ये तीनों दोष कहे गये हैं। ये विकृत (कुपित) होकर देह (शरीर) का नाश करते हैं और अविकृत (अकुपित) होकर देह का पालन (धारण) करते हैं।

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते।। (सु.सू. २१.४)

कफ, पित्त और वात के बिना देहधारण असम्भव है और रक्त के बिना भी देहधारण असम्भव है। इन चारों के द्वारा ही देहधारण होता है। वातादि शब्दों का व्याकरणपरक अर्थ–'वा गतिगन्धनयोः' धातु से वात शब्द, 'तप सन्तापे' धातु से पित्त शब्द तथा 'श्लिष आलिङ्गने' धातु से श्लेष्मा शब्द सिद्ध होता है, ये तीनों कृत्प्रत्ययान्त हैं।

शरीर की प्रकृति

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।। (च.सू. ७.३९)
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
दोषानुशयिता[१] ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते।। (च.सू. ७.४०)

---

१. दोषस्य दुष्टेरनुशयो गर्भात्प्रभृत्यनुवृत्तिर्विद्यते यस्य स दोषानुशयी तस्य भावो दोषानुशयिता।(गंगाधरः)

कुछ मनुष्य गर्भ से ही सम पित्त-वात-कफ प्रकृति वाले होते हैं तथा कुछ वातल (वात-प्रधान), कुछ पित्तल (पित्त-प्रधान) और श्लेष्मल (कफ-प्रधान) प्रकृति के भी देखे जाते हैं। इनमें सम पित्त-वात-कफ प्रकृति वाले सदा अनातुर (स्वस्थ) रहते हैं तथा वातल, पित्तल या श्लेष्मल प्रकृति वाले सदा आतुर (रोगी) रहते हैं। देहप्रकृति वातादि दोषों का अनुवर्तन करने वाली कही जाती है[१]।

शरीर एवं मानस दोष तथा उनकी चिकित्सा

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च।। (च.सू. १.५७)
प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः।। (च.सू. १.५८)

वात, पित्त एवं कफ- इन त्रिदोषों की विषमता शारीरिक रोगों का कारण है तथा रजोगुण और तमोगुण की विषमता मानस रोगों में कारण है। शारीरिक दोषों की चिकित्सा 'दैवव्यपाश्रय'[२] और 'युक्तिव्यपाश्रय'[३] से तथा मानस रोगों की चिकित्सा ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एवं समाधि से होती है।

वात के गुण एवं चिकित्सा

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति।। (च.सू. १.५९)

१.(क) प्रकोपो वाऽन्यभावो वा क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन, जायते तु गतायुषि।। (सु.शा. ४.७८)
(ख) विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते।। (सु.शा. ४.७९)

२. दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चितोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादिः। (च.सू. १.५४)

३. युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना। (च.सू. १.५४)

वायु रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल (गतिशील), विशद और खर (खुरदरा) गुणों वाला होता है। वात का प्रशमन[१] स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल और श्लक्ष्ण- इन विपरीत गुणों तथा विपरीत रस, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव[२] वाले द्रव्यों तथा कर्मों द्वारा होता है।

पित्त के गुण एवं चिकित्सा

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।। (च.सू. १.६०)

अल्पस्निग्ध[३], उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर (गतिशील) और कटु- ये पित्त के गुण हैं। इसका अपने से विपरीत गुणों (पूर्ण स्निग्ध, शीत, मृदु, सान्द्र, स्थिर, मधुर, कषाय और तिक्त) तथा विपरीत रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव वाले द्रव्यों तथा कर्मों द्वारा शमन होता है।

कफ के गुण एवं चिकित्सा

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः।। (च.सू. १.६१)

कफ गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल गुणों वाला होता है जिसका प्रशमन अपने से विपरीत गुणों (लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, तिक्त, कषाय रस, सर और विशद) तथा विपरीत रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव वाले द्रव्यों एवं कर्मों द्वारा होता है।

सञ्चित दोषों का निर्हरण काल

माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः।
सहस्यप्रथमे चैव हारयेद्दोषसञ्चयम्।। (च.सू. ७.४६)

---

१. तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद् वातं जयति। (च.वि. १.१४)

२. द्रष्टव्य पृष्ठ १५३-१७०

३. सस्नेहमिति ईषत्स्नेहं, तेन पित्ते सर्पिषः स्निग्धस्य भेषजत्वमुपपन्नम्।(चक्रपाणिः)

माधव (वैशाख) से पूर्ववर्त्ती चैत्र मास में (कफ का); नभस्य (भाद्रपद) से पूर्ववर्त्ती श्रावण मास में (वात का) और सहस्य (पौष) से पूर्ववर्त्ती मार्गशीर्ष मास में (पित्त का) का (पञ्चकर्म द्वारा) निष्कासन कराना चाहिए[१]। इस प्रकार तीनों दोषों का संशोधन करना चाहिए।

दोष-ज्ञान का प्रकार

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते।। (च.सू. १७.६२)

बढ़े हुए दोष अपने बल के अनुसार अपने लक्षणों को प्रकट करते हैं, क्षीण हुए दोष अपने लक्षणों को छोड़ देते हैं तथा समदोष अपना-अपना कार्य करते रहते हैं।

त्रिदोषज्ञान की आवश्यकता

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः।। (च.सू. १८.४८)

प्राणियों के शरीर में वात, पित्त और कफ सदैव ही रहते हैं। विद्वान् वैद्य को अन्वेषण करना चाहिए कि वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में हैं अथवा विकृत हैं।

निज विकारों की दोषजन्यता

सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते, यथाहि- शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते। वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। (च.सू.१९.५)

---

१. मधौ सहे नभसि च मासि दोषान् प्रवाहयेत्।
वमनैश्च विरेकैश्च निरूहैः सानुवासनैः।। इति कपिलबले

शरीरस्थ सभी विकार (रोग) वात, पित्त, कफ के आश्रय से होते हैं। इसको ऐसा ही समझना चाहिए कि जैसे पक्षी निरन्तर उड़ता हुआ अपनी छाया से पृथक् नहीं हो पाता, उसी प्रकार अपनी धातुओं की विषमता से होने वाले सभी विकार वात, पित्त, कफ का अतिक्रमण नहीं कर पाते। अतः विद्वान् चिकित्सक वात, पित्त, कफ के स्थान विशेष (रसादि धातुएँ, आमाशय, पक्वाशय, बस्ति), संस्थान विशेष (आकृति या लक्षण) और प्रकृति विशेष (कारण-विशेष) का विश्लेषण करके दोषविशेष से होने वाले रोगों का यथायोग्य नामकरण करें।

दोषों का प्रभाव

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति- प्रकृतिभूताः शुभान्युपचय - बलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि।।

(च.सू. २०.९)

सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त, कफ शरीर के किसी अवयवविशेष में कुपित होने पर अशुभ तथा अकुपित होने पर शुभ लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। प्रकृतिस्थ रूप में रहते हुए उपचय (शरीर की वृद्धि), बल, वर्ण (कान्ति), प्रसाद (निर्मलता) आदि शुभलक्षणों को उत्पन्न करते हैं और जब उक्त दोष विकृत होते हैं तो अशुभलक्षणों को किसी न किसी रोग के रूप में प्रकट करते हैं।

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम्।। (सु.सू. १५.४३)

जैसे प्रदीप्त अग्नि अपने तेज से स्थाली (पाकपात्र) के जल को नष्ट कर देती है, वैसे ही अनुचित आहार-विहार से प्रकुपित वातादि दोष अपने तेज से शरीर के धारक रसादि धातुओं को नष्ट कर देते हैं।

वायु के कर्म

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशला:; तद्यथा रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि; एवंविधत्वाच्च वायो: कर्मण: स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशत:; तद्यथा स्रंसभ्रंशव्याससङ्गभेदसादहर्षतर्ष-कम्पवर्तचालतोदव्यथाचेष्टादीनि, तथा खरपरुषविशदसुषिरारुण-वर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसङ्कोचनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायो: कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्।।(च.सू. २०.१२)

इन ८० प्रकार के वर्णित वातविकारों में और इनसे भिन्न अवर्णित वातविकारों में भी यह वायु का अपरिणामी (कभी न बदलने वाला सहजसिद्ध) स्वरूप है और विकृत वायु के कर्म[१] का भी स्वलक्षण[२] (आत्मीय लक्षण) है, जिसे पूर्णतया या अंशत: जानकर निपुण वैद्य बिना किसी संशय के 'यह वातविकार है' ऐसा समझ लेते हैं। जैसे-रूक्षता, शीतलता, लघुता, विशदता[३], गति (चञ्चलता), अमूर्तता (रूप न होना) और अनवस्थितता ये वायु के अपने रूप हैं। वायु के इस प्रकार के लक्षण वाला होने से शरीर के उन-उन अवयवों में प्रविष्ट होते हुए विकृत वायु के कर्म के अग्रलिखित ये लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे-स्रंस (अपने स्थान से थोड़ा खिसकना), भ्रंश (अपने स्थान से दूर हट जाना), व्यास (प्रभावित अंगों का फैल जाना), संग (अवरोध), भेद (अतिपीड़ा), साद (थकावट), हर्ष, तर्ष (तृष्णा), कम्प, वर्त (घूमना), चाल (गतिशील होना), तोद,

१.कर्म-कर्मणश्चेति विकृतस्य वायो: कर्मण: (चक्रपाणि:)।।
२.लक्षण- स्वलक्षणमिति आत्मीयं लक्षणम् (चक्रपाणि:)।।
३.विशद- द्रव्यस्य क्षालने कर्मणि शक्ति: विशद:।

व्यथा, चेष्टादि, तथा खर (खुरदरापन), परुष (कठोरता), विशद, सुषिर (पोलापन), संकोचन, स्तम्भन और खञ्जता आदि वायु के कर्म हैं। इनसे युक्त विकार को वायुविकार[१] (वातविकार) ही जानना चाहिए।

प्रकुपित वात के कर्म (अष्टांग-हृदय)

स्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम्।। (अ.हृ.सू. १२.४९)
सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम्।
कम्पपारुष्यसौषिर्यशोषस्पन्दनवेष्टनम्।। (अ.हृ.सू. १२.५०)
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा।
कर्माणि वायोः -

स्रंस (शरीर के किसी अंग का अपने स्थान से खिसक जाना), **व्यास** (शिराओं आदि का फैलना या विस्फारित होना), **व्यध** (बींधने या सूई चुभने जैसी पीड़ा का होना), **स्वाप** (अंगों का सुन्न हो जाना), **साद** (अंगों में शिथिलता का होना), **रुक्** (वेदना/शूल), **तोद (**रुक-रुककर सूई चुभने जैसी पीड़ा**)** **भेदन** (अंगों के फटने जैसी पीड़ा का होना), **सङ्ग** (मल-मूत्र आदि का अवरोध), **अङ्गभंग** (अङ्गों का टूटना), **सङ्कोच** (अंगों का संकुचित होना), **वर्त** (अंगों का उलटना या मुड़ जाना), **हर्षण** (रोमाञ्च), **तर्षण** (प्यास लगना), **कम्प** (शरीर में कम्पन होना), **पारुष्य** (शरीर में रूक्षता या खुरदरापन), **सौषिर्य** (अस्थि आदि में खोखलापन), **शोष** (रसादि धातुओं एवं पुरीषादि मलों का शोषण), **स्पन्दन** (अंगों में स्फुरण या फड़कन), **वेष्टन** (अंगों में ऐंठन जैसी पीड़ा का होना), **स्तम्भ** (अंगों में अकड़न/जड़ता/निष्क्रियता), मुख में कषाय रस की प्रतीति और त्वचा का श्याव/कपिश-अरुण वर्ण का हो जाना प्रकुपित वात के कर्म हैं।

---

१. कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः।। (सु.सू.५५.१३)

वात के कर्म (योगशतम्)

पारुष्य-सङ्कोचन-तोद-शूल-
श्यावत्व-सङ्ग-व्यध-वेष्ट-भङ्गान्।।
स्तब्धत्व-शीतत्व-खरत्व-शोषान्
कर्माणि वायोः प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।। (यो.श. ९०)

पारुष्य (शरीर में परुषता अर्थात् कठोरता/अकड़न), सङ्कोचन (अंगों में सिकुड़न), तोद (चुभन), शूल (पीड़ा), श्यावत्व (अंगों का कालापन), सङ्ग (मल का अनिस्सरण/कब्ज), व्यध (अंगों में वेधन जैसी पीड़ा), वेष्ट (अंगों में ऐंठन), भङ्ग (अंगों में टूटन)- ये वायु (वात) के कर्म होते हैं। इसी प्रकार स्तब्धत्व (हाथ, पैर आदि में जकड़न होना या सुन्नता आना), शीतत्व (अधिक ठण्ड लगना), खरत्व (अंगों में रूखापन एवं खुरदरापन), शोष (सूखापन)- ये सब वात के ही कर्म हैं, ऐसा आयुर्वेदज्ञ विद्वान् बतलाते हैं।

पित्त का कर्म

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा- औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा- दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि; तैरन्वितं पित्तविकार-मेवाध्यवस्येत्।। (च.सू. २०.१५)

जो ये चालीस प्रकार के पित्तविकार कहे गये हैं इनमें तथा इनसे भिन्न अनुक्त पित्तविकारों में पित्त[1] का यह कभी न बदलने वाला लक्षण है और इसी प्रकार विशिष्ट लक्षणों से युक्त पित्त का कर्म भी है, जिसे पूर्णतः या अंशतः जानकर कुशल वैद्य बिना किसी संशय के 'यह पित्तविकार है', ऐसा समझ लेते हैं। जैसे- उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, अस्निग्धता, श्वेत तथा अरुण (ताम्र) वर्ण को छोड़कर अन्य वर्ण वाला, कच्चे मांस जैसी गंध वाला, रस में कटु तथा अम्ल और सर (चल स्वभाव) पित्त के नियत लक्षण हैं। इन लक्षणों से युक्त शरीर के उस-उस अवयव में प्रविष्ट होते हुए पित्त के कर्म का यह स्वलक्षण होता है, जैसे कि दाह[2] (जलन), औष्ण्य (उष्णता), पाक, स्वेद, क्लेद (क्लिन्नता), कोथ (सड़न), कण्डू (खुजली), स्राव और राग (रक्तवर्ण) तथा पित्त के स्वयं के गन्ध, वर्ण और रस के समान गन्धादि का उत्पन्न होना, ये विकृत पित्त के कर्म हैं। इन लक्षणों से युक्त विकारों को पित्तविकार ही जानना चाहिए।

प्रकुपित पित्त के कर्म (अष्टांगहृदय)

-पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः।। (अ.हृ.सू. १२.५१)
स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः।। (अ.हृ.सू. १२.५२)

दाह (जलन), **राग** (लालिमा), **ऊष्मा** (उष्णता का अनुभव), **पाक** (व्रणशोफ में पाक), **स्वेद** (स्वेदन), **क्लेद** (धातुओं में क्लिन्नता), **स्रुति** (व्रण आदि से स्राव), **कोथ** (सड़न), **सदन** (अंगों में शिथिलता), **मूर्च्छा** (मोह), **मद,** मुख में कटु-अम्ल रस की प्रतीति और पाण्डर (श्वेत) एवं अरुण वर्ण के अतिरिक्त शरीर में अन्य रंगों का उत्पन्न हो जाना प्रकुपित पित्त के कर्म हैं।

---

१. पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। (अ.हृ.सू. १.११)
२. दाहः सर्वाङ्गदहनमिव। (चक्रपाणिः)

पित्त के कर्म (योगशतम्)

परिश्रमस्वेदविदाहरागवैगन्ध्यसंक्लेदविपाककोथान्।
प्रलापमूर्छाभ्रमपीतभावान्पित्तस्य कर्माणि विदन्ति तज्ज्ञाः।।
(यो.श. ९१)

बिना आयास के परिश्रम (थकान होना), स्वेद (पसीना), विदाह (जलन), राग (लालिमा), विगन्धि (शरीर में, पसीने में दुर्गन्ध आना), संक्लेद (शरीर में गीलापन), विपाक (किसी भी चोट या आघात वाले स्थान का शीघ्र पक जाना), कोथ (घाव आदि में सड़न होना)- ये पित्त के कर्म हैं। इसी प्रकार क्रोध, प्रलाप (बड़बड़ाना), मूर्छा (बेहोशी), भ्रम (चक्कर आना) एवं नख, नयन, मुख आदि में पीलापन- ये भी पित्त के कर्म हैं, ऐसा आयुर्वेदज्ञ विद्वान् बतलाते हैं।

कफ का कर्म (चरक)

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा- स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्र्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि; एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा- श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्य-गौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्।। (च.सू. २०.१८)

यहाँ कहे कफ के इन बीस विकारों तथा इनसे अतिरिक्त अनुक्त विकारों में कफ का यह सहज स्वरूप है और इसके कर्म का स्वलक्षण भी यही है जिसको पूर्णतया या अंशतः जानकर कुशल वैद्य सन्देह रहित होकर 'यह कफविकार है' ऐसा निर्णय करते हैं, जैसे- स्निग्धता, शीतलता,

शुक्लता, गुरुता, मधुरता, स्थिरता, पिच्छिलता एवं मात्स्न्र्य (चिकनापन) ये कफ के आत्मस्वरूप हैं और शरीर के उस-उस अवयव में प्रवेश करते हुए विकृत कफ के अग्रलिखित लक्षण प्रकट होते हैं जैसे- श्वेतता, शैत्य (शीतलता),कण्डू (खुजली), स्थिरता, गुरुता (भारीपन), स्निग्धता, सुप्ति (जड़ता), क्लिन्नता, उपदेह (मललिप्तता), बन्ध (अवरोध), मधुरता और देर से कार्य करना, ये विकृत कफ के कर्म हैं। इनसे युक्त विकार को कफविकार ही समझना चाहिए।

प्रकुपित कफ के कर्म (अष्टाङ्गहृदय)

श्लेष्मण: स्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगौरवम्।
बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रता:।। (अ.हृ.सू. १२.५३)
वर्ण: श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता।

स्नेह (स्निग्धता), **कठिनता** (अंगों में कड़ापन), **कण्डू** (खुजली), **शीतत्व** (अंगों में ठण्डापन), **गौरव** (शरीर में भारीपन), **बन्ध** (स्रोतावरोध), **उपलेप** (जिह्वा पर एवं स्रोतों के अन्दर विकृत कफादि मल का चिपकना), **स्तैमित्य** (गीले एवं भारी कपड़े से लिपटे हुए होने की प्रतीति), **शोफ** (सूजन), **अपक्ति** (अपचन), अतिनिद्रा, मुख में मधुर-लवण रस की प्रतीति, **चिरकारिता** (शारीरिक कर्मों का देर से होना) और त्वचा, आँख आदि का श्वेत वर्ण का हो जाना प्रकुपित कफ के कर्म हैं।

कफ के कर्म (योगशतम्)

श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डूस्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपान्।
उत्सेधसंघातचिरक्रियाश्च कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञा:।।
(यो.श. ९२)

श्वेतत्व (अंगों में श्वेतपन), शीतत्व (अंगों का शीतल रहना), गुरुत्व (शरीर का भारी होना), कण्डू (खुजली), स्नेह (शरीर में स्निग्धता), उपदेह

(मुख का कफ से लिप्त रहना), स्तिमितत्व (निश्चलता/निष्क्रियता) अर्थात् स्तब्धता एवं लेप- स्रोतों का उपचय अर्थात् कफ से लिप्त रहना- ये कफ के कर्म होते हैं। इसी प्रकार उत्सेध (अंगों में उभार), संघात (अवयवों में सुश्लिष्टता अर्थात् अच्छी गठन), चिरक्रिया (मन्द गति से कार्य करने की प्रवृत्ति) ये भी कफ के कर्म होते हैं, ऐसा आयुर्वेद के विद्वान् कहते हैं।

तिर्यग्गत दोषों की चिकित्सा (चरक)

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्।
तेषु न त्वरया कुर्याद् देहाग्निबलवित् क्रियाम्।।
प्रयोगैः क्षपयेद् वा तान् सुखं वा कोष्ठमानयेत्।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान् यथासन्नं हरेद् बुधः।। (च.नि. ८.३८-३९)

प्रायः तिर्यग्गत (शोधन मार्ग के बाहर शाखादि में गये) दोष रोगियों को दीर्घकाल तक कष्ट देते हैं। उन रोगियों के देहबल[१] तथा अग्निबल को जानने वाले चिकित्सक को शीघ्रतापूर्वक चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। विद्वान् चिकित्सक को चाहिए कि वह तिर्यग्गामी दोषों को प्रयोगों द्वारा क्षीण करे या उन दोषों को सुखपूर्वक कोष्ठ में ले आवे। पुनः कोष्ठ में दोषों को जानकर किसी समीप मार्ग से निकाल दे अर्थात् शमन कर दे।

तिर्यग्गत दोषों की चिकित्सा (अष्टांगहृदय)

प्रायस्तिर्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्।। (अ.हृ.सू. १३.२१)
कुर्यान्न तेषु त्वरया देहाग्निबलवित् क्रियाम्।
शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत्।। (अ.हृ.सू. १३.२२)
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्।

१. स्थूलो ह्यल्पबलः कश्चित् कृशश्च बलवान् भवेत्।
स्थैर्य-व्यायाम-सारत्वैर्बोद्धव्यं यत्नतो बलम्।। (सि.सं. १.३७)

तिर्यग्गत (अर्थात् शोधनमार्ग के बाहर शाखादि में गये) दोष प्राय: रोगी को दीर्घ काल तक पीड़ित करते हैं। अत: देह और अग्निबल को जानने वाले वैद्य इनकी शीघ्रतापूर्वक चिकित्सा न करें, बल्कि शास्त्रानुसार इनका शमन करें अथवा शरीर को बिना पीड़ा पहुँचाए ही दोषों को सुखपूर्वक कोष्ठ में लाकर वमन, विरेचन एवं शिरोविरेचन (नस्य) आदि के द्वारा बाहर निकाल दें।

तत्रादौ रसद्रव्यदोषविकारप्रभावान् वक्ष्याम:। रसास्तावत् षट्- मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाया:। ते सम्यगुपयुज्यमाना: शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते।

(च.वि. १.४)

यहाँ विमानस्थान में हम रस, द्रव्य (तैल,घृत, मधु), दोष तथा विकारों (रोगों)से होने वाले प्रभावों को कहेंगे। रसों की संख्या छ: है- मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय। ये षड्रस उत्तमरीति से सेवन किये जाने पर शरीर का पालन करते हैं, परन्तु यदि ये रस अनुचित प्रकार से सेवन किये जायें तो दोषों को प्रकुपित करने वाले हो जाते हैं।

दोषा: पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माण:। ते प्रकृतिभूता: शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारै: शरीरमुपतापयन्ति। (च.वि. १.५)

वात, पित्त, श्लेष्म (कफ)- ये तीनों दोष जब अपनी स्वाभाविक स्थिति में होते हैं अर्थात् शरीर में जब इनका संतुलन बना रहता है तब तो ये शरीर के लिए उपकारक होते हैं, परन्तु ये विकृत (असंतुलित) होते ही शरीर को अनेक प्रकार के रोगों के माध्यम से कष्ट पहुँचाते हैं।

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा- कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं

शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति; मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। (च.वि. १.६)

उनमें तीन-तीन रस मिलकर एक-एक दोष को उत्पन्न करते हैं तथा तीन-तीन रस मिलकर एक-एक दोष का शमन भी करते हैं। जैसे- कटु, तिक्त व कषाय रस वात को उत्पन्न करते हैं, परन्तु मधुर, अम्ल व लवण वात का शमन करते हैं। कटु, अम्ल तथा लवण रस पित्तजनक होते हैं, परन्तु मधुर, तिक्त व कषाय पित्तशामक होते हैं। मधुर, अम्ल एवं लवण रस कफजनक होते हैं, परन्तु कटु, तिक्त एवं कषाय कफ का शमन करने वाले रस हैं।

रसदोषसन्निपाते[१] तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद् व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्। (च.वि. १.७)

आहार के उपरान्त जो रस बनते हैं, उनका तथा शरीरगत दोष, इन दोनों का सन्निपात (शरीर में मिश्रण) होने पर जो-जो रस जिन-जिन दोषों के समान गुण वाले या अत्यंत समान गुण वाले होते हैं, वे उन-उन दोषों का अभिवर्धन करते हैं तथा विपरीत गुण वाले या अत्यन्त विपरीत गुण वाले रसों के निरन्तर सेवन से उन-उन दोषों का शमन होता है। इसी व्यवस्था के कारण परस्पर असंसृष्ट (अमिश्रित) षड्रसों तथा तीन दोषों का उपदेश किया जाता है।

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्, अनतिगुरु, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्त्रंसनसमर्थम्, अन्नद्रव्यरुचिकरम्, आपातभद्रं

१. षड् रसा मधुराद्या ये सेवितास्ते विभागशः।
आरोग्यहेतवो नित्यमन्यथा तु विपर्ययः।। (सि.सं. १.१९)

प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसञ्चयानुबन्धं, तद्रोचनपाचनोपक्लेदन-विस्रंसनार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः; ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति।

(च.वि. १.१८)

लवण रस उष्ण एवं तीक्ष्ण गुणों से युक्त होता है, यह अतिगुरु तथा अतिस्निग्ध नहीं होता है, क्लेदकारी[१], दोष अथवा मल स्रावक, अन्नद्रव्यों में रुचिकर, समुचित मात्रा में (औषध आदि रूप में) प्रयोग करने में आपाततः लाभकारी होता है, अति प्रयोग से दोषों का सञ्चय करने वाला होता है। लवण का प्रयोग रोचन, पाचन, उपक्लेदन तथा विस्रंसन के लिये किया जाता है। अत्यधिक प्रयोग से ग्लानि, शारीरिक शिथिलता, तथा दुर्बलता को उत्पन्न करने वाला होता है। जिन ग्राम, नगर, निगम तथा जनपदों में निरन्तरतापूर्वक लवण का प्रयोग होता है, वहाँ के लोग अत्यन्त ग्लानियुक्त, शिथिल मांस-शोणित वाले तथा कष्टों को सहने में असमर्थ होते हैं। जैसे कि बाह्लीक, सौराष्ट्र (गुजरात), सैन्धव (सिन्धु) तथा सौवीर देश के लोग, वे दूध के साथ भी लवण का सेवन करते हैं और जो यहाँ भूमि के ऊषर भाग हैं, वहाँ नमक के द्वारा उपहत (विनष्ट) होने के कारण ओषधि, वीरुद्, वनस्पति व वानस्पत्य उत्पन्न ही नहीं होते अथवा अल्पतेज

---

१. प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे।
यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च।। (च.सू. २६.७६)

वाले उत्पन्न होते हैं अत: लवण का अधिक प्रयोग न करें। जो अधिक नमक को सात्म्य कर चुके हैं, ऐसे लोगों को समय से पहले खालित्य (गंजापन), पालित्य (बालों का पकना) तथा वलियाँ (झुर्रियाँ) आदि रोग हो जाते हैं।

त्रिदोष का जठराग्नि और कोष्ठ पर प्रभाव

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्नि: समै: सम:।। (अ.हृ.सू. १.८)
कोष्ठ: क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्य: स्यात्तै: समैरपि।

जठराग्नि वात के बढ़ने पर विषम (विषमाग्नि), पित्त के बढ़ने पर तीक्ष्ण (तीक्ष्णाग्नि) तथा कफ के बढ़ने पर मन्द (मन्दाग्नि) हो जाती है और तीनों दोषों के समान रहने पर सम (समाग्नि) रहती है। वात से क्रूर कोष्ठ, पित्त से मृदु कोष्ठ और कफ से मध्य कोष्ठ होता है तथा तीनों दोषों के समान रहने पर भी मध्य कोष्ठ होता है।

शारीरिक प्रकृतियों की उत्पत्ति एवं भेद

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रृमे:।। (अ.हृ.सू. १.९)
तैश्च तिस्र: प्रकृतयो हीनमध्योत्तमा: पृथक्।
समधातु: समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा:।। (अ.हृ.सू. १.१०)

जिस प्रकार विष से विषकृमि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार गर्भाधान के समय शुक्र एवं आर्तव में स्थित वात आदि दोषों से पृथक्-पृथक् तीन एकदोषज (वात, पित्त एवं कफ की अधिकता से क्रमश: हीन, मध्यम एवं उत्तम प्रकृति), तीन द्विदोषज (दो-दो दोषों के संयोग से यथा- वात-पित्त, वात-कफ एवं पित्त-कफ प्रकृति) और एक सम-त्रिदोषज (तीनों दोषों के समप्रमाण से) प्रकृतियाँ बनती हैं। एकदोषज व द्विदोषज प्रकृतियाँ निन्दनीय होती हैं और सम-त्रिदोषज प्रकृति श्रेष्ठ होती है। इस प्रकार जन्म के समय वातादि दोषों से कुल **सात शारीरिक प्रकृतियाँ** बनती हैं।

त्रिदोषों के गुण

तत्र रूक्षो लघु शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्।। (अ.हृ.सू. १.११)
स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

वात के गुण- रूक्ष (रूखा), लघु (हल्का), शीत (ठण्डा), खर (खुरदरा), सूक्ष्म (स्रोतोगामी) एवं चल (गतिशील) वात के गुण हैं।

पित्त के गुण- सस्नेह (किञ्चत् स्निग्ध), तीक्ष्ण (शीघ्रकारी), उष्ण, लघु, विस्र (कच्चे मांस की गन्ध वाला), सर (प्रसरणशील) एवं द्रव (तरल) पित्त के गुण हैं।

कफ के गुण- स्निग्ध, शीत (ठण्डा), गुरु (भारी), मन्द (चिरकारी), श्लक्ष्ण (चिकना), मृत्स्न (पिच्छिल/चिपचिपा) एवं स्थिर (अप्रसरणशील) कफ के गुण हैं।

संसर्ग एवं सन्निपात की परिभाषा

संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः।। (अ.हृ.सू. १.१२)

वात आदि दोषों में किन्हीं दो दोषों के एक साथ क्षय या वृद्धि होने को '**संसर्ग**' और तीनों दोषों के एक साथ क्षय या वृद्धि होने को '**सन्निपात**' कहा जाता है।

त्रिदोषों के कर्म

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य तं चलः।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः।। (अ.हृ.सू. ११.१)
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च।
अनुगृह्णात्यविकृतः, पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः।। (अ.हृ.सू. ११.२)
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः।
श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिः।। (अ.हृ.सू. ११.३)

वात आदि दोष, रस आदि धातु एवं पुरीष आदि मल सदा ही शरीर के मूल (आधार तत्त्व) होते हैं अर्थात् यह शरीर तब तक स्वस्थ एवं स्थिर रह सकता है जब तक कि ये तीनों (दोष, धातु एवं मल) साम्यावस्था (अविकृत अवस्था) में रहते हैं। इनमें से अविकृत दोषों के कर्म निम्नलिखित हैं-

वात के कर्म- गतिशीलता, उत्साह (क्रियाशीलता), उच्छ्वास, निःश्वास, शरीर की सभी प्रकार की चेष्टाएँ (क्रियाएँ), मल-मूत्र आदि सभी अधारणीय वेगों की प्रवृत्ति, रस आदि धातुओं की अविकृत गति और इन्द्रियों की अपने विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य वात के कर्म हैं।

पित्त के कर्म- अन्न को पचाना, शरीर के ताप एवं आँखों की ज्योति को बनाए रखना, भूख-प्यास का लगना, अन्न में रुचि उत्पन्न होना और शरीर की कान्ति, मेधा, बुद्धि की प्रखरता, साहस (शौर्य) एवं शरीर की सुकुमारता को बनाए रखना पित्त के कर्म हैं।

कफ के कर्म- शरीर की स्थिरता (दृढ़ता), स्निग्धता, सन्धिबन्धनों की दृढ़ता एवं सहनशीलता आदि कफ के कर्म हैं।

दोषों का महत्त्व

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः।।

(अ.हृ.सू. ११.४५)

जो वातादि दोष साम्यावस्था में रहकर शरीर की वृद्धि करते हैं, वे ही दोष विषमावस्था में शरीर को नष्ट कर देते हैं इसलिए हितकर आहार-विहार द्वारा दोषों को वृद्धि के समान क्षय से भी बचाना चाहिए अर्थात् दोषों की वृद्धि व क्षय दोनों ही अभीष्ट नहीं हैं।

दोष-स्थान का उपसंहार

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्।। (अ.हृ.सू. १२.१८)
व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक् पृथक्।

इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में अधिकता से व्याप्त होने पर भी अविकृत स्वरूप वाले दोषों के स्थानों और उनके कर्मों को उपर्युक्त वर्णन के अनुसार भिन्न-भिन्न जानें।

वात का सञ्चय, प्रकोप एवं प्रशमन

उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति सञ्चयम्।।(अ.हृ.सू. १२.१९)
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।

रूक्षादि (रूक्ष, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर, कटु, तिक्त एवं कषाय) गुण जब उष्ण गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो वात का '**संचय**' होता है और जब शीत गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो वात का '**प्रकोप**' होता है। स्निग्धादि (स्निग्ध, गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, मधुर, अम्ल एवं लवण) गुण जब उष्ण गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो वात का '**प्रशमन**' होता है।

पित्त का सञ्चय, प्रकोप एवं प्रशमन

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।। (अ.हृ.सू. १२.२०)
उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः।

तीक्ष्णादि (तीक्ष्ण, द्रव, सस्नेह, सर, अम्ल, लवण एवं कटु) गुण जब शीत गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो पित्त का '**संचय**' होता है और जब उष्ण गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो पित्त का '**प्रकोप**' होता है। मन्दादि (मृदु, सान्द्र, स्निग्ध, स्थिर, मधुर, तिक्त एवं कषाय) गुण जब शीत गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो पित्त का '**प्रशमन**' होता है।

कफ का सञ्चय, प्रकोप एवं प्रशमन

शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्।।(अ.हृ.सू.१२.२१)
उष्णेन कोपं, तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्।

स्निग्धादि (स्निग्ध, गुरु, मृदु, स्थिर, पिच्छिल मधुर, अम्ल एवं लवण) गुण जब शीत गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो कफ का '**संचय**' होता है और जब उष्ण गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो कफ का '**प्रकोप**' होता है। रूक्षादि (रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण, सर, विशद, कटु, तिक्त एवं कषाय) गुण जब उष्ण गुण के साथ संयुक्त होते हैं तो कफ का '**प्रशमन**' होता है।

संचय-प्रकोप-प्रशमन की परिभाषा एवं लक्षण

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।। (अ.हृ.सू. १२.२२)
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता।
लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसम्भवः।। (अ.हृ.सू. १२.२३)
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासम्भवः शमः।

दोषों का अपने स्थान में बढ़ना '**संचय (चय)**' कहलाता है। संचयावस्था में दोषों की वृद्धि करने वाले कारणों (आहार-विहार आदि) के प्रति द्वेष हो जाता है और इनसे विपरीत गुणों वाले कारणों (आहार-विहार आदि) के सेवन की इच्छा होती है। दोषों का उन्मार्गगमन (दोषों का अपने नियत स्थान एवं मार्ग को छोड़कर अन्य स्थान एवं मार्ग में गमन) करना '**प्रकोप**' कहलाता है। प्रकोपावस्था में प्रकुपित दोष अपने-अपने लक्षणों को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर रोगयुक्त हो जाता है। दोषों का अपने स्थान एवं मार्ग में साम्यावस्था में बने रहना '**प्रशमन**' कहलाता है और प्रशमन की अवस्था में शरीर रोगमुक्त रहता है।

ऋतु-अनुसार दोषों का सञ्चय-प्रकोप-प्रशमन

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।। (अ.हृ.सू. १२.२४)
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मणः शिशिरादिषु।

वायु का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद्-ऋतु में होता है। **पित्त** का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन क्रमशः वर्षा,

शरद् एवं हेमन्त-ऋतु में होता है। **कफ** का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन क्रमशः शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म-ऋतु में होता है।

ऋतु-अनुसार दोषों की चिकित्सा

ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते।
मरुतो योगवाहित्वात् कफपित्ते तु शारदः।। (अ.हृ.सू. १३.१४)

वायु के योगवाही होने से प्रायः वात-पित्तज विकारों में ग्रीष्म ऋतु में ग्राह्य आहार-विहार व उपचार को अपनाना चाहिए। वात-कफज विकारों में वसन्त ऋतु में ग्राह्य आहार-विहार व उपचार को अपनाना चाहिए। कफ-पित्तज विकारों में शरद् ऋतु में ग्राह्य आहार-विहार व उपचार को अपनाना चाहिए।

ऋतु-अनुसार दोष-संचय में हेतु

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः।। (अ.हृ.सू. १२.२५)
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्।। (अ.हृ.सू. १२.२६)
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः।। (अ.हृ.सू. १२.२७
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति।
इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात्पुनः।। (अ.हृ.सू. १२.२८)
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु।

ग्रीष्म-ऋतु में लघु एवं रूक्ष गुण वाले आहार और ओषधियों के सेवन से लघु एवं रूक्ष गुण वाले वातदोष का संचय होता है, परन्तु काल की उष्णता के कारण वह प्रकुपित नहीं हो पाता है। वर्षा-ऋतु में अम्ल विपाक वाले जल, आहार और ओषधियों के सेवन से अम्ल-विपाक वाले पित्त का संचय होता है, परन्तु वर्षा-काल की शीतलता के कारण वह प्रकुपित

नहीं हो पाता है। शीतकाल (शिशिर-ऋतु) में स्निग्ध एवं शीत गुण वाले जल, आहार एवं ओषधियों के सेवन से स्निग्ध एवं शीत गुण वाले कफ का संचय होता है, परन्तु शीतकाल की शीतलता के कारण कफ घनीभूत रहता है, जिससे वह प्रकुपित नहीं हो पाता है। इस प्रकार दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशमन काल के स्वभाव के कारण होता है। यद्यपि काल की अपेक्षा किये बिना भी केवल आहार-विहार, देश आदि के कारण से भी वातादि दोष कभी-कभी तत्काल संचय, प्रकोप एवं प्रशमन को प्राप्त हो जाते हैं और कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता है, जैसे- वर्षा-ऋतु में वात के विपरीत आहार-विहार के सेवन से वात कुपित नहीं होता है, किन्तु शीत आदि के सेवन से ग्रीष्म-ऋतु में वात कुपित हो जाता है।

दोष-प्रकोप एवं दोष-प्रशमन में उपमा

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्।। (अ.हृ.सू. १२.२९)
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत्।

प्रकुपित हुआ दोष जल के प्रवाह के समान पैर के तलवे से सिर तक सम्पूर्ण शरीर में अचानक ही फैल जाता है और जल के प्रवाह के समान ही धीरे-धीरे शान्त हो जाता है।

नानारूपैरसङ्ख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः।। (अ.हृ.सू. १२.३०)
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम्।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते।। (अ.हृ.सू. १२.३१)

प्रकुपित वातादि दोष (मल) शरीर को अनेक प्रकार के विकारों से पीड़ित करते हैं। इसलिए प्रत्येक रोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा की व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं है, अतः सभी रोगों को सामान्य रूप से कहा जाता है।

त्रिदोष का सर्वव्याधि-कारणत्व

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।
यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः।। (अ.हृ.सू. १२.३२)
छायामत्येति नात्मीयां यथा वा कृत्स्नमप्यदः।
विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नातिवर्तते।। (अ.हृ.सू. १२.३३)
तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा।
विकारजातं त्रीन् दोषान्-

सभी रोगों के एकमात्र कारण वातादि दोष ही हैं। जिस प्रकार पक्षी सभी स्थानों पर दिन भर उड़ता हुआ भी अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं कर पाता है अथवा जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् स्थावर-जङ्गम आदि नानारूपों में व्यवस्थित होते हुए भी सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों महागुणों से अलग नहीं है, उसी प्रकार ज्वर आदि सम्पूर्ण रोगसमूह वात, पित्त एवं कफ- इन तीनों दोषों का अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं।

वातादि दोष के त्रिविध कारण

-तेषां कोपे तु कारणम्।। (अ.हृ.सू. १२.३४)
अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालः कर्म च दुष्कृतम्।
हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा।। (अ.हृ.सू. १२.३५)

दोषप्रकोप के तीन कारण होते हैं- असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, काल एवं प्रज्ञापराध। ये तीनों पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं- हीनयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग।

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याल्पः संयोगः स्वेन नैव वा।
अतियोगोऽतिसंसर्गः सूक्ष्मभासुरभैरवम्।। (अ.हृ.सू. १२.३६)
अत्यासन्नातिदूरस्थं विप्रियं विकृतादि च।
यदक्ष्णा वीक्ष्यते रूपं मिथ्यायोगः स दारुणः।।(अ.हृ.सू. १२.३७)

एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम्।
विद्यात् कालस्तु शीतोष्णवर्षाभेदात्त्रिधा मत:॥ (अ.हृ.सू. १२.३८)
स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षण:।
मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीतस्वलक्षण:।। (अ.हृ.सू. १२.३९)

चक्षु आदि इन्द्रियों का रूप आदि विषयों के साथ अल्प अथवा असंयोग इन्द्रियों का 'हीनयोग' (अयोग) और अतिसंयोग इन्द्रियों का 'अतियोग' कहलाता है। अतिसूक्ष्म, अतिदूर, अतिनिकट, अत्यधिक चमकीली, अत्यधिक भयानक, अत्यन्त अप्रिय और विकृतरूप वाली वस्तुओं के साथ नेत्रों का संयोग नेत्रों का 'मिथ्यायोग' है। मिथ्यायोग दारुण (कष्टकारी) होता है। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय का अत्यन्त उच्च स्वर, दुर्गन्ध आदि से संयोग उनका 'मिथ्यायोग' समझना चाहिए। शीत, उष्ण एवं वर्षा भेद से काल तीन प्रकार के होते हैं। अपने स्वभाविक शीत, उष्ण एवं वर्षा के लक्षणों के हीन, अति एवं विपरीत लक्षणों वाला होने से वह काल क्रमश: हीनयोग/अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग वाला होता है।

कायवाक्चित्तभेदेन कर्मापि विभजेत्त्रिधा।
कायादिकर्मणो हीना प्रवृत्तिर्हीनसञ्ज्ञिका।। (अ.हृ.सू. १२.४०)
अतियोगोऽतिवृत्तिस्तु, वेगोदीरणधारणम्।
विषमाङ्गक्रियारम्भपतनस्खलनादिकम्।। (अ.हृ.सू. १२.४१)
भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च।
कर्म प्राणातिपातादि दशधा यच्च निन्दितम्।। (अ.हृ.सू. १२.४२)
मिथ्यायोग: समस्तोऽसाविह वाऽमुत्र वा कृतम्।
निदानमेतद्दोषाणां-

शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं। शरीर, वाणी एवं मन द्वारा अल्प प्रवृत्ति अथवा सर्वथा अप्रवृत्ति का

होना उनका 'हीनयोग' (अयोग) तथा अतिप्रवृत्ति का होना 'अतियोग' कहलाता है। मल-मूत्र के वेगों का बलात् प्रेरण (प्रवृत्त) करना अथवा धारण करना, शरीर के अङ्गों द्वारा विषम चेष्टा करना, गिरना एवं फिसलना आदि शरीर के 'मिथ्यायोग' हैं। भोजन करते समय बोलना आदि वाणी के मिथ्यायोग हैं। राग, द्वेष, भय आदि कर्म मन के मिथ्यायोग हैं। जीवहत्या आदि दशविध पापकर्म (अ.हृ.सू. २.२२) और इस लोक अथवा परलोक में किये गये निन्दित कर्म ये सब शरीर, वाणी एवं मन के 'मिथ्यायोग' हैं। इस प्रकार वातादि-दोषों के निदान को कह दिया गया है।

वातप्रकोप के कारण

सन्धारणाध्यशनजागरणोच्चभाष्य-
व्यायामयानकटुतिक्तकषायरूक्षैः।
चिन्ताव्यवायभयलङ्घनशोकशीतै-
र्वायुः प्रकोपमुपयाति घनागमे च॥ (यो.श. ८६)

मल-मूत्र आदि के वेगों को धारण करना, अध्यशन (पूर्व भोजन के बिना पचे ही ऊपर से पुनः भोजन करना), जागरण (रात्रि में जागना), अधिक जोर से देर तक बोलना, अधिक व्यायाम एवं बहुत अधिक यान की सवारी से वात प्रकुपित हो जाता है। इसी प्रकार कटु (चरपरे), तिक्त (कड़वे), कषाय (कषैले), रूक्ष (रूखे) पदार्थों के सेवन से तथा चिन्ता, व्यवाय (मैथुन), भय, लङ्घन (उपवास), शोक एवं शीत (अधिक ठण्डक) से भी वातदोष प्रकुपित हो जाता है। इसके अतिरिक्त घनागम अर्थात् वर्षाकाल में स्वभावतः ही वातदोष कुपित होता है।

पित्तप्रकोप के कारण

कट्वम्लमद्यलवणोष्णविदाहितीक्ष्णैः
क्रोधातपानलपरिश्रमशुष्कशाकैः

क्षाराध्यजीर्णविषमाशनसेवनैश्च
पित्तं प्रकोपमुपयाति घनात्यये च।। (यो.श. ८७)

कटु (चरपरे), अम्ल (खट्टे), मद्य (मदिरा), लवण (नमक), उष्ण (गर्म पदार्थ), विदाही (जलन करने वाले पदार्थ) एवं तीक्ष्ण (लालमिर्च आदि तेज पदार्थ) से पित्त प्रकुपित होता है। इसी प्रकार क्रोध, आतप (धूप), अनल (अग्नि), परिश्रम (अधिक शारीरिक श्रम), शुष्क शाक (सूखे साग) एवं क्षार से पित्त प्रकुपित हो जाता है। अध्यशन, अजीर्णाशन एवं विषमाशन से भी पित्त प्रकुपित हो जाता है। इसके अतिरिक्त घनात्यय काल (वर्षा बीतने के उपरान्त) आश्विन एवं कार्त्तिक मास वाली शरद् ऋतु में स्वभावत: ही पित्त प्रकुपित होता है

कफप्रकोप के कारण

स्वप्नाद्दिवा मधुरशीतलमत्स्यमांसै-
र्गुर्वम्लपिच्छिलतिलेक्षुपयोविकारैः।
स्निग्धातितृप्तिलवणोदकपानभक्षैः
श्लेष्मा प्रकोपमुपयाति तथा वसन्ते।। (यो.श. ८८)

दिन में सोने से, मधुर एवं शीतल पदार्थों के सेवन से, मत्स्यमांस, गुरु, अम्ल, पिच्छिल गुण वाले (चिपचिपाहट युक्त) पदार्थ, तिल, इक्षुविकार (गुड़, शक्कर खाँड आदि) के निरन्तर व अधिक सेवन से कफ प्रकुपित होता है। इसी प्रकार अति स्निग्ध (बहुत चिकनाई वाले) भोजन, अतितृप्ति, लवण (नमक), उदकपान (अधिक जल पीना) तथा मोदक (लड्डू) इत्यादि भक्ष्य पदार्थों से भी कफ प्रकुपित हो जाता है। इसके अतिरिक्त वसन्त ऋतु में स्वभावत: ही कफ प्रकुपित होता है।

रोगों का मूल- त्रिदोष का असन्तुलन

त एवमेते क्रमशो द्विशो वा
दोषाः प्रवृद्धा युगपत्त्रयो वा

कुर्वन्ति रोगान् विविधान् शरीरे
संख्यानसञ्ज्ञातिगताननेकान्।। (यो.श. ८९)

पूर्व श्लोकों में वर्णित ये तीनों दोष क्रमशः एक-एक करके अथवा एक साथ दो-दो या तीनों ही जब अधिक बढ़ जाते हैं तो नाना नामों वाले अनेक रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वातादि दोष के त्रिविध-रोगमार्ग

-कुपितास्तेन नैकधा।। (अ.हृ.सू. १२.४३)
कुर्वन्ति विविधान् व्याधीन् शाखाकोष्ठास्थिसन्धिषु।

इस प्रकार कुपित वातादि दोष शाखा, कोष्ठ एवं अस्थि-सन्धि में स्थित होकर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं।

बाह्य रोगमार्ग

शाखा रक्तादयस्त्वक् च बाह्यरोगायनं हि तत्।।(अ.हृ.सू.१२.४४)
तदाश्रया मषव्यङ्गगण्डालज्यर्बुदादयः।
बर्हिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः।। (अ.हृ.सू. १२.४५)

शाखा (रक्तादि धातु एवं त्वचा) को 'बाह्य रोगमार्ग' कहा जाता है। मषक (मस्सा), व्यंग (झाँई), गलगण्ड, अलजी, अर्बुद, अर्श, गुल्म, व्रण, शोथ आदि बाह्य रोगमार्ग में होने वाले रोग हैं।

आभ्यन्तर रोगमार्ग

अन्तःकोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयाश्रयः।
तत्स्थानाश्छर्द्यतीसारकासश्वासोदरज्वराः।। (अ.हृ.सू. १२.४६)
अन्तर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधिः।

अन्तःकोष्ठ या महास्रोत (आमाशय एवं पक्वाशय) को 'आभ्यन्तर रोगमार्ग' कहते हैं। छर्दि (वमन), अतिसार, कास, श्वास, उदररोग, ज्वर,

शोफ, अर्श, गुल्म, विसर्प एवं विद्रधि आदि आभ्यन्तर रोगमार्ग में होने वाले रोग हैं।

मध्यम रोगमार्ग

शिरोहृदयबस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च सन्धयः।। (अ.हृ.सू. १२.४७)
तन्निबद्धाः शिरास्नायुकण्डराद्याश्च मध्यमः।
रोगमार्गः, स्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः।। (अ.हृ.सू. १२.४८)
मूर्धादिरोगाः सन्ध्यस्थित्रिकशूलग्रहादयः।

शिर, हृदय एवं बस्ति आदि मर्म, अस्थियों की सन्धि तथा इनसे बँधे हुए सिरा, स्नायु, कण्डरा आदि को 'मध्यम रोगमार्ग' कहते हैं। राजयक्ष्मा, पक्षाघात, अर्दित, सिर आदि के रोग, सन्धिशूल, अस्थिशूल, त्रिकशूल और सन्धि, अस्थि एवं त्रिक की स्तब्धता (जकड़न) आदि मध्यम रोगमार्ग में होने वाले रोग हैं।

दोषज, कर्मज एवं दोषकर्मज रोग

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः।
तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः।। (अ.हृ.सू. १२.५७)
यथानिदानं दोषोत्थः कर्मजो हेतुभिर्विना।
महारम्भोऽल्पके हेतावातङ्को दोषकर्मजः।। (अ.हृ.सू. १२.५८)

रोग तीन प्रकार के होते हैं-(१) **दृष्टापचारज/दृष्टकर्मज-** ऐसे रोग जिनमें रोग का कारण दिखाई पड़ता है अर्थात् मिथ्या आहार-विहार से होने वाले रोग। (२) **पूर्वापराधज/अदृष्टकर्मज-** ऐसे रोग जो पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों से होते हैं, परन्तु उनके कारण दिखाई नहीं पड़ते हैं तथा (३) **दृष्टादृष्टकर्मज-** ऐसे रोग जिनमें उपर्युक्त दोनों रोगों के कारण मिश्रित होते हैं अर्थात् ऐसे रोग जो मिथ्या आहार-विहार एवं पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के सम्मिलित रूप से होते हैं। हेतु के अनुरूप जो रोग उत्पन्न होते हैं,

उन्हें **दोषज (दृष्टापचारज/दृष्टकर्मज)** रोग कहते हैं। वर्तमान के जन्म के हेतु के अभाव में भी जो रोग दिखाई देते हैं, उन्हें **कर्मज (पूर्वापराधज/अदृष्टकर्मज)** रोग कहते हैं। जो रोग अत्यन्त अल्प कारण के होने से भी अत्यधिक कष्टकारक होते हैं, उन्हें **'दोषकर्मज'** रोग कहते हैं।

दोषज, कर्मज एवं दोषकर्मज रोगों का चिकित्सा-सूत्र

विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसंक्षयात्।
गच्छत्युभयजन्मा तु दोषकर्मक्षयात्क्षयम्।। (अ.हृ.सू. १२.५९)

दोषज रोग जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, उन कारणों के विपरीत चिकित्सा करने से शान्त होते हैं। कर्मज रोग पूर्व जन्मकृत कर्मों के क्षय होने पर शान्त होते हैं। दोषकर्मज (उभयजन्मा) रोग दोषप्रकोपक कारणों एवं पूर्व जन्मकृत कर्मों के क्षय होने पर शान्त होते हैं।

प्रकुपित वात की चिकित्सा

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यङ्गमर्दनम्।। (अ.हृ.सू. १३.१)
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम्।
स्निग्धोष्णा बस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता।। (अ.हृ.सू. १३.२)
दीपनैः पाचनैः सिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः।
विशेषान्मेद्यपिशितरसतैलानुवासनम्।। (अ.हृ.सू. १३.३)

वातदोष की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, मृदु संशोधन, मधुर, अम्ल, लवण एवं उष्ण आहार-औषध, अभ्यंग, मर्दन (हाथ, पैर आदि अंगों को दबाना), वेष्टन (वस्त्र आदि से कसकर बाँधना), त्रासन (डराना-धमकाना), परिषेक (सिंचन), पैष्टिक एवं गौडिक (पीठी एवं गुड़ से बने) मद्य, स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों की बस्ति, सुखाभ्यास (सुखपूर्वक रहना), दीपनीय-पाचनीय

द्रव्यों से सिद्ध (तिलतैल, अलसी तैल, गोघृत आदि अनेक स्रोतों से प्राप्त) स्नेह, वातशामक तैल और अनुवासन बस्ति का सेवन करना चाहिए।

प्रकुपित पित्त की चिकित्सा

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम्।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च।। (अ.हृ.सू. १३.४)
सुगन्धिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवनम्।
कण्ठेगुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः।। (अ.हृ.सू. १३.५)
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे।
प्रदोषश्चन्द्रमाः सौधं हारि गीतं हिमोऽनिलः।। (अ.हृ.सू. १३.६)
अयन्त्रणसुखं मित्रं पुत्रः सन्दिग्धमुग्धवाक्।
छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूषिताः।। (अ.हृ.सू. १३.७)
शीताम्बुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः।
सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते।। (अ.हृ.सू. १३.८)
साम्भोजजलतीरान्ते कायमाने द्रुमाकुले।
सौम्या भावाः पयः सर्पिर्विरेकश्च विशेषतः।। (अ.हृ.सू. १३.९)

प्रकुपित पित्तदोष की चिकित्सा में घृतपान, मधुर एवं शीतल द्रव्यों से विरेचन, मधुर, तिक्त एवं कषाय रस प्रधान आहार-औषध, सुगन्धित, शीतवीर्य एवं हृदय को प्रिय लगने वाले गन्धद्रव्य, हृदयस्थल पर लटकने वाली शीतल मणियों (मोती, स्फटिक आदि) की माला, थोड़ी-थोड़ी देर में कर्पूर, चन्दन एवं उशीर (खस) का लेप, प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भिक काल) में सौध (चूने से पुते धवलगृह) की छत पर बैठकर चन्द्र-रश्मियों का सेवन, मनोहारी गीतों का श्रवण, शीतल वायु, अन्तरंग मित्रों, अस्पष्ट (तोतली) एवं मधुर वाणी वाले पुत्रों तथा मनोनुकूल व्यवहार करने वाली प्रिय एवं लज्जाशील पत्नी का संग, शीतल जलधाराओं वाले धारागृह

से युक्त गृह, बड़े-बड़े उद्यान, सुगम प्रवेश-मार्ग से युक्त स्वच्छ जल वाले विशाल तालाब का रेतयुक्त स्थान, कमल एवं कुमुदिनियों से युक्त जलाशय का तट और उस तट पर शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु के झोंकों से झूमते हुए सघन वृक्षों के मध्य तृणादि से बनी झोंपड़ियों में निवास, दूध, घृत आदि सौम्य स्वभाव वाले पदार्थों का सेवन तथा विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

प्रकुपित कफ की चिकित्सा

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम्।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम्।। (अ.हृ.सू. १३.१०)
दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीतिः प्रजागरः।
अनेकरूपो व्यायामश्चिन्ता रूक्षं विमर्दनम्।। (अ.हृ.सू. १३.११)
विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम्।
धूमोपवासगण्डूषा निःसुखत्वं सुखाय च।। (अ.हृ.सू. १३.१२)

प्रकुपित कफदोष की चिकित्सा में विधिपूर्वक तीक्ष्ण संशोधन (वमन-विरेचन), रूक्ष, अल्प, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाले आहार द्रव्य, पुरानी मदिरा, मैथुनकर्म, रात्रिजागरण, विभिन्न प्रकार के व्यायाम, रूक्ष अभ्यंग, वमन, यूष, मधु, मेदनाशक ओषधि, कफ नाशक धूमपान व गण्डूष और उपवास आदि का प्रयोग करना चाहिए। सुखमय जीवन (आरामतलब जीवन) का परित्याग कर देना चाहिए।

दोषों की चिकित्सा में युक्ति

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः।। (अ.हृ.सू. १३.१५)

सभी दोषों को उनके संचयकाल में ही शान्त कर देना चाहिए। संचयकाल की उपेक्षा करने से यदि दोष कुपित हो गये हों तो कुपित

दोष की चिकित्सा अकुपित दोष का विरोध न करते हुए करनी चाहिए अर्थात् कुपित दोष की ऐसी चिकित्सा करनी चाहिए जो कि अकुपित दोष को प्रकुपित न करे। इसी प्रकार तीनों दोषों के प्रकुपित होने पर जो दोष बलवान् हो, उसकी चिकित्सा शेष दो दोषों का विरोध न करते हुए करनी चाहिए अर्थात् ऐसा न हो कि एक दोष के शान्त होने पर शेष दो दोष प्रकुपित हो जाएँ।

विशुद्ध चिकित्सा

प्रयोग: शमयेद्व्याधिमेकं योऽन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्ध: शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्।। (अ.हृ.सू. १३.१६)

जो चिकित्सा एक व्याधि को शान्त करती है, परन्तु दूसरी व्याधि को उत्पन्न कर देती है, वह चिकित्सा विशुद्ध चिकित्सा नहीं होती है। जो चिकित्सा एक रोग का शमन करते हुए किसी दूसरे रोग को पैदा नहीं करती है, वही शुद्ध चिकित्सा होती है।

कोष्ठ से शाखादि में दोष-गमन के कारण

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च।। (अ.हृ.सू. १३.१७)
दोषा यान्ति-

व्यायाम करने, तीव्र जठराग्नि के होने(ऊष्मणस्तैक्ष्ण्यात्), अहितकर आहार-विहार का सेवन करने और स्वभाव से ही वायु के शीघ्रगामी होने से दोष कोष्ठ से शाखा (रक्तादि छ: धातुओं एवं त्वचा), अस्थिसन्धि एवं मर्मस्थानों में पहुँच जाते हैं।

शाखादि से कोष्ठ में दोष-गमन के उपाय

-तथा तेभ्य: स्रोतोमुखविशोधनात्।
वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात्।। (अ.हृ.सू. १३.१८)

स्रोतों का मुख शुद्ध हो जाने अर्थात् खुल जाने पर, दोषों की वृद्धि हो जाने पर, दोषों का विलयन एवं पाचन हो जाने पर और वायु के नियन्त्रित (प्रकृतिस्थ) हो जाने पर दोष शाखा, अस्थिसन्धि एवं मर्मस्थानों से कोष्ठ में आ जाते हैं।

शाखा से कोष्ठ में आये दोषों की स्थिति

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः।
ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि।।

(अ.हृ.सू. १३.१९)

दोष कोष्ठ में आकर बिना रोग उत्पन्न किये ही रुक जाते हैं और वहाँ रुककर स्वयं को कुपित करने वाले कारणों की प्रतीक्षा करते हैं तथा देश-काल आदि प्रकोपक कारणों का बल पाकर अपने स्थान में अथवा अन्य स्थानों में जाकर प्रकुपित हो जाते हैं।

अन्य-स्थानगत दोष की चिकित्सा

तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु।।(अ.हृ.सू.१३.२०)
आगन्तुं शमयेद् दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा।

अपने स्थान में स्थित वातादि दोषों की चिकित्सा दोषानुसार ही करनी चाहिए, जबकि दूसरे दोषों के स्थान में गये दोष की चिकित्सा दो प्रकार से करनी चाहिए।

१. स्थानिक दोष की अपेक्षा आगन्तुक दोष के बलवान् होने पर पहले आगन्तुक दोष की और बाद में स्थानिक दोष की चिकित्सा करनी चाहिए, परन्तु आगन्तुक दोष के निर्बल होने पर पहले स्थानिक दोष की और बाद में आगन्तुक दोष की चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् बलवान दोष की चिकित्सा पहले तथा निर्बल दोष की चिकित्सा बाद में करनी चाहिए।

२. यदि आगन्तुक एवं स्थानिक दोनों दोष समान बल वाले हों तो पहले स्थानिक दोष की और बाद में आगन्तुक दोष की अथवा पहले आगन्तुक दोष की और बाद में स्थानिक दोष की चिकित्सा करनी चाहिए।

साम-निराम दोष के लक्षण

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढता:।। (अ.हृ.सू. १३.२३)
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसङ्गारुचिक्लमा:।
लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्यय:।। (अ.हृ.सू. १३.२४)

स्रोतों में अवरोध, बल की हानि, शरीर में भारीपन, वायु का अवरोध, आलस्य (तन्द्रा), आहार का अपचन (अजीर्ण का होना), मुखस्राव (मुख से पानी छूटना), पुरीषादि मलों की अप्रवृत्ति (विबन्ध का होना, मूत्र का रुक जाना, पसीना न आना आदि), अन्न में अरुचि (भूख का न लगना) एवं ग्लानि आदि साम दोष के लक्षण हैं। निराम-दोष के लक्षण साम-दोष के लक्षण से विपरीत होते हैं।

आम दोष के लक्षण

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते।। (अ.हृ.सू. १३.२५)
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात्।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम्।। (अ.हृ.सू. १३.२६)
आमेन तेन सम्पृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता:।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा:।। (अ.हृ.सू. १३.२७)

अग्निमांद्य होने पर रस धातु (प्रथम धातु) का ठीक ढंग से पाचन न होने पर अपक्व रसधातु वातादि दोषों से दूषित होकर तथा आमाशय में स्थित होकर 'आम' कहलाती है। अन्य आचार्यों के अनुसार जिस प्रकार कोद्रव (कुधान्य) में देश और काल के कारण

विष उत्पन्न हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अत्यधिक दूषित वातादि दोषों के परस्पर सम्मूर्च्छित (एकरूप) होने से आम दोष की उत्पत्ति होती है। इस आम से मिले हुए दूष्यों (वातादि दोष, रसादि धातु एवं पुरीष आदि मल) को 'साम' कहते हैं तथा इनसे उत्पन्न रोगों को 'सामरोग' कहते हैं।

आमदोष की चिकित्सा

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान् न निर्हरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव।।(अ.हृ.सू.१३.२८)
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः।
पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।। (अ.हृ.सू. १३.२९)
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्।

सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए साम दोष का संशोधन द्वारा निर्हरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि आम से मिश्रित दोष रसादि धातुओं में लीन होकर सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं, जिसके कारण वे उत्क्लेशित नहीं हो पाते हैं। अतः इन दोषों को बाहर निकालने का प्रयत्न करने पर शरीर का नाश हो जाता है, जैसे- कच्चे फल से रस निकालने के प्रयत्न में रस के आश्रय अर्थात् फल का ही नाश हो जाता है। अतः ऐसी स्थिति में दीपन, पाचन, स्नेहन और स्वेदन कर्मों के द्वारा आमदोष को शुद्ध करके रोगी के बलानुसार उचित काल में शोधन द्रव्यों द्वारा दोषों का यथासमीप मार्गों से संशोधन करना चाहिए।

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान्।। (अ.हृ.सू. १३.३०)
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च।

दोषों का शोधन उसी ओर से करना चाहिए, जिस ओर उनके निर्हरण द्वार की समीपता हो, जैसे- आमाशयगत दोष को वमन द्वारा मुखद्वार

से, शिरोगत दोष को नस्य द्वारा नासाद्वार से और पक्वाशयगत दोष को विरेचन द्वारा गुदमार्ग से शीघ्र ही निकाल देना चाहिए।

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान्वहतः स्वयम्।। (अ.हृ.सू.१३.३१)
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः।
प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः।। (अ.हृ.सू. १३.३२)
विबद्धान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा। (अ.हृ.सू. १३.३३)

यदि साम दोष स्वयं ही ऊर्ध्वमार्ग या अधोमार्ग से प्रवृत्त हो रहे हों तो इनको स्तम्भनीय औषधों द्वारा रोकना नहीं चाहिए, अन्यथा 'रोगानुत्पादनीय' अध्याय में कहे गये अतिस्थौल्य आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत: हितकर भोजन करने वालों में स्वयं प्रवृत्त हो रहे दोषों की प्रारम्भ में उपेक्षा कर देनी चाहिए अर्थात् शुरुआत इन्हें रोकना नहीं चाहिए। शरीर में रुके हुए आमदोषों की विविध पाचन ओषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए अथवा आम के पाचनोपरान्त दोषों का संशोधन (निर्हरण) करना चाहिए।

वातशमन के उपाय

स्निग्धोष्णस्थिरवृष्यबल्यलवणस्वाद्वम्लतैलातप-
स्नानाभ्यञ्जनबस्तिमांसमदिरासंवाहनोन्मर्दनम्।
स्नेहस्वेदनिरूहनस्यशयनस्थानोपनाहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं वातं प्रशान्तिं नयेत्।। (यो.श. ९६)

स्निग्ध, उष्ण, स्थिर, वृष्य, बल्य, लवण, स्वादु (मधुर), अम्ल (खट्टा) एवं तेलयुक्त पदार्थों से वात का शमन करना चाहिए। आतप (धूप) के सेवन, गर्म जल द्वारा स्नान, अभ्यञ्जन (तेल मालिश), बस्ति (अनुवासन बस्ति), संवाहन (हाथों से पैर आदि को दबाना/शनै:-शनै: अंगों पर आहनन करना), उन्मर्दन (अंगों को सुखपूर्वक मसलना)- इनसे भी वात का शमन होता है। इसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन, निरूह बस्ति, नस्य,

शयन, स्थान= आरामदायक स्थिति में बैठे रहना, विश्राम करना, उपनाह (पुल्टिस आदि बांधना) इत्यादि खान-पान एवं विहार रूप भेषज से वात का शमन होता है। शरीर, वाणी एवं मन की चेष्टा को 'विहार' कहते हैं। यहाँ वर्णित संवाहन आदि को विहार के अन्तर्गत समझना चाहिए।

पित्तशमन के उपाय

तिक्तस्वादुकषायशीतपवनच्छायानिशावीजनं
ज्योत्स्नाभूगृहयन्त्रवारिजलजस्त्रीगात्रसंस्पर्शनम्।
सर्पिःक्षीरविरेकसेकरुधिरस्रावप्रदेहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं पित्तं प्रशान्तिं नयेत्।। (यो.श. ९७)

तिक्त (कड़वे पदार्थ), स्वादु (मधुर पदार्थ), कषाय (कसैले रस वाले पदार्थ), शीतल गुण वाले पदार्थ, शीतल पवन, शीतल छाया, शीतल रात, शीतल वीजन (जलसिक्त पंखे की हवा), ज्योत्स्ना (चन्द्रिका/चाँदनी), भूगृह (शीतल तहखाना), यन्त्रवारि (यन्त्रनिर्गत जल, फव्वारे से निकलने वाला जल, इसी प्रकार कूलर से वायु के साथ निकलने वाला जल आदि) से पित्त शान्त होता है। जलज (कमल/नीलकमल) तथा शीतल कान्ता के शरीर के संस्पर्शन आदि से भी पित्त का शमन होता है। इसी प्रकार घृत, क्षीर (दूध), विरेक (विरेचन), रुधिरस्राव (रक्तमोक्षण) एवं प्रदेह (चन्दन आदि के शीतल लेपन) से पित्त का शमन होता है। इस प्रकार यहाँ निर्दिष्ट किए गए खान-पान एवं विहार रूप भेषज से पित्त का शमन करना चाहिए।

रक्तमोक्षण- पित्तशमन के लिए रक्तमोक्षण (विकृत खून को निकालना) भी एक उपाय बताया गया है। इसके पीछे कारण यह है कि रक्त को पित्त का अधिष्ठान (आधार) माना गया है। कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल एवं विदाही पदार्थों के अधिक एवं निरन्तर सेवन से बढ़ा हुआ पित्त

रक्त में मिल जाता है, तब वैद्य के परामर्शानुसार पित्त से दूषित रक्त का सीमित मात्रा में जलौका (जोंक) या शृङ्गयन्त्र (सिंगी) द्वारा स्राव कराया जाता है। इससे रक्ताश्रित पित्त के निकलने से रोगी को राहत मिलती है।

कफशमन के उपाय

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवनं
स्त्रीसेवाध्वनियुद्धजागरजलक्रीडापदाघातनम्।
धूमात्युष्णशिरोविरेकवमनस्वेदोपवासादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं जयेत्।। (यो.श. ९८)

रूक्ष (रूखे), क्षार (यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार आदि), कषाय (कसैले), तिक्त (कड़वे), कटुक (चरपरे) पदार्थों के सेवन से कफ का शमन करना चाहिए। व्यायाम, निष्ठीवन (थूक, कफनिर्गमन), स्त्रीसंसर्ग (मैथुन), अध्व (मार्ग चलना/पैदल यात्रा), नियुद्ध (कुश्ती करना), जागर (जागरण/ अधिक न सोना), जलक्रीडा (तैरना), पदाघातन (पैरों द्वारा शरीर को दबवाना अथवा पैरों के बल उछलना), औषधीय धूमपान, अत्युष्ण (बहुत उष्ण/ गर्म गुण वाले आहारद्रव्यों) का सेवन, शिरोविरेचन (नस्य), वमन, स्वेद (पसीना लेना) एवं उपवास आदि क्रियाओं से भी कफ का शमन होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त भोजन-पान, विहार एवं औषधों से प्रबल कफ को जीतना चाहिए।

त्रिदोष-शोधन के उपाय

कफप्रकोपे वमनं सनस्यं विरेचनं पित्तभवे विकारे।
वातात्मके वस्तिमुदाहरन्ति संसर्गजे तु व्यतिमिश्रमेतत्।।
(यो.श. ९९)

कफ का प्रकोप होने पर वमन व नस्य लेना चाहिए। पित्तजन्य विकार होने पर विरेचन लेना चाहिए तथा वातजन्य विकार में बस्ति लेनी चाहिए।

यदि एक से अधिक दोषों के संसर्ग से विकार उत्पन्न हुए हों तो उनके निराकरण के लिए पूर्वोक्त वमन आदि उपायों को सम्मिलित रूप में अपनाना चाहिए।

दोषों के प्रकोप काल

हेमन्तवर्षाशिशिरेषु वायोः पित्तस्य वर्षान्तनिदाघयोश्च।
कफस्य कोपः कुसुमागमे च कुर्वीत यद्यद्विहितं यथैषाम्।।
(यो.श. १००)

हेमन्त ऋतु (मार्गशीर्ष, पौष), वर्षा ऋतु (श्रावण, भाद्रपद) एवं शिशिर ऋतु (माघ, फाल्गुन) में वायु का प्रकोप होता है। वर्षान्त=शरद् ऋतु (आश्विन, कार्त्तिक) तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ) में पित्त का प्रकोप होता है। कुसुमागम (वसन्त ऋतु- चैत्र, वैशाख) में कफ का प्रकोप होता है। ऐसा जानकर उक्त कालों में इनके शमन हेतु पूर्वोक्त उपाय अपनाने चाहिएं।

अवस्थानुसार त्रिदोष

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्।। (सु.सू. ३५.३१)

बाल्यावस्था में कफ बढ़ता है। मध्यम अवस्था में पित्त और वृद्धावस्था में वात अधिक बढ़ जाता है, अतः इनका विचार करते हुए भैषज्यसेवन करना चाहिए।

दोष-शमन के उपाय

वातोऽम्लतैललवणैर्मधुरान्नपानैः
पित्तं तथा मधुरतिक्तकषायशीतैः।
श्लेष्मापि तिक्तकटुरूक्षकषायतीक्ष्णै-
रामः प्रशान्तिमुपयात्यपतर्पणेन।। (यो.श. १०१)

अम्ल (खट्टे भोज्य पदार्थ), तैल, लवण एवं मधुर अन्नपान से वात का शमन होता है, मधुर, तिक्त (कड़वे), कषाय (कसैले) एवं शीतल गुण वाले अन्नपान से पित्त का शमन होता है। तिक्त (कड़वे), कटु (चरपरे), रूक्ष (रूखे), कषाय (कसैले), तीक्ष्ण (मिर्च आदि तेज) भोज्य पदार्थों से कफ का शमन होता है। अपतर्पण (उपवास) एवं काली मिर्च, सोंठ आदि पाचन द्रव्यों के सेवन से आम (आंव) का शमन होता है।

अध्याय-३

त्रय उपस्तम्भ

(आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य)

आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः।
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः।। (अ.हृ.सू. ७.५२)

आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य को युक्तिपूर्वक प्रयोजित करने से शरीर का ठीक उसी प्रकार धारण होता है, जिस प्रकार स्तम्भों (खम्भों) पर मकान (आगार) टिका रहता है।

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः।।
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः। (सु.चि.२४.६८)

आहार, तृप्तिदायक, शीघ्र बलकारी, देहधारक तथा आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और जठराग्नि को बढ़ाने वाला होता है।

आहार-मात्रा

मात्राशी[1] स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।।

(च.सू. ५.३)

पुरुष को मात्राशी (परिमाण के अनुसार भोजन करने वाला) होना चाहिए और आहार की मात्रा जठराग्नि के बल की अपेक्षा करती है।

यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।। (च.सू. ५.४)

---

१. मात्रां मात्रावदन्नमशितुं भोक्तुं शीलं यस्यासौ मात्राशी। यदि वा मात्रयाऽशितुं शीलं यस्य स तथोक्तः। तत्रेह मात्राऽनपायि परिमाणम्। (चक्रपाणिः)

भुक्त अन्न का जितना परिमाण प्रकृति का उपघात न करके यथासमय पच जाता है, उतना परिमाण वाला आहार ही उपभोक्ता के लिए उचित समझना चाहिए।

मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्ने: प्रवर्तिका।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि।। (अ.हृ.सू. ८.१)

आहार की उचित मात्रा से लाभ- सभी को सदा ही अपनी जठराग्नि के अनुसार मात्रावत् भोजन करना चाहिए, क्योंकि उचित मात्रा में किया गया भोजन जठराग्नि को बढ़ाता है। गुरु एवं लघु दोनों ही प्रकार के भोजन द्रव्यों को मात्रा की अपेक्षा होती है। इसलिए आहार की मात्रा का निर्धारण गुरु और लघु आहार द्रव्यों को दृष्टिगत रखते हुए करना चाहिए।

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति।। (अ.हृ.सू. ८.२)

भोजन की उचित मात्रा- लघु आहार-द्रव्यों की जितनी मात्रा से व्यक्ति की तृप्ति हो जाती है, उससे आधी मात्रा में ही गुरु आहार का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार लघु आहार का भी अति मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि लघु आहार का अधिक मात्रा में सेवन करना अहितकर होता है। जिस व्यक्ति को भोजन की जितनी मात्रा सुखपूर्वक पच जाये, उस व्यक्ति के लिए भोजन की वही उचित मात्रा होती है।

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते।। (अ.हृ.सू. ८.३)
अतिमात्रं पुन: सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्।

अल्प या अतिमात्रा वाले भोजन से हानि- अल्प-मात्रा में सेवन किया गया भोजन न तो शरीर का उपचय (पुष्टि) करता है और न ही शरीर

के बल एवं ओज में वृद्धि करता है, बल्कि वात रोगों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार अतिमात्रा में सेवन किया गया भोजन शीघ्र ही सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है।

आहार-सेवन की विधि

कालें सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः।।
(अ.हृ.सू. ८.३५)

षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम्।
स्नातः क्षुद्वान् विविक्तस्थो धौतपादकराननः।। (अ.हृ.सू. ८.३६)
तर्पयित्वा पितॄन् देवानतिथीन् बालकान् गुरून्।
प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान्।। (अ.हृ.सू. ८.३७)
समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम्।
इष्टमिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचिभक्तजनाहृतम्।। (अ.हृ.सू. ८.३८)

उचित समय पर सात्म्य (शरीर के अनुकुल), शुद्ध (पवित्र), हितकर, स्निग्ध, उष्ण, लघु, मधुर एवं षड्रस-युक्त भोजन करना चाहिए। भोजन तन्मयतापूर्वक (मन लगाकर) करना चाहिए। न अतिशीघ्रता से और न ही अधिक मन्द गति से भोजन करना चाहिए। स्नान करने के उपरान्त भूख लगने पर ही भोजन करना चाहिए। एकान्त में बैठकर और हाथ-पैर तथा मुख धोकर ही भोजन करना चाहिए। पितरों का तर्पण कर, देवताओं को अर्पित कर, अतिथियों, बच्चों, बूढ़ों आदि को पहले भोजन कराना चाहिए। जिनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व हो तथा पशु-पक्षियों आदि सभी के लिए भोजन की व्यवस्था कर अपनी प्रकृति आदि का विचार करते हुए भोजन करना चाहिए। भोजन की निन्दा न कर मौनपूर्वक अपने प्रियजनों के साथ बैठकर साफ-सुथरे सेवकों द्वारा परोसा गया द्रवप्रधान प्रिय एवं रुचिकर भोजन करना चाहिए।

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।। (अ.हृ.सू. ८.४६)
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्।

आमाशय के चार भागों में से दो भाग अन्न से और एक भाग द्रव से भरना चाहिए, जबकि एक भाग वात आदि दोषों की क्रियाओं के लिए खाली छोड़ देना चाहिए।

आहार-सेवन का क्रम

बिसेक्षुमोचचोचाम्रमोदकोत्कारिकादिकम्।
अद्याद् द्रव्यं गुरु स्निग्धं स्वादु मन्दं स्थिरं पुरः।। (अ.हृ.सू. ८.४५)
विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम्।

कमलकन्द, गन्ना, केला, चोच (नारियल) आम, मोदक, लप्सी/ हलुवा और अन्य गुरु, स्निग्ध, मधुर, गाढ़े एवं स्थिर खाद्य पदार्थों को भोजन के प्रारम्भ में खाना चाहिए। इसके विपरीत गुण वाले आहार द्रव्यों को अर्थात् हल्के, रूखे एवं तीखे खाद्य पदार्थों को भोजन के अंत में खाना चाहिए और अधिक अम्ल एवं लवण रस वाले खाद्य पदार्थों को भोजन के मध्य में खाना चाहिए।

द्रव्यों की लघुता एवं गुरुता का आधार

न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघवमकारणं मन्येत, लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति; पृथ्वीसोमगुणबहुलानीतराणि, तस्मात् स्वगुणादपि लघून्यग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यल्पदोषाणि चोच्यन्तेऽपि सौहित्योपयुक्तानि, गुरूणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्यात्, अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौहित्योपयुक्तान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात्; सैषा भवत्यग्निबलापेक्षिणी मात्रा।। (च.सू. ५.६)

द्रव्यों का गुरु और लाघव गुण अकारण नहीं समझना चाहिए; क्योंकि लघु द्रव्य वात तथा अग्नि गुण की प्रधानता वाले होते हैं तथा गुरु द्रव्य

पृथ्वी और जल गुण की प्रधानता वाले होते हैं। इसलिए लघु द्रव्य अपने गुणों के कारण जाठराग्नि को प्रदीप्त करने के स्वभाव वाले होते हैं और तृप्तिपर्यन्त[१] खाये हुए भी अल्पदोषकारी होते हैं, गुरुद्रव्य असामान्य गुण वाले होने के कारण अग्नि का उद्दीपन नहीं करते हैं। अतः भरपेट खाने पर ये गुरु द्रव्य अत्यन्त दोषकारक होते हैं, किन्तु व्यायाम करने वाले एवं तीव्र जठराग्नि वाले व्यक्तियों के लिए ये द्रव्य दोषकारक नहीं होते हैं, इसलिए वह मात्रा[२] सदा 'अग्निबलापेक्षिणी' होती है[३]।

आहार-मात्रा की द्रव्यसापेक्षता

न च नापेक्षते द्रव्यं; द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते, लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम्।।
(च.सू. ५.७)

ऐसा नहीं है कि आहारमात्रा केवल अग्निबल की अपेक्षा करती है, अपितु तात्पर्य यह है कि आहारमात्रा द्रव्य की भी अपेक्षा करती है। यथा- द्रव्य की अपेक्षा से ही गुरु द्रव्यों के तीन भाग अथवा दो भाग से तृप्ति का उपदेश दिया गया है तथा लघु द्रव्यों का भी अतिसौहित्य (पेटभर सेवन करना) जाठराग्नि के लिए उचित नहीं है।

मात्रानुसार आहार

मात्रावद्ध्यशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति।। (च.सू. ५.८)

---

१. सौहित्यं मात्राव्यतिक्रमेण तृप्तिः। (चक्रपाणिः)
२. अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने।
मात्रा कारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे।। (च.सू. २७.३४०)
३. गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते।। (च.सू. २७.३४१)

मात्रानुसार ग्रहण किया गया आहार प्रकृति का उपहनन न करके उपयोक्ता को उत्तम बल, वर्ण, सुख व आरोग्य तथा आयु (पूर्णायु) से अवश्य ही सम्पन्न करता है।

आहार मर्यादा

एकभुक्तं सदारोग्यं द्विभुक्तं बलवर्धनम्।
त्रिभुक्तं च सदारोगं चतुर्भुक्तं तु मारकम्।। (द्र.र.नि. ८)

एक बार भोजन करना सदा आरोग्यकारक होता है, दो बार भोजन करना बलवर्द्धक होता है। तीन बार भोजन करना सदा रोगकारक होता है तथा चार बार भोजन करना तो साक्षात् मारक ही बन जाता है।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। (मा.नि. १.१४)

कुपित हुए मल ही सब रोगों के कारण होते हैं। एक काल भोजन करने वाले को अजीर्णता या मलों के कुपित होने की सम्भावना प्रायः नहीं होती है।

मात्रापूर्वक आहार के गुण

मात्रावदश्नीयात्[1]; मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथं च परिपाकमेति; तस्मान्मात्रावदश्नीयात्।। (३) (च. वि. १.२४)

मात्रावद् (उचित मात्रा में) भोजन करना चाहिए; क्योंकि मात्रापूर्वक खाया हुआ भोजन वात, पित्त, कफ को प्रकुपित न करते हुए आयु को ही बढ़ाता है। (उचित मात्रा में खाने पर आहार) सुखपूर्वक गुदा तक जाता है, जठराग्नि को भी नष्ट नहीं करता अर्थात् बिना किसी कष्ट के पच जाता है। इसलिए उचित मात्रा में ही भोजन करना चाहिए।

---

१. मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी। (च.सू. ५.३)

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः; तद्यथा- एकमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणाम्, एकं द्रवाणाम्, एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्, एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति। (च. वि. २.३)

भोजन करते समय मनुष्य को अपने आमाशय में तीन भाग रखने चाहिएं। एक भाग ठोस पदार्थों (रोटिका, ओदनादि) के लिए, दूसरा पेय पदार्थों (जल, फल, रसादि) के लिए तथा तीसरा वात-पित्त-कफ के लिए खाली रखना चाहिए। इस प्रकार से भोजन करते हुए मनुष्य को आहार की न्यूनाधिक मात्रा से होने वाले रोग नहीं होते हैं।

न च केवलं मात्रावत्त्वादेवाहारस्य कृत्स्नमाहारफलसौष्ठवमवाप्तुं शक्यं, प्रकृत्यादीनामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्तफलत्वात्[1]। (च. वि. २.४)

केवल भोजन की मात्रा को ध्यान में रखकर भोजन करने मात्र से सम्पूर्ण सौष्ठव (लाभ) प्राप्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि आहार से प्राप्त होने वाले समस्त उत्तम फल प्रकृत्यादि[2] अष्ट आहारविधिविशेष आयतनों पर विभाजित हैं अर्थात् इन आठों के ही पृथक्-पृथक् परिणाम होते हैं।

तत्रायं तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः। एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वममात्रावत्त्वं च। (च. वि. २.५)

इस प्रकरण में अशन की राशि को अधिकृत करके भोजन की मात्रा और अमात्रा के फल का निश्चय करना ही प्रयोजन है। भोजन की जो

---

१. प्रविभिन्नफलत्वात् । (चक्रपाणिः)

२. प्रकृति-करण-संयोग-राशि-देश-काल-उपयोगसंस्था-उपयोक्ता। (वि. १.२१)

राशि कही है, उसमें इतना ही विचार करना है कि कौन सा आहार मात्रा युक्त है और कौन सा मात्रा युक्त नहीं है।

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः। तद्यथा कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनोच्छ्वास-प्रश्वासहास्यसङ्कथासु सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं च, इति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति।

(च. वि. २.६)

आचार्य कहते हैं कि हमने भोजन की मात्रा का कथन उदर के तीन रिक्त स्थानों के द्वारा कह दिया है। अब पुनः विस्तार से उसकी व्याख्या करेंगे। मात्रापूर्वक भोजन करना उसे कहते हैं कि भोजन करने पर उदर में परेशानी न हो, हृदय की स्वाभाविक गति में अवरोध न हो तथा पार्श्वभागों में फटने जैसी पीड़ा महसूस न हो, आमाशय में गुरुता न लगे, इन्द्रियाँ भी तृप्त हो जाएँ, बुभुक्षा-पिपासा भी शान्त रहे। खड़ा होने, बैठने, सोने, चलने, श्वास लेने-छोड़ने, हँसने और बातचीत करने में सुख का अनुभव हो। प्रातः और सायं अच्छे से भोजन पच जाए अर्थात् अग्रिम भोजन के समय अच्छी भूख लगे और किया हुआ भोजन शरीर में बल वर्ण और मांस वृद्धि का कारण बने, यही मात्रापूर्वक आहार का लक्षण है।

अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते हीनम्, अधिकं च। तत्र हीनमात्रामाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरम-नायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनम्[1] अलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते। अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः।

---

१. सारविधमनम्- सारों का ह्रास या नष्ट करना अर्थ अभिप्रेत है।

यो हि मूर्तानामाहारजातानां सौहित्यं गत्वा द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वाप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः। तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यपार्श्वपृष्ठकटिग्रहसिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति, पित्तं पुनर्ज्वरातीसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि, श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि। (च. वि. २.७)

आहार की विषम मात्रा दो प्रकार की होती है, ऐसा आचार्य कहते हैं- १. हीनमात्रा, २. अधिकमात्रा। हीन अर्थात् अल्पमात्रा में भोजन करने से बल और वर्ण का क्षय होता है, पूर्ण तृप्ति भी नहीं मिलती और उदावर्त्त[१] होता है। आयु, पौरुष और शरीर का ओज-तेज भी क्षीण हो जाता है। हीनमात्र भोजन से शरीर मन, बुद्धि, इन्द्रियों का बल नष्ट हो जाता है। यह अष्ट सारों को नष्ट करता है तथा शरीर को तेजोविहीन कर देता है। अस्सी (८०) प्रकार के वातविकारों का तो समूह ही अत्यल्पाहारी पर टूट पड़ता है, ऐसा आचार्य कहते हैं।

अब अधिक मात्रा में भोजन करने से होने वाले परिणामों को कुशल वैद्य बतलाते हैं कि अतिभोजन तो सभी रोगों को बढ़ता है। जो मनुष्य गरिष्ठ पदार्थों को पेटभर खाकर द्रव्य=पेय पदार्थों को भी तृप्ति पर्यन्त लेता है, इससे उसके आमाशय में स्थित वात-पित्त-कफ एक साथ बढ़ जाते हैं। ये कुपित हुए तीनों दोष आमाशय में अपक्व आहार के साथ मिलकर उसी आहार के आश्रय से आमाशय के एक भाग से आहार को अवरुद्ध

१. उदर का रोग विशेष, जिसमें वायु की ऊर्ध्वगति होती है। जिसके परिणामस्वरूप मलबन्ध हो जाता है।

करते हुए सहसा उस आहार को मुख या गुदा की ओर निकालते हैं। इस प्रकार उस अति भोजन करने वाले मनुष्य में पृथक्-पृथक् विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें वात, उदरशूल, आनाह (अफारा), अङ्गों में पीडा, मुख का शुष्क होना, मूर्छा, चक्कर आना, अग्नि की विषमता, पार्श्व, पृष्ठ और कटिस्थान पर जकड़न तथा शिराओं में आकुञ्चन-स्तम्भन होता है। पित्तज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, पिपासा, मद, भ्रम और प्रलाप होने लगता है और कफवमन, अरोचक, अपचन, शीतज्वर, आलस्य व अङ्गों में भारीपन महसूस होने लगता है।

न च खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धा-नामकाले चान्नपानानामुपसेवनं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानो-द्वेगभयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते, तदप्याममेव प्रदूषयति।
(च. वि. २.८)

ऐसा नहीं है कि अतिमात्रा में किया हुआ भोजन ही आमदोष (अजीर्ण) करता है, अपितु गरिष्ठ (देर से पचने वाला भारी), रूक्ष, शीत, शुष्क, द्विष्ट (अप्रिय भोजन), विष्टम्भी (अवरोधक), विदाही, अपवित्र व विरुद्धाहार भी अकाल में सेवन करने से आमदोष-जनक होता है। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, अभिमान, उद्वेग और भय से दुःखी होकर जो भोजन किया जाता है, वह भोजन भी आमदोष-जनक होता है।

मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः।। (च. वि. २.९)

चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःखशय्या (कष्टप्रद शय्या) तथा रात्रिजागरण होने पर मात्रापूर्वक किया हुआ पथ्य भोजन भी ठीक से नहीं पचता अर्थात् आमदोष उत्पन्न करता है।

गुरु आहार-ग्रहण में निर्देश

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः।। (च.सू. ५.९)

गुरु द्रव्य कदापि अग्निप्रदीपन स्वभाव वाले नहीं होते। अतः भोजन करने के उपरान्त आटे की पिट्ठी से निर्मित पदार्थ, नया चावल और पोहा[1] नहीं खाना चाहिए। भूख लगने पर भी यथोचित मात्रा में ही इनका सेवन करना चाहिए।

मन्दानलो नरो द्रव्यं मात्रागुरु विवर्जयेत्।
स्वभावतश्च गुरु यत् तथा संस्कारतो गुरु।।
मात्रागुरु तु मुद्गादि माषादिः प्रकृतेर्गुरुः।
संस्कारगुरु पिष्टान्नं प्रोक्तमित्युपलक्षणम्।।
(भा.प्र., दिनचर्यादिप्रकरणम् १४२-४३)

गुरु उसे कहते हैं, जो पचने में भारी हो, जैसा कि भावप्रकाश में कहा है–मन्दाग्नि वाले व्यक्ति को मात्रागुरु (मात्रा के कारण जो गुरु हो जाता है) भोज्य पदार्थ छोड़ देने चाहिएं। इसी प्रकार जो भोज्य पदार्थ स्वभावतः गुरु हों तथा संस्कार से अर्थात् तलने आदि से गुरु हों, उन्हें भी छोड़ देना चाहिए। मूंग आदि यद्यपि लघु (हल्के, सुपाच्य) हैं, परन्तु वे भी अधिक मात्रा में खा लेने पर गुरु हो जाते हैं। इस प्रकार मूंग आदि मात्रागुरु होते हैं। माष (उड़द) आदि प्रकृति (स्वभाव) से ही गुरु होते हैं। पिष्टान्न (आटा) संस्कार से अर्थात् घी आदि में भूनने से गुरु हो जाता है, जैसे- परांठे, हलवा इत्यादि। इस प्रकार जो संस्कारित करने से गुरु हो जाता है, उसे संस्कारगुरु कहते हैं। उक्त रीति से तीन प्रकार के गुरु पदार्थों के ये तीन उपलक्षण हैं, उदाहरण हैं।

---

१. पृथुका गुरवो भृष्टान् भक्षयेदल्पशस्तु तान् (च.सू. २७.२७३)

भोजन का काल

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति।
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं, कालः स हि मतः।।

(अ.हृ.सू. ८.५५)

मल-मूत्र की सम्यक् प्रवृत्ति हो जाने पर, हृदय के शुद्ध हो जाने पर, वात आदि दोषों के अपने-अपने मार्गों में प्रवृत्त हो जाने पर, शुद्ध (दोषरहित) डकार आने पर, भूख लगने पर, अपानवायु के उचित ढंग से निकल जाने पर, जठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर, इन्द्रियों के निर्मल हो जाने पर और शरीर के हल्के हो जाने पर ही विधिपूर्वक आहार-सेवन करना चाहिए; क्योंकि यही आहार-ग्रहण करने का उचित समय होता है।

स्वस्थानस्थेषु दोषेषु स्रोतःसु विमलेषु च।
जातायां च प्रकाङ्क्षायामन्नकालं विदुर्बुधाः।। (का.खि. ५.१०)

दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, स्रोतों के मल रहित हो जाने पर तथा भोजन के प्रति इच्छा जागृत होने पर विद्वान् लोग अन्न का काल कहते हैं अर्थात् जब तक दोष अपने स्थान में स्थित न हों, स्रोत मलरहित न हों तथा भोजन की इच्छा उत्पन्न न हो तब तक अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए।

कालेऽश्नतोऽन्नं स्वदते तुष्टिः पुष्टिश्च वर्धते।
सुखेन जीर्यते न स्युः प्रतान्ताजीर्णजा गदाः।। (का.खि. ५.११)

समुचित काल में भोजन करने वाले व्यक्ति को अन्न स्वादु लगता है, मन को सन्तुष्ट करता है तथा शरीर को पुष्ट करता है। उचित काल पर सेवित अन्न सुखपूर्वक जीर्ण हो जाता है तथा प्रतान्त (शरीर में जलांश की

कमी) एवं अजीर्ण से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते हैं। सुश्रुत में भी कहा है- **'काले भुक्तं प्रीणयति'।** (सु.सू. ४६.४७२)

भोजन-विधि

उष्णं स्निग्धं मात्रावत् जीर्णे वीर्याविरुद्धम् इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितम् अजल्पन् अहसन् तन्मना भुञ्जीत, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्।। (च. वि. १.२४)

पूर्व भोजन के पच जाने पर उष्ण, स्निग्ध एवं उचित मात्रा में भोजन करना चाहिएं। भोजन में वीर्य-विरुद्ध (परस्पर विरोधी) द्रव्य नहीं होने चाहिए। अभीष्ट स्थान में बैठकर किया गया तथा अभीष्ट सामग्रियों से युक्त भोजन करना चाहिए। न बहुत शीघ्र, न बहुत धीरे-धीरे, न बातचीत करते हुए, न हँसते हुए भोजन करना चाहिए। एकाग्रचित्त होकर[1], सात्म्य-असात्म्य का सम्यक् अवलोकन कर भोजन करना चाहिए[2]।

तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः– उष्णमश्नीयात्; उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति; तस्मादुष्णमश्नीयात्।।(१)
(च. वि. १.२४)

उष्णता आदि से युक्त भोजन के सद्गुण इस प्रकार बताये गये हैं- उष्ण भोजन करना चाहिए क्योंकि उष्ण भोजन स्वादयुक्त होता है, यह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है और शीघ्र पच जाता है। यह वात का अनुलोमन करता है तथा कफ का परिह्रास (शोषण) कर देता है, इसलिए उष्ण[3] (गर्म, ताजा) भोजन करना चाहिए।

१. काले सात्म्यं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः। (अ.हृ.सू. ८.३५)
२. समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन् द्रवम्। (अ.हृ.सू. ८.३८)
३. द्रव्यस्य स्वेदने कर्मणि शक्तिः उष्णः।

स्निग्धमश्नीयात्; स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, शरीरमुपचिनोति, दृढीकरोतीन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति; तस्मात् स्निग्धमश्नीयात्।। (२)

(च. वि. १.२४)

स्निग्ध (घी, तेल से युक्त) भोजन करना चाहिए। खाया हुआ स्निग्ध आहार स्वादिष्ठ लगता है, खाने के पश्चात् मन्दाग्नि को प्रदीप्त करता है, शीघ्र पच जाता है तथा वात का अनुलोमन करता है। यह शरीर का उपचय (पुष्टि) करता है, इन्द्रियों को दृढ़ता प्रदान करता है, शारीरिक व मानसिक सभी प्रकार के बलों की वृद्धि करता है तथा रूप सौन्दर्य को बढ़ता है अत: स्निग्ध[1] भोजन करना चाहिए।

'जीर्णे हितं मितं चाद्यात्' इत्यायुर्वेदशासनात्।
भोक्तव्यं सघृतं सोष्णं हितं पथ्यं मितं तथा।

जीर्ण होने पर अर्थात् पहले किए भोजन के पच जाने पर हितकर व मित (जितनी भूख हो उतना, नपा-तुला) भोजन करें। आयुर्वेद के उपदेशानुसार घृतसहित उष्ण, हितकारी, पथ्य व मित भोजन करना चाहिए।

जीर्ण होने पर भोजन करने के लाभ

जीर्णेऽश्नीयात्; अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ

---

१. वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्च: स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते।। (च.सू. १३.५८)

चोदीर्णे जातायां च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु विशुद्धे चोद्गारे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीष-वेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलं; तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात्।। (४) (च. वि. १.२४)

पूर्वकृत भोजन का पाचन होने के पश्चात् ही भोजन करें; क्योंकि अजीर्ण[1] की स्थिति में आहार ग्रहण करने पर पूर्व में किये गये भोजन का अपक्व रस, पश्चात् खाये हुए भोजन के रस के साथ मिलकर वात, पित्त, कफादि को शीघ्र ही प्रकुपित कर देता है। आहार के पच जाने पर आहार करने वाले मनुष्य के दोषों की स्थिति यथास्थान हो जाने पर तथा अग्नि के उदीर्ण होने पर एवं भूख लगने पर, रसवाही मार्गों के खुल जाने पर, डकार आ जाने पर, हृदय के शुद्ध हो जाने पर, वायु का अनुलोमन तथा वात, मूत्र व पुरीष के वेगों को त्यागने पर ग्रहण किया गया भोजन शरीर की धातुओं को दूषित न करता हुआ केवल आयु को ही बढ़ाता है (न कि रोगों को)। अतः भोजन तभी करना चाहिए जब पूर्वकृत भोजन का सम्यक् प्रकार से पाचन हो गया हो।

वीर्यविरुद्ध भोजन का निषेध

वीर्याविरुद्धमश्नीयात्; अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि विरुद्धवीर्या-हारजैर्विकारैर्नोपसृज्यते; तस्माद् वीर्याविरुद्धमश्नीयात्।। (५)
(च. वि. १.२४)

वीर्याविरुद्ध (परस्पर अविरोधी गुण वाला) भोजन करना चाहिए। वीर्याविरुद्ध भोजन करने वाला पुरुष विरुद्धवीर्य आहार से होने वाले विकारों से ग्रस्त नहीं होता। अतः वीर्याविरुद्ध भोजन ही करना चाहिए।

१. विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता।
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः।। (अ.हृ.सू. ८.३०)

पवित्र स्थान पर भोजन का महत्त्व

इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्, इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति, तथैवेष्टैः सर्वोपकरणैः; तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्।। (६)

(च. वि. १.२४)

मनोनुकूल स्थान में बैठकर पात्र-आसनादि इष्ट साधन-सामग्री के साथ भोजन करना चाहिए। इष्ट स्थान में भोजन करता हुआ व्यक्ति अनिष्ट स्थान में उत्पन्न होने वाले मनोविघातकारी भावों से मनोव्यथा को प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार इष्ट सर्वोपकरणों के साथ भोजन करने वाला व्यक्ति भी मनोविघातकारी भावों से मनोव्यथा को प्राप्त नहीं होता, अतः अभीष्ट स्थान में अभीष्ट उपकरणों के साथ भोजन करना चाहिए।

शीघ्र भोजन का निषेध

नातिद्रुतमश्नीयात्, अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसादनं[१] भोजनस्याप्रतिष्ठानं[२] च, भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता; तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात्।। (७) (च. वि. १.२४)

मनुष्य को कभी भी शीघ्रता से भोजन नहीं करना चाहिए; क्योंकि शीघ्रता में भोजन करने से भोजन श्वासनली में चला जाता है, उचित स्थान पर नहीं जाता है, आमाशय में ठीक से नहीं पहुँचता। शरीर में भोजन शिथिल होकर पड़ा रहता है, पाचन क्रिया सुचारू रूप से नहीं हो पाती तथा शीघ्र भोजन करने से भोजन में होने वाले दोष- बाल, तिनका आदि पर ध्यान नहीं जाता और भोजन की सद्गुणता अर्थात् सुस्वादुता का आनन्द नहीं मिल पाता, इसलिए शीघ्रता से भोजन न करें।

---

१. उत्स्नेहनम् = उन्मार्गगमनम्, अवसादनम् = अवसादः। (चक्रपाणिः)
२. हृदयस्थत्वेन कोष्ठाप्रवेशः। (चक्रपाणिः)

मन्द भोजन का निषेध

नातिविलम्बितमश्नीयात्, अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु भुङ्क्ते, शीतीभवत्याहारजातं विषमं च पच्यते; तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात्।। (८) (च. वि. १.२४)

मनुष्य को बहुत शनैः-शनैः भी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि धीरे-धीरे भोजन करने से पूर्ण तृप्ति नहीं होती तथा भोजन भी अधिक हो जाता है, भोजन में शीतलता आ जाती है तथा आहार का पाचन भी विषमता[१] से होता है इसलिए बहुत शनैः-शनैः भोजन न करें।

मौन भोजन का महत्त्व

अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत; जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः; तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत।। (९) (च. वि. १.२४)

वार्तालाप न करते हुए और न ही हँसते हुए, मन लगाकर भोजन करना चाहिए। अन्यत्र मन न लगाएँ। वार्तालाप करते हुए या हँसते हुए भोजन करने से प्रायः वही दोष होते हैं, जो अतिशीघ्रता से भोजन करने में होते हैं। इसलिए बिना बोले, बिना हँसे मन लगाकर भोजन करना चाहिए।

अनुकूल भोजन का महत्त्व

आत्मानमभिसीमक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्, इदं ममोपशेते इदं नोपशेत इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति; तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति।। (च. वि. १.२५)

स्वयं की समीक्षा करके अर्थात् मुझे कितना और किस प्रकार का भोजन करना चाहिए, कौन-सा आहार मेरे लिए सात्म्य है और कौन-सा

१. चिरकालभोजनेनाग्निसम्बन्धस्य वैषम्यादिति भावः। (चक्रपाणिः)

नहीं है, इस प्रकार विचार करके भोजन करने से हमें अपने अनुकूल आहार का बोध हो जाता है। इसलिए हमें सम्यग् रूप से अपने हिताहित को जानकर भोजन ग्रहण करना चाहिए।

आहारविध्यायतनानि चाष्टौ सम्यक् परीक्ष्यात्महितं विदध्यात्।
अन्यश्च यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपयोगेषु भजेत तं च।।
(च. वि. २.१४)

आहार की प्रकृति-करण आदि आठ विधियाँ हैं, उनके विशेष आयतनों की अच्छे से परीक्षा कर जिसमें अपना लाभ हो, उसका सेवन करें और यदि अन्य भी कोई दूसरे उपाय आम दोष को ठीक करने में भेषजरूप हैं, उनका भी प्रयोग अच्छे से करें।

विरुद्धाहार

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम्।। (अ.हृ.सू. ७.२९)

विरुद्धाहार विष के समान सद्यः अथवा गरविष (कृत्रिम विष) के समान कालान्तर में मारक होता है।

विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा।। (अ.हृ.सू. ७.३१)
तद्वत्कुलत्थवरककङ्गुवल्लमकुष्ठकाः।
भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि पयस्त्यजेत्।। (अ.हृ.सू. ७.३२)

सभी अम्लरस प्रधान खाद्य पदार्थ (अन्न, द्रव, फल आदि), कुलत्थ, वरक (उद्दालक), कङ्गु (कंगुनीधान्य), मटर, मोठ (मकुष्ठ)आदि धान्य और मूली आदि हरे पदार्थ (सलाद, शाक आदि) दूध के साथ विरुद्ध होते हैं।

फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा।
कणोषणाभ्यां मधुना काकमाची गुडेन वा।। (भो.कु.)

केले का फल छाछ, दही व तालफल के साथ नहीं खाना चाहिए। कणा (पिप्पली), उषणा (सोंठ), शहद व गुड़ के साथ काकमाची (मकोय) नहीं खानी चाहिए।

मधुसर्पिर्वसातैलपानीयानि द्विशस्त्रिशः।
एकत्र वा समांशानि विरुध्यन्ते परस्परम्।। (भो.कु.)

शहद, घी, चर्बी, तेल व पानी- इन सबका दो-दो व तीन-तीन करके संयोग करना परस्पर विरुद्ध होता है। उपर्युक्त पदार्थ एक जगह समान भाग में मिलाने पर परस्पर विरोधी हो जाते हैं।

भिन्नांशे अपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः।
मधु पुष्करबीजं च मधुमैरेयशार्करम्।। (भो.कु.)

भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलाए जाने पर भी मधु व घृत आकाशीय जल के अनुपान के साथ विरुद्ध होते हैं। मधु व पुष्करबीज (कमल का बीज) परस्पर विरोधी होते हैं। इसी प्रकार मधु (शहद), मैरेय (मदिरा विशेष) व शार्कर (मदिराविशेष) भी परस्पर विरोधी होते हैं।

विरुद्धाहार के लक्षण एवं चिकित्सा

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः।। (अ.हृ.सू. ७.४५)
विरुद्धं शुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिः।। (अ.हृ.सू. ७.४६)

संक्षेप में जो द्रव्य दोषों को उत्क्लिष्ट (बाहर निकालने को उन्मुख) कर देता है, परन्तु उन्हें शरीर से बाहर नहीं निकालता है, वह द्रव्य 'विरुद्ध' होता है। इस प्रकार विरुद्ध आहार सेवन से उत्पन्न रोगों में वमन-विरेचन आदि से शरीर को संशुद्ध कर लेना चाहिए अथवा विरुद्ध आहार के विपरीत गुणधर्म वाले औषध द्रव्यों का सेवन करना चाहिए अथवा विरुद्ध आहार के विपरीत गुणधर्म वाले द्रव्यों से शरीर को पहले से ही अभिसंस्कारित

कर लेना चाहिए अर्थात् उनका निरन्तर प्रयोग करना चाहिए जिससे कि भविष्य में विरुद्धाहार करने से शरीर पर उसका कोई दुष्प्रभाव न पड़ सके।

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम्।
वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम्।। (च.सू. २६.१०५)
सात्म्यतोऽल्पतया वापि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत्।। (च.सू. २६.१०६)

विरुद्ध आहार से उत्पन्न होने वाले रोगों को विरेचन, वमन और संशमन नष्ट कर देता है अथवा पहले से ही हितकर आहार और औषध का सेवन करने पर ये रोग उत्पन्न ही नहीं होते। इसी प्रकार लगातार सेवन करने के कारण प्रकृति के अनुकूल (सात्म्य) हो जाने से या अल्पमात्रा में होने से भी विरुद्धाहार हानिकर नहीं होता है। मनुष्य की अग्नि तीव्र होने, युवावस्था होने, सदा स्निग्ध आहार लेने या बलवान् होने से भी उक्त विरुद्ध अन्न का दुष्प्रभाव नहीं होता है।

विरुद्धाहार के योग्य

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम्।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम्।। (अ.हृ.सू. ७.४७)

प्रतिदिन व्यायाम करने वाले, नित्य घी, दूध आदि स्निग्ध द्रव्यों का सेवन करने वाले, तीव्र जठराग्नि वाले, युवा और बलवान् पुरुषों को सात्म्य किया हुआ या अल्पमात्रा में लिया हुआ विरुद्धाहार कष्टदायक नहीं होता है।

समशन, अध्यशन एवं विषमाशन (अष्टाङ्गहृदय)

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं समशनं मतम्।। (अ.हृ.सू. ८.३३)
विद्यादध्यशनं भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम्।

अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं तु विषमाशनम्।। (अ.हृ.सू. ८.३४)
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा।

पथ्य (हितकर) और अपथ्य (अहितकर) भोजन को एक साथ मिलाकर सेवन करने को 'समशन' कहा जाता है। पूर्व भोजन के पचने से पहले पुन: भोजन करने को 'अध्यशन' कहा जाता है। असमय में अर्थात् भूख लगने से पहले या भूख का अतिक्रमण करके अल्प या अधिक मात्रा में भोजन करने को 'विषमाशन' कहा जाता है। ये तीनों ही मृत्यु देने वाले एवं भयंकर व्याधियों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

समशन, अध्यशन एवं विषमाशन (चरक)

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।। (च. चि. १५.२३५)
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयो:।
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्।।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन्सृजन्ति वा।
प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति।
(च. चि. १५.२३६-२३७)

पथ्य और अपथ्य का एक साथ सेवन करना 'समशन' माना गया है। बिना भूख लगे और भोजन-काल के बीत जाने पर अधिक या कम मात्रा में खाना 'विषमाशन' है तथा पूर्व भोजन के पचने से पूर्व खा लेना 'अध्यशन' कहलाता है। ये तीनों ही मृत्यु अथवा भयंकर रोगों को उत्पन्न करते हैं परन्तु प्रातराश अर्थात् प्रात: काल खाये हुए अन्न के जीर्ण न होने पर भी सांयकाल का भोजन दोषकारक नहीं होता।

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रिय:।
पश्यन् रोगान् बहून्कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात् ।।
(च.नि.६.११)

विषमाशन से होने वाले कष्टदायक बहुत से रोगों को देखते हुए बुद्धिमान् व्यक्ति को हिताशी (हिताहित का विचार करके खाने वाला), मिताशी (भूख के अनुसार भोजन करने वाला), कालभोजी (भूख लगने पर भोजन करने वाला) तथा जितेन्द्रिय होना चाहिए।

विविध-अनुपान

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्।। (अ.हृ.सू. ८.४७)
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे कोष्णं पिष्टमयेषु तु।
शाकमुद्गादिविकृतौ मस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम्।। (अ.हृ.सू. ८.४८)
व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्रीलङ्घनातपकर्मभिः।
क्षीणे वृद्धे च बाले च पयः पथ्यं यथामृतम्।। (अ.हृ.सू. ८.५०)

गेहूँ, जौ, दही, मद्य, विष तथा मधु का अनुपान शीतल जल है। पिष्टान्न का अनुपान उष्णजल है। नाना प्रकार के शाकों, मूँग, उड़द आदि से निर्मित खाद्य-पदार्थों का अनुपान मस्तु (दही का पानी), तक्र (मट्ठा), कांजी आदि है। रोग, औषधसेवन, अध्वगमन (रास्ता चलना), भाषण, स्त्रीप्रसंग, उपवास, आतप (धूप) एवं शारीरिक श्रम से क्षीण हुए व्यक्ति के लिए तथा बालक एवं वृद्ध के लिए दूध अमृत के समान हितकर होता है।

उत्तम-अनुपान के लक्षण

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च।
अनुपानं समासेन, सर्वदा तत्प्रशस्यते।। (अ.हृ.सू. ८.५१)

जो द्रव-द्रव्य जिस अन्न के गुणों से विपरीत गुण वाला होते हुए भी उसका विरोधी न हो अर्थात् उनके साथ सेवन किया जा सके, सामान्य रूप से वह उस अन्न का अनुपान होता है। ऐसा अनुपान सदा ही उत्तम होता है।

अनुपान से लाभ

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढाङ्गताम्।
अन्नसङ्घातशैथिल्यविक्लित्तिजरणानि च।। (अ.हृ.सू. ८.५२)

उचित अनुपान से शरीर को ऊर्जा एवं तृप्ति मिलती है, आहार रस सम्पूर्ण शरीर में उचित रूप से फैल जाता है, सभी अंग दृढ़ हो जाते हैं और भोजन शिथिल (ढीला) एवं क्लिन्न (गीला) होकर उचित ढंग से पच जाता है।

अनुपान का निषेध

नोर्ध्वजत्रुगदश्वासकासोरःक्षतपीनसे।
गीतभाष्यप्रसङ्गे च स्वरभेदे च तद्धितम्।। (अ.हृ.सू. ८.५३)
प्रक्लिन्नदेहमेहाक्षिगलरोगव्रणातुराः।
पानं त्यजेयुः सर्वश्च भाष्याध्वशयनं त्यजेत्।। (अ.हृ.सू. ८.५४)
पीत्वा, भुक्त्वातपं वह्निं यानं प्लवनवाहनम्।

ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में, श्वास, कास, उरःक्षत, पीनस (साइनस), गायन, भाषण एवं स्वरभेद में अनुपान हितकर नहीं होता है। प्रक्लिन्न देही (क्लेदबहुल शरीर अर्थात् कुष्ठ विसर्प आदि रोगी), प्रमेहरोगी, नेत्ररोगी, गलरोगी और व्रणरोगी को अनुपान नहीं करना चाहिए। सभी (स्वस्थ एवं रोगी दोनों) को द्रव पीकर और भोजन कर तत्काल भाषण देना, मार्ग में चलना, दिवाशयन करना, आतप सेवन करना (धूप सेंकना), अग्नि सेवन करना (आग सेंकना), यानसेवन करना (रथ आदि द्वारा यात्रा करना), कूदना-फाँदना और घोड़े आदि की सवारी करना त्याग देना चाहिए।

आहार- एक महाभैषज्य

न चाहारसमं किञ्चिद् भैषज्यमुपलभ्यते।
शक्यतेऽप्यन्नमात्रेण नरः कर्तुं निरामयः।।

भेषजेनोपपन्नोऽपि निराहारो न शक्यते।
तस्माद् भिषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते।। (का.खि. ४.५-६)

आहार के समान अन्य कोई औषध नहीं है। उचित एवं पथ्य आहार से ही व्यक्ति स्वस्थ किया जा सकता है। उसके रोगों को दूर किया जा सकता है। औषध-सेवन करते हुए भी व्यक्ति आहार के बिना नहीं रह सकता। अत: चिकित्सक जन आहार को ही महाभैषज्य कहते हैं।

भोजन में अरुचि का निवारण

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्।
अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्।। (भा.प्र.नि. १.५१)

भोजन के आरम्भ में सैन्धव लवण के साथ थोड़ी मात्रा में अदरक का सेवन सदा पथ्य (हितकर) होता है। यह अग्नि-सन्दीपन, रुचिकारक तथा जिह्वा एवं कण्ठ को शुद्ध करने वाला होता है। इससे भोजन में रुचि जागृत होती है एवं पाचन भी अच्छे प्रकार से होता है।

अष्टांगहृदयकार वैद्यराज वाग्भट अरोचक-निवारण के विषय में कहते हैं-

विचित्रमन्नमरुचौ हितैरुपहितं हितम्।
बहिरन्तर्मृजा चित्तनिर्वाणं हृद्यमौषधम्।।
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनैः।
कषायैः क्षालयेदास्यं धूमं प्रायोगिकं पिबेत्।।

(अ.हृ.चि. ५.४७-४८)

अरुचि में ऐसे विचित्र नाना प्रकार के स्वादिष्ठ अन्न का सेवन करना चाहिए, जो हितकर पदार्थों एवं रुचिकर व सुगन्धित मसालों से मिश्रित हों। शरीर की बाहरी स्वच्छता स्नान आदि से तथा अन्दर की स्वच्छता वमन, विरेचन से करनी चाहिए। चित्त को स्वच्छ, प्रसन्न व शान्त रखना चाहिए।

हृदय को प्रिय लगने वाले हितकर औषधों का सेवन करना चाहिए। प्रातः-सायं दन्तधावन (दातुन) करना चाहिए तथा मुखशुद्धि-कारक कषायों से मुखशोधन करना चाहिए। प्रायोगिक अर्थात् स्नैहिक एवं वैरेचनिक धूमपान से भिन्न प्रतिदिन किया जाने वाला औषधीय धूमपान भी अरुचि-निवारण में उपयोगी होता है।

आरोग्य का आधार मिताहार

अथ स्मृतिकवाटेन पिधायेन्द्रियसंवरम्।
भोजने भव मात्राज्ञो ध्यानायानामयाय च।। (सौ.न. १४.१)

स्मृति (जागरूकता) रूपी किवाड़ से इन्द्रियरूपी द्वारों को बन्द करके अर्थात् इन्द्रियों को वश में करके ध्यान और आरोग्य के लिए भोजन की समुचित मात्रा जानो अर्थात् मितभोजन करो; क्योंकि अतिभोजन व अत्यल्प भोजन, ये दोनों ही आरोग्य व ध्यान-साधना के बाधक होते हैं।

प्राणापानौ निगृह्णाति ग्लानिनिद्रे प्रयच्छति।
कृतो ह्यत्यर्थमाहारो विहन्ति च पराक्रमम्।। (सौ.न. १४.२)

यदि अधिक भोजन किया जाए तो वह प्राण व अपान की गति को बाधित करता है, आलस्य और नींद लाता है तथा पराक्रम (उद्यमशीलता) को नष्ट कर देता है।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। (गीता-४.३०)

आहार पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति प्राणयज्ञ (प्राणायाम की साधना) से तन-मन के विकारों को नष्ट कर देते हैं।

यथा चात्यर्थमाहारः कृतोऽनर्थाय कल्पते।
उपयुक्तस्तथात्यल्पो न सामर्थ्याय कल्पते।। (सौ.न. १४.३)

जिस प्रकार अधिक भोजन करने से अनर्थ होता है, उसी प्रकार अत्यल्प भोजन से भी शक्ति नहीं मिलती तथा दुर्बलता के कारण व्यक्ति कर्त्तव्य करने में असमर्थ हो जाता है। अत: अत्यल्प भोजन भी नहीं करना चाहिए।

आचयं द्युतिमुत्साहं प्रयोगं बलमेव च।
भोजनं कृतमत्यल्पं शरीरस्यापकर्षति।। (सौ.न. १४.४)

अत्यल्प भोजन करने से शरीर की पुष्टि नहीं हो पाती है तथा कान्ति, उत्साह, सक्रियता और बल का ह्रास हो जाता है।

यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला।
समा तिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनु:।। (सौ.न. १४.५)

जैसे अधिक भार से तुला झुकती है, हल्के भार से उठ जाती है और उचित भार से समान रहती है, उसी प्रकार (अधिक, अल्प एवं युक्त/मित) आहार से शरीर क्रमश: भारी, क्षीण व स्वस्थ बनता है।

तस्मादभ्यवहर्तव्यं स्वशक्तिमनुपश्यता।
नातिमात्रं न चात्यल्पं मेयं मानवशादपि।। (सौ.न. १४.६)

इसलिए अपनी शक्ति (पाचनक्षमता) को देखते हुए भोजन करना चाहिए, हठपूर्वक न बहुत अधिक और न ही बहुत कम। क्षुधा के अनुसार मित (मापा हुआ अर्थात् न कम, न अधिक) भोजन करना ही मिताहार कहलाता है।

अत्याक्रान्तो हि कायाग्निर्गुरुणान्नेन शाम्यति।
अवच्छन्न इवाल्पोऽग्नि: सहसा महतेन्धसा।। (सौ.न. १४.७)

शरीर की पाचकाग्नि अति भोजन के भार से दबकर ऐसे ही शान्त हो जाती है, जैसे थोड़ी आग सहसा बहुत अधिक इन्धन डालने से बुझ जाती है अत: अतिभोजन कदापि नहीं करना चाहिए।

अत्यन्तमपि संहारो नाहारस्य प्रशस्यते।
अनाहारो हि निर्वाति निरिन्धन इवानलः।। (सौ.न. १४.८)

भोजन को सर्वथा छोड़ देना भी प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि भोजन न करने वाले मनुष्य की जठराग्नि वैसे ही शान्त जाती है, जैसे इन्धन न डालने से अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है।

यस्मान्नास्ति विनाहारात्सर्वप्राणभृतां स्थितिः।
तस्माद् दुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते।। (सौ.न. १४.९)

क्योंकि भोजन के बिना कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता, इसलिए भोजन में दोष नहीं है, किन्तु भोजन में विकल्प (चुनाव) अर्थात् रसविशेष में राग निषिद्ध है।

लोभमूलानि पापानि रसमूला व्यथाः स्मृताः।
स्नेहमूला हि शोकाश्च त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव।। (अज्ञातमूलम्)

सभी पाप लोभमूलक होते हैं। सभी रोगों की व्यथा (पीड़ा) रसासक्तिमूलक होती है और सब शोक रागमूलक होते हैं। यदि लोभ, रसासक्ति व राग को विवेकदृष्टि से अनिष्टकारक जानकर छोड़ दिया जाए तो सारे दुःख दूर हो जाते हैं। इस प्रकार रोगों की व्यथा से बचने के लिए रसासक्ति से दूर रहना ही एकमात्र उपाय है। इसी विषय में आगे कहा है-

न ह्येकविषयेऽन्यत्र सज्जन्ते प्राणिनस्तथा।
अविज्ञाते यथाहारे बोद्धव्यं तत्र कारणम्।। (सौ.न. १४.१०)

प्राणी दूसरे किसी एक विषय में उतना आसक्त नहीं होते हैं जितना कि भोजन के विषय में अर्थात् रसना की आसक्ति सबसे प्रबल होती है। कल्याणाभिलाषी को इसे समझना चाहिए तथा इस पर नियन्त्रण करना चाहिए।

चिकित्सार्थं यथा धत्ते व्रणस्यालेपनं व्रणी।
क्षुद्विघातार्थमाहारस्तद्वत् सेव्यो मुमुक्षुणा।। (सौ.न. १४.११)

घायल व्यक्ति जैसे घाव की चिकित्सा के लिए मलहम-पट्टी करता है, वैसे मुक्ति चाहने वाले साधक को भूख मिटाने के लिए भोजन का सेवन करना चाहिए न कि आसक्तिपूर्वक रसनातृप्ति के लिए।

भारस्योद्वहनार्थं च रथाक्षोऽभ्यज्यते यथा।
भोजनं प्राणयात्रार्थं तद्वद्विद्वान्निषेवते।। (सौ.न. १४.१२)

जैसे भार-वहन हेतु रथ की धुरी को दृढ़ करने के लिए तेल से अञ्जित (चिकना) किया जाता है, उसी प्रकार विद्वान् लोग प्राणयात्रा अर्थात् आवश्यक दैनन्दिन कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करने हेतु सामर्थ्य पाने के लिए ही अन्न का सेवन करते हैं, राग या रसासक्ति के कारण से नहीं।

यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम्। (च.सू. २५.४०)

जठराग्नि की क्षमता के अनुसार भोजन करना ही क्षुधा बढ़ाने वाले उपायों में सर्वश्रेष्ठ है। सभी व्यञ्जन तभी लाभकर व सार्थक होते हैं जब इस विशिष्ट नियम के अनुसार उनका मित मात्रा में सेवन किया जाता है। नीतिकार सोमदेव सूरि भी कहते हैं-

यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते।
(नीतिवाक्यामृतम्, दिवसानुष्ठान-समुद्देशः ३८)

जो मित मात्रा में खाता है, वही वस्तुतः अधिक खाता है क्योंकि उसका खाया अन्न पचकर शरीर का अंग बन जाता है। इसके विपरीत जो मात्रा से अधिक खाता है, उसका खाया हुआ सब व्यर्थ जाता है, अजीर्ण होने से रोगकारक बन जाता है अतः मितभोजी ही बहुभोजी की अपेक्षा

लाभ में रहता है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है- **अपना भोजन दवाई की तरह जीवनभर खाएं अन्यथा आपको दवाइयाँ भोजन की तरह जीवनभर खानी पड़ेंगी।**

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत्।। (सु.सू ४६.५२६)

पञ्चभूतात्मक इस शरीर में अच्छी तरह से पचा हुआ पाञ्चभौतिक आहार पाँच प्रकार से अपने-अपने गुणों को बढ़ाता है। चरकसंहिता में भी इसी तथ्य को निम्न श्लोक के द्वारा कहा गया है-

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः।। (च.चि.१५.१४)

विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः।
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम्।। (सु.सू. ४६.४६५)

इष्ट संस्कार, पथ्य तथा इष्ट रसादि से युक्त, मनोज्ञ, पवित्र, ईषदुष्ण तथा ताजा भोजन हितकारी होता है।

निद्रा

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणि- नोऽभिस्पृशति। तत्र यदा सञ्ज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते, तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे; क्षीणश्लेष्मणा- मनिलबहुलानां मनःशरीराभितापिनां च नैव सा वैकारिणी भवति।।

(सु.शा. ४.३२)

विष्णु की मायास्वरूपा होने पर भी निद्रा को योगादि की प्रतिबन्धक होने से पापिनी कहते हैं, वह स्वभाव से ही सभी प्राणियों को आविष्ट कर लेती है। जब 'तमोबहुल कफ' संज्ञान कराने वाली इन्द्रियों में प्रविष्ट हो जाता है, तब बोधशक्ति का नाश कर देने वाली प्रलयकालिक (मृत्युकालिक) तामसी निद्रा प्राप्त होती है। तमोबहुल मनुष्यों को दिन-रात दोनों समय निद्रा प्राप्त होती है। रजोबहुल मनुष्यों की निद्रा अनिमित्त अर्थात् अल्पकालिक होती है, रजः की अधिकता से क्षणभंगुर होती है तथा सत्त्वबहुल मनुष्यों को अर्द्धरात्रि में निद्रा प्राप्त होती है। यह सात्त्विकी निद्रा है। क्षीण कफ वाले, बढ़े हुए वात वाले तथा मन और शरीर की पीड़ा वाले मनुष्यों को निद्रा प्राप्त नहीं होती, यह वैकारिकी निद्रा होती है।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्।। (सु.शा. ४.३३)

हे सुश्रुत! प्राणियों का चेतनास्थान हृदय को कहा गया है। उसके तमस् से अभिभूत हो जाने पर निद्रा मनुष्यों को आविष्ट कर लेती है।

निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते।। (सु.शा. ४.३४)

निद्रा का हेतु तमोगुण तथा प्रबोध में सत्त्वगुण हेतुभूत होता है अथवा निद्रा में स्वभाव को ही बड़ा हेतु माना गया है।

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्।। (सु.शा. ४.३८)
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान्नरो जीवेत् समाः शतम्।। (सु.शा.४.३९)

वातादि के कुपित हो जाने के कारण रात्रि-जागरण से वातप्रकोप होता है तथा दिन में शयन से कफ कुपित होता है अतः इन दोनों को

दोषकारक जानकर छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि मित मात्रा में शयन करे। ऐसा करने से मनुष्य नीरोग, सुमनस्क, बल और कान्तियुक्त एवं वीर्यवान् होता है। वह न अधिक स्थूल व न अधिक कृश होता है और वह धनवान् होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्।। (सु.शा. ४.४८)

जिससे शब्दादि इन्द्रिय-विषयों का ज्ञान नहीं होता, शरीर में गुरुता=भारीपन, जम्भाई तथा थकान हो जाती है उसे 'तन्द्रा' कहते हैं। तन्द्रा से व्यक्ति की चेष्टा निद्रामग्न जैसी होती है।

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते।। (सु.शा. ४.५१)

सुखदायक स्पर्शों में आसक्ति, दुःखदायक वस्तुओं में द्वेष की इच्छा, सामर्थ्यवान् होने पर भी कर्मों में अनुत्साह- यह आलस्य कहलाता है।

प्रकोपो वान्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः।। (सु.शा. ४.७७)

वातादि प्रकृतियों का स्वाभाविक रूप से प्रकोप, अन्यथाभाव (बदल जाना) अथवा क्षय नहीं होता, किन्तु मरणासन्न व्यक्ति के ये सब लक्षण दिखाई देने लगते हैं, इन्हीं को 'अरिष्ट' कहा जाता है।

निद्रा का महत्त्व

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च।। (च.सू. २१.३६)

सुख-दुःख, पुष्टता-कृशता, बल-अबल, वृषता-क्लीबता, ज्ञान-अज्ञान और जीवन-मृत्यु ये सभी निद्रा के अधीन होते हैं। कहने का

तात्पर्य यह है कि उचित प्रकार से निद्रा आने पर सुख, पुष्टि, बल, वृषता, ज्ञान और जीवन की प्राप्ति होती है और अनुचित प्रकार से निद्रा आने पर दुःख, कृशता, निर्बलता, क्लीबता, अज्ञान और मृत्यु की प्राप्ति होती है।

पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम्।
करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता।। (सु.चि. २४.८८)

उचित समय पर सेवित निद्रा, पुष्टि, वर्ण, बल और उत्साह को बढ़ाती है, जठराग्नि को प्रदीप्त करती है तथा धातुओं को सम बनाती है।

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा।। (च.सू. २१.३७)

अकालनिद्रा, अतिनिद्रा एवं अनिद्रा का दुष्प्रभाव- असमय में निद्रा का सेवन, अत्यधिक मात्रा में सेवन अथवा सर्वथा ही निद्रा का असेवन किया जाये तो ऐसी निद्रा कालरात्रि के समान सुख और आयुष्य को नष्ट कर देती है।

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं, शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति।।
(च.सू. २१.५९)

जो रात्रि के स्वभाव से उत्पन्न है, उस निद्रा को निद्राविशेषज्ञ भूतधात्री[1] कहते हैं। तमोभाव के कारण उत्पन्न निद्रा को पापों का मूल तथा शेष निद्राओं को व्याधियों में निर्देश करते हैं अर्थात् व्याधियों का हेतु मानते हैं।

दिवाशयन का निषेध

ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वापो निषिध्यते।

१. भूतानि प्राणिनो दधाति पुष्णाति इति भूतधात्री, धात्रीव धात्री। (चक्रपाणिः)

ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है; क्योंकि यह सर्वदोषप्रकोपक होने से अति हानिकारक है। अन्यत्र भी कहा है-

भुक्तमात्रस्य शयनाद् हन्त्यग्निं कुपितः कफः।

भोजन करते ही दिन में सोने से अति कुपित हुआ कफ जठराग्नि को नष्ट कर देता है। सुश्रुत-संहिता में भी कहा है-

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्।... विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम, तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कास-श्वास-प्रतिश्याय-शिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति।। (सु.शा. ४.३८)

ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है। दिन में सोना एक विकृति है। दिन में सोने वालों को अधर्म (पाप) लगता है तथा वात, पित्त व कफ- ये तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इससे कास (खाँसी), श्वास (दमा), प्रतिश्याय (जुकाम), शिर में भारीपन, अंगों में टूटन, ज्वर, अरुचि व मन्दाग्नि इत्यादि उपद्रव होते हैं अतः ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में दिन में सोने से बचें।

रात्रौ जागरणं रूक्षं, स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।। (अ.हृ.सू. ७. ५५)
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्।

रात्रि-जागरण एवं दिवाशयन के गुण-दोष- रात्रि जागरण एवं दिवाशयन से शरीर में क्रमशः रूक्षता व स्निग्धता की वृद्धि होती है, जबकि बैठे-बैठे सोने अर्थात् ऊँघने या झपकी लेने से शरीर में न तो रूक्षता आती है और न ही यह अभिष्यन्दी (स्रोतों में कफवृद्धिकारक) होती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिःस्पृहचेतसः।
निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते।। (अ.हृ.सू. ७. ६८)

जो ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है, जिसका चित्त ग्राम्यसुख (संभोग) से दूर रहता है और जो सदैव लोभरहित होकर संतुष्ट रहता है, उस व्यक्ति को निद्रा समय पर आती है।

स्मृतिमेधायुरारोग्यपुष्टीन्द्रिययशोबलैः।
अधिका मन्दजरसो भवन्ति स्त्रीषु संयताः।। (अ.हृ.सू. ७. ७५)

जो पुरुष संयम के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसे स्मृति, मेधा, आयु, आरोग्य, पुष्टि, इन्द्रिय-बल, शुक्र, यश और बल की प्राप्ति होती है तथा वृद्धावस्था देर से आती है।

आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः।
स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः।। (सु.चि.२४.११२)

स्त्रियों के विषय में संयत रहने वाले पुरुष दीर्घायु होते हैं। उन पर वृद्धावस्था का प्रभाव बहुत धीरे-धीरे होता है। इन संयमी पुरुषों का शरीर उत्तम वर्ण एवं बल से युक्त रहता है। इनका शरीर दृढ़ एवं मांसपेशियाँ पुष्ट एवं कसावयुक्त रहती हैं। इस प्रकार गृहस्थों के लिए भी ब्रह्मचर्य के साथ संयमित जीवन बहुत हितकर होता है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्।। (अ.हृ.उ. ४०.४)

इह लोक और परलोक दोनों लोकों के लिए रसायनस्वरूप सर्वथा निर्मल ब्रह्मचर्य का हम अनुमोदन करते हैं, जो धर्म युक्त है अर्थात् जीवन

को धर्म के साथ जोड़े रखता है, यश का हेतु है और आयु के लिए हितकारक व दीर्घायुष्य-दायक है।

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयाः।
अपर्वमरणं च स्याद्विशेषेणातिमैथुनात्।। (अ.सं.सू. ९.८०)

अति मैथुन से भ्रम, क्लम, ऊरु की निर्बलता, बल, धातु और इन्द्रियों का क्षय और विशेषकर जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है, जिससे मनुष्य दीर्घायु नहीं हो पाता और अकालमृत्यु को प्राप्त होता है।

कायस्य तेजः परमं हि शुक्रमाहारसारादपि सारभूतम्।
जितात्मना तत्परिरक्षणीयं ततो वपुः सन्ततिरप्युदारा।।

(अ.सं.सू. ९.८४)

शरीर का उत्कृष्ट तेज शुक्र है और शुक्र ही आहारसार का भी सारभूत है। संयमी बनकर इस शुक्रधातु की रक्षा से ही शरीर उत्कृष्ट रूप में स्वस्थ रहता है और उत्तम सन्तति होती है।

अध्याय-४

स्वस्थ-वृत्त

स्वस्थ की परिभाषा

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। (सु.सू. १५.४८)

जिसके वातादि दोष समान हैं, शरीरस्थ अग्नि समान है, रसादि धातुओं तथा मलों का पोषण, धारण और निर्गमन आदि क्रियाएँ समान हैं एवं जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ व मन प्रसन्न अर्थात् निर्मल हैं, उस व्यक्ति को 'स्वस्थ' कहा जाता है।

सद्वृत्त

करणीय (करने योग्य) कर्म

यशस्यं स्वर्ग्यमायुष्यं धनधान्यविवर्धनम्।।
देवतातिथिविप्राणां पूजनं गोत्रवर्धनम्। (सु.चि.२४.६७)

देव, अतिथि और विप्रों का पूजन यश, स्वर्ग और आयु को देने वाला, धन-धान्य को बढ़ाने वाला तथा वंश की वृद्धि करने वाला होता है।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।। (अ.हृ.सू. २.२०)

सभी प्राणियों की सम्पूर्ण चेष्टाएँ सुख के लिए होती हैं, किन्तु सुख की प्राप्ति धर्म के बिना नहीं होती है, अतः मनुष्य को सदा ही धर्म-परायण होना चाहिए।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः। (अ.हृ.सू. २.२१)

दुष्टों से दूर रहें और कल्याणमित्रों (कल्याणकारी आचरण में प्रेरित करने वाले हितैषी मित्रों) का संग श्रद्धापूर्वक करें।

अवृत्तिव्याधिशोकार्तानानुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्।। (अ.हृ.सू. २.२३)

आजीविका से रहित और व्याधि तथा शोक से पीड़ित व्यक्तियों की शारीरिक और आर्थिक रूप से यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। सर्वदा सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए, यहाँ तक कि कीटों और चींटियों को भी आत्मवत् समझते हुए उन पर दया करनी चाहिए, उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अर्चयेद् देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन्।
विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।। (अ.हृ.सू. २.२४)

देवता, गाय, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा एवं अतिथि का सम्मान करना चाहिए। याचकों को निराश न लौटाएं तथा उनका निरादर और तिरस्कार भी न करें।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ।
सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत् फले न तु।। (अ.हृ.सू. २.२५)

अहित करने वाले व्यक्तियों एवं शत्रुओं पर भी उपकार करना चाहिए। सुख-दुःख में सदैव एक समान रहना चाहिए अर्थात् सुख में न अत्यधिक आनन्दित होना चाहिए और न ही दुःख में अत्यधिक शोकाकुल होना चाहिए। फल (सफलता) में ईर्ष्या करने की अपेक्षा हेतु (सफलता के कारण) में ईर्ष्या करनी चाहिए।

भाव यह है कि किसी सफल व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसकी सफलता जिस पुरुषार्थ रूप हेतु से हुई है, उससे ईर्ष्या करनी चाहिए अर्थात् उस जैसा पुरुषार्थ करने की स्पर्द्धा करनी चाहिए। इससे मन में ईर्ष्याजन्य मलिनता नहीं आयेगी और सफलता भी मिलेगी।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।
पूर्वाभिभाषी, सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः।। (अ.हृ.सू. २.२६)

समय के अनुकूल हितकारी, मित, सत्य एवं मधुर वचन बोलें। सामने आये हुए व्यक्ति से प्रसन्नमुख होकर पहले अभिवादन आदि कर मधुर वार्तालाप करें। समाज में सुशीलता के साथ करुणापूर्ण व्यवहार करें।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्।
अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्।। (अ.हृ.सू. २.३०)

ऐसा कोई कार्य न करें जो त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ (धन) एवं काम (मर्यादित सुखानुभव) से रहित हो। सभी कार्य धर्म, अर्थ एवं काम को बाधित न करते हुए करें अर्थात् धर्मानुसार अर्थोपार्जन करें और धर्म एवं अर्थ को बाधित न करते हुए मर्यादित रूप में जीवन के सुखों का उपभोग करें। सभी धर्मों (कर्त्तव्यों) में सदैव मध्यम-मार्ग का अनुसरण करें।

नीचरोमनखश्मश्रु निर्मलाङ्घ्रिमलायनः।
स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः।।(अ.हृ.सू.२.३१)

रोम, नख, दाढ़ी, मूँछ को सदैव छोटा करके (काटकर) रखें। पैर, आँख, नाक, कान, मुख, गुदा, लिंग आदि मल-मार्गों को सदैव स्वच्छ रखें। प्रतिदिन स्नान करें, सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगायें और सुन्दर, स्वच्छ व शालीन वस्त्र धारण करें।

लोकाचार-पालन

आचार्य: सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमत:।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षक:।। (अ.हृ.सू. २.४५)

क्योंकि सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों में यह संसार ही बुद्धिमान् व्यक्ति का गुरु है, अत: संसार में लौकिक व्यवहार करने हेतु प्रमाणों के द्वारा परीक्षा करने में निपुण मनुष्य को सदा संसार का ही अनुकरण करना चाहिए।

अकरणीय (न करने योग्य) कर्म

तदात्वे चानुबन्धे च यस्य स्यादशुभं फलम्।
कर्मणस्तन्न कर्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम्।। (च.वि. ३.४६)

जिस कर्म के करने से उसी समय अथवा आगामी समय में अशुभफल हो वह कर्म कभी भी नहीं करना चाहिए, यह बुद्धिमानों का मत है।

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात्।
न वेगितोऽन्यकार्य: स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्।। (अ.हृ.सू. २.१९)

पूर्व भोजन के पच जाने पर हितकर और न भूख से ज्यादा न कम अर्थात् मित भोजन करना चाहिए। बल लगाकर मल-मूत्र आदि का त्याग नहीं करना चाहिए और वेग आने पर उन्हें त्यागे बिना अन्य कार्य नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार साध्य रोगों की चिकित्सा किये बिना अन्य कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए अर्थात् रोग होने पर बढ़ने से पहले ही सब काम छोड़कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

दशविध पापकर्म

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।। (अ.हृ.सू. २.२१)
सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।। (अ.हृ.सू. २.२२)

हिंसा, चोरी एवं परस्त्रीगमन- ये तीन शारीरिक पापकर्म हैं। चुगलखोरी, कटुवचन, असत्य-वचन एवं असम्बद्ध प्रलाप- ये चार वाचिक पापकर्म हैं। दूसरों के लिए हिंसात्मक अनिष्टचिन्तन (व्यापादम्), दूसरे के धन के प्रति लोभपूर्ण भाव रखना (अभिध्याम्) एवं दृग्विपर्यय (उल्टी दृष्टि रखना) अर्थात् धर्म-कर्म कुछ नहीं है, खाओ-पिओ मौज करो, यही जीवन का सार है, ऐसी नास्तिकता की दृष्टि रखना- ये तीन मानसिक पापकर्म हैं। शरीर, वाक् और मन से किये जाने वाले इन दशविध पापकर्मों से सदा दूर रहना चाहिए।

नैकः सुखी, न सर्वत्र विश्रब्धो, न च शङ्कितः।
न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्।। (अ.हृ.सू. २.२७)
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः।
जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति।। (अ.हृ.सू. २.२८)
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः।
न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत्।। (अ.हृ.सू. २.२९)

सुखों का अकेले ही उपभोग नहीं करना चाहिए, बल्कि सभी के साथ मिलकर करना चाहिए। सभी स्थानों तथा सभी व्यक्तियों पर न तो बहुत अधिक विश्वास करना चाहिए और न ही अधिक शंका करनी चाहिए। 'यह मेरा शत्रु है या मैं इसका शत्रु हूँ'- इस प्रकार किसी से नहीं कहना चाहिए। अपने अपमान को और स्वयं पर स्वामी के स्नेह की कमी को भी किसी से नहीं कहना चाहिए। पराराधन–पण्डित अर्थात् व्यवहारकुशल व्यक्ति को दूसरों के मनोभाव को पूर्णरूप से समझकर तदनुसार प्रियाचरण करना चाहिए। इन्द्रियों का न तो बहुत अधिक पीड़ित (दमित) करना चाहिए और न ही उन्हें विषयों में अत्यधिक संलिप्त करना चाहिए।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन्।। (अ.हृ.सू. २.३३)
नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवो न च।
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां, नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत्।। (अ.हृ.सू. २.३४)

चैत्यवृक्ष (किसी देवता से अधिष्ठित लोक-प्रसिद्ध वृक्ष अथवा भवन विशेष), गुरु आदि पूज्य-जन, ध्वजा (झण्डा), निन्दित कर्म करने वाले व्यक्ति की छाया, राख, धान की भूसी, अपवित्र स्थान, कंकड़ एवं ढेलों को, बलि-स्थान तथा स्नान-भूमि को कदापि न लांघें। नदी को बाहुओं से तैरकर न पार करें और आग के ढेर (अग्निस्कन्धम्)के पास भी न जायें।

सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत्।
नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृम्भणम्।। (अ.हृ.सू. २.३५)

जिस नौका के डूबने का सन्देह हो, उस पर न बैठें। जिस वृक्ष के टूटने का सन्देह हो या जिसके कोटर में सर्प आदि के रहने की आशंका हो, ऐसे वृक्ष पर न चढ़ें। दुष्ट घोड़े आदि पर या उनसे जुते वाहन पर न बैठें। छींकते, हँसते और जंभाई लेते समय मुख को खुला न छोड़ें अर्थात् ढक लेवें।

नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद् भुवम्।
नाङ्गैश्चेष्टेत विगुणं नासीतोत्कटकश्चिरम्।। (अ.हृ.सू. २.३६)

नासिका और भूमि को अंगुली से अकारण ही न कुरेदें। अङ्गों से विकृत चेष्टाएँ न करें तथा देर तक उत्कटासन में (उकड़ू) न बैठें।

देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत्।
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्नक्तं सेवेत न द्रुमम्।। (अ.हृ.सू. २.३७)

शरीर, मन एवं वाणी की चेष्टाओं (कर्मों) को थकान आने से पूर्व ही रोक दें। घुटनों को अधिक देर तक ऊपर उठाकर न बैठें और रात्रि में वृक्ष के ऊपर या नीचे विश्राम न करें।

तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान्।
सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न।। (अ.हृ.सू. २.३८)

चत्वर (चौपाल), चैत्य (पूज्यवृक्ष), चतुष्पथ (चौराहा) एवं देवालय में रात्रि के समय न रुकें। बूचड़खाना, जंगल, निर्जन-स्थल, शून्यगृह (खण्डहर) एवं श्मशान-घाट में दिन में भी न रुकें।

सर्वथेक्षेत नादित्यं, न भारं शिरसा वहेत्।
नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च।। (अ.हृ.सू. २.३९)

सूर्य को लगातार (एकटक) न देखें, सिर पर अधिक भार न ढोयें और सूक्ष्म, चमकीली, अपवित्र तथा अप्रिय वस्तु को लगातार न देखें।

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत्।
पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान्।। (अ.हृ.सू. २.४०)

मद्य का विक्रय, सन्धान=निर्माण एवं आदान-प्रदान नहीं करना चाहिए। सामने से आने वाली धूप, धूल और तुषारयुक्त रूक्ष (परुष) वायु का सेवन नहीं करना चाहिए।

स्वास्थ्य संरक्षण में सावधानी

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।। (च.सू. ५.१०३)

जिस प्रकार नगर का स्वामी नगर की और रथ का स्वामी रथ की रक्षा करता है, साज-संभाल करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य को भी अपने शरीर की रक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के प्रति सावधान रहना चाहिए।

साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते।।(च. नि. ६.५)

स्वयं के जीवन की रक्षा करते हुए व्यक्ति को साहसिक कर्म का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि जीवित रहते हुए व्यक्ति इष्ट कर्म का फल प्राप्त करता है।

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्।। (च. नि.६.७)

अन्य सब कुछ छोड़कर व्यक्ति शरीर का पालन करे क्योंकि शरीर के अभाव में प्राणियों का सर्वाभाव (धर्मादि का अभाव) हो जाता है।

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति।। (च. नि.६.९)

आहार का सर्वोत्कृष्ट सार शुक्र है इसलिए अपने शुक्र की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि शुक्रक्षय होने पर बहुत से रोग हो जाते हैं अथवा व्यक्ति मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है।

सुखी जीवन का उपाय

वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।
शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते।। (च.सू. ५.१०४)

धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत वृत्ति (आजीविका) के उपायों को अपनाने वाला तथा शान्ति और स्वाध्याय का अभ्यास करने वाला मनुष्य सदा सुखी जीवन जीता है।

दुष्टों का परित्याग

पापवृत्तवचःसत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः।। (च.सू. ७.५६)
परापवादरतयश्चपला रिपुसेविनः।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः।। (च.सू. ७.५७)

पापयुक्त वृत्त=आचार-व्यवहार, वाणी, सत्त्व=मन-बुद्धि वाले, चुगलखोर, कलहप्रिय, दूसरों की मार्मिक बातों को उद्घाटित कर उपहास करने वाले, लोभी, दूसरों की उन्नति से द्वेष करने वाले, धूर्त, परनिन्दारसिक, चंचल, शत्रुपक्ष से सम्बन्ध रखने वाले, निर्दय, धर्महीन नराधम लोगों से सदा दूर रहना चाहिए[१]।

सज्जनों का साहचर्य

बुद्धिविद्यावय:शीलधैर्यस्मृतिसमाधिभि:।
वृद्धोपसेविनो वृद्धा: स्वभावज्ञा गतव्यथा:।। (च.सू. ७.५८)
सुमुखा: सर्वभूतानां प्रशान्ता: शंसितव्रता:।
सेव्या: सन्मार्गवक्तार: पुण्यश्रवणदर्शना:।। (च.सू. ७.५९)

ऐसे महापुरुषों का सर्वदा सङ्ग करना चाहिए जो ज्ञान, विद्याभ्यास, आयु, शील, धैर्य, स्मृति एवं समाधि (समाधान) में वृद्ध (बढ़े हुए) हों, जो स्वयं वृद्धों की उपासना (सङ्ग) करते हों, जो स्वभाव से विद्वान् (समझदार) और समस्त व्यथाओं से निर्लिप्त हों, जो सभी प्राणियों के समक्ष प्रसन्नमुख रहते हों, प्रशान्त हों, जो व्रतों का कठोरता से पालन करने वाले हों, सदा सबके द्वारा सेवनीय (अनुकरणीय) हों, सन्मार्ग का उपदेश करने वाले हों तथा जिनका श्रवण एवं दर्शन महान् पुण्यकारी[२] हो।

पञ्चपञ्चक

अतीन्द्रियं पुनर्मन: सत्त्वसंज्ञकं, 'चेत:' इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्।। (च.सू. ८.४)

---

१. पय:पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।
२.(क) साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधव:।
(ख) जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेत: प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं, सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम्।।

इन्द्रियों का अतिक्रमण किया हुआ मन अतीन्द्रिय तत्त्व है जिसे 'सत्त्व' इस नाम से जाना जाता है। कुछ लोग इसे 'चेतः' भी कहते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियां बाह्य ज्ञान का संपादन कर रही होती हैं, मन उनसे अलग सत्ता वाला तत्त्व है। मन का विषय जो सुख-दुःख, चिन्त्य, विचार्य आदि हैं और आत्मा जो विभिन्न विषयों का प्रतिसंधान करने वाला = जोड़कर देखने वाला चेतन तत्त्व है, मन इन दोनों की सम्पत्ति = उपस्थिति के अधीन चेष्टा करने वाला तथा इन्द्रियों की अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने रूप चेष्टा में कारण बना हुआ है। तात्पर्य यह है कि जब चिन्त्यादि और सुखादि विषय होते हैं और उन सुखादि या चिन्त्यादि विषयों में आत्मा की प्रयत्नशीलता होती है, आत्मा प्रयत्नवान् होता है तब मन अपने विषय में प्रवृत्त होता है, इन्द्रियों की अध्यक्षता करता है और इन्द्रियां मन से अधिष्ठित हुईं अपने-अपने विषयज्ञान में प्रवृत्त होती हैं।

स्वार्थेन्द्रियार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च; न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते; तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः। (च.सू. ८.५)

स्वार्थ (मन के विषय चिन्त्यादि), इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय रूपादि) और संकल्प (यह मेरा उपकारक है, यह अपकारक) के व्यभिचार से तथा रज, तम और सत्त्व गुणों के योग से एक पुरुष में मन अनेक सा प्रतीत होता है परन्तु परमार्थतः मन का अनेकत्व नहीं है। एक मन एक काल में रूपादि अनेक ज्ञानों में प्रवृत्त नहीं हो सकता इसलिए सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी एक काल में नहीं होती अर्थात् सभी इन्द्रियां एक साथ अपने-अपने विषयों का ज्ञान नहीं करातीं।

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् ।। (च.सू. ८.६)

जिस गुण वाला सत्त्व = मन पुनः-पुनः पुरुष का अनुवर्तन करता है, उस गुण से युक्त मन वाले पुरुष को बाहुल्यानुशय= आधिक्य (अधिक सम्बन्ध) के कारण उस-उस नाम से अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस आदि नामों से कह देते हैं, मल्लग्रामवत्।

मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।। (च.सू.८.७)

'इन्द्रियों की चेष्टा में मन कारणभूत है' चतुर्थ सूत्र में उक्त इस विषय का ही व्याख्यान करते हैं - मन से अधिष्ठित इन्द्रियां अर्थ=विषय के ग्रहण में समर्थ होती हैं।

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनं इति पञ्चेन्द्रियाणि।।

(च.सू. ८.८)

इन्द्रियां पांच हैं - चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श ।

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि- खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति।। (च.सू. ८.९)

इन्द्रियों के प्रधानता से प्रारम्भक द्रव्य पाँच हैं- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि-अक्षिणी कर्णौ नासिके त्वक् जिह्वा चेति।। (च.सू. ८.१०)

पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठान = आश्रय=गोलक हैं- चक्षु, कर्ण, नासिका, त्वक्, जिह्वा।

पञ्चेन्द्रियार्थाः - शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। (च.सू. ८.११)

इन्द्रियों के पाँच विषय हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

पञ्चेन्द्रियबुद्धयः-चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः; ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थ-सत्त्वात्मसन्निकर्षजाः, क्षणिका, निश्चयात्मिकाश्च, इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्।। (च.सू. ८.१२)

एक-एक इन्द्रिय के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'इन्द्रियबुद्धि' नाम से कहा गया है। वे बुद्धियाँ इन्द्रिय, इन्द्रियों के विषय, मन और

आत्मा के सन्निकर्ष = सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, क्षणिक होती हैं तथा निश्चयात्मिका= वस्तुस्वरूपपरिच्छेदात्मिका होती हैं। इसी को वेदांतशास्त्र में जन्यज्ञान = आगन्तुक ज्ञान के नाम से कहा है।

पञ्चपञ्चक तालिका

१	इन्द्रियाणि	चक्षुः	श्रोत्रम्	घ्राणम्	रसना	स्पर्शनम्
२	द्रव्याणि	ज्योतिः (अग्निः)	आकाशः	पृथिवी	जलम्	वायुः
३	स्थानानि	अक्षिणी	कर्णौ	नासिके	जिह्वा	त्वक्
४	विषयाः	रूपम्	शब्दः	गन्धः	रसः	स्पर्शः
५	बुद्धयः (ज्ञानानि)	चक्षुःबुद्धिः	श्रोत्रबुद्धिः	घ्राणबुद्धिः	रसनबुद्धिः	स्पर्शबुद्धिः

मनो मनोर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रह[१]: शुभाशुभ-प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च द्रव्याश्रितं च कर्म; यदुच्यते क्रियेति।।

(च.सू. ८.१३)

मन, मन का चिन्तनरूप विषय[२], बुद्धि[३] (मनोबुद्धि= मन से उत्पन्न होने वाला सुखादि का ज्ञान) और आत्मा- यह अध्यात्म द्रव्यों एवं गुणों का संग्रह है जोकि शुभ में प्रवृत्ति तथा अशुभ से निवृत्ति का कारण है, गुण के अतिरिक्त द्रव्याश्रित कर्म जिसको कि क्रिया कहते हैं, वह भी शुभाशुभ प्रवृत्ति का हेतु है।

---

१. आत्मानमधिकृत्य यानि द्रव्याणि ये च गुणाः तेषां संग्रहोऽध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः। तत्र गुणाः पञ्च रूपादिबुद्धयः(द्वादशे सूत्रे उक्ता इन्द्रियबुद्धयः) प्रकृतसूत्रे उक्ता मनोबुद्धिश्च शेषं (पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि,पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः, मनः, मनोऽर्थ, आत्मा) द्रव्यम्। एतदुक्तं भवति - आत्मनोऽपकारकोपकारकाणां द्रव्यगुणानामयं संग्रहः (चक्रपाणिः)

२. मनसस्तु चिन्त्यमर्थः (च.सू. ८.१६)

३. बुद्धिरिहः मनोबुद्धिर्विवक्षिता, इन्द्रियबुद्धीनां पञ्चपञ्चकेनैव ग्रहणात्। (चक्रपाणिः)

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात् समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सम्पद्यते, सामर्थ्ययोगात् पुनः प्रकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति।। (च.सू. ८.१५)

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग से मनसहित विकृति को प्राप्त होती हुईं अपनी-अपनी रूपादि बुद्धियों का उपघात कर देती हैं तथा ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ समयोग होने पर पुनः स्वभाव अर्थात् अपने अविकृत रूप को प्राप्त कर अपनी-अपनी उन रूपादि बुद्धियों को सतत उत्पन्न करती हैं।

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसो मनोबुद्धेश्च त एव समानातिहीनमिथ्यायोगाः प्रकृतिविकृतिहेतवो भवन्ति।। (च.सू. ८.१६)

मन का अर्थ (विषय) तो चिन्त्य[1] (चिन्तन करना) है। इनमें मन के चिन्त्य विषयों का समयोग मन और मनोबुद्धि (मानस विषयों का ज्ञान) की प्रकृति का हेतु होता है तथा अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग विकृति का हेतु होता है।

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय[2] प्रकृतिभावे[3] प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः, तद्यथा- सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन[4] बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य[5] कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन[6], देशकालात्मगुणविपरीतोपासनेन चेति।। (च.सू. ८.१७)

---

१. इन्द्रियनिरपेक्षं मनो यद्गृह्णाति तच्चिन्त्यम्। (चक्रपाणिः)
२. अनुपघाताय, उपघातकहेतुवर्जनेनेत्यभिप्रायः। (चक्रपाणिः)
३. निर्विकारत्वकरणे, भेषजोपयोगेनेत्यभिप्रायः। (चक्रपाणिः)
४. इन्द्रियार्थसमयोगेन। (चक्रपाणिः)
५. बुद्ध्या सम्यगिदं मम हितमिदं ममाहितमित्यवेक्ष्यावेक्ष्य। (चक्रपाणिः)
६. कर्मणां प्रवृत्तीनां सम्यक् प्रतिपादनेनेति अहितकर्मपरित्यागेन हितकर्माचरणेन च। (चक्रपाणिः)

उपघातरहित अर्थात् विक्षोभरहित मन सहित इन्द्रियों के अविकृतभाव को बनाये रखने के लिए इन हेतुओं के द्वारा प्रकृतिभाव= निर्विकारत्व के सम्पादन में प्रयत्नशील होना चाहिए। जैसे- इन्द्रियार्थों के सात्म्य (अनुकूल) संयोग द्वारा जनित बुद्धि से कर्त्तव्य कर्मों को अच्छी प्रकार हिताहित देख-देख कर करना चाहिए तथा शरीर व इन्द्रियों में उत्पन्न विकार के प्रतिकार के लिए देशगुण (आनूपदेश, जाङ्गलदेश आदि), कालगुण (ग्रीष्म, शरदादि ऋतुएं व प्रातः-सायमादि काल) एवं आत्मगुण (वातल, पित्तल, कफल प्रकृति व उत्पन्न विकार या दोष) के विपरीत गुणों के सेवन से प्रयत्न करना चाहिए।

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत् संपादयत्यर्थद्वयमारोग्य-मिन्द्रियविजयं चेति।। (च.सू. ८.१७)

अतः अपना सर्वथा कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को सदैव अपनी स्मृति को स्थिर रखते हुए सद्वृत्त का अनुष्ठान करना चाहिए। इसका भली प्रकार अनुष्ठान करने से निश्चय ही मनुष्य को एक साथ दो लाभ होते हैं- आरोग्य की प्राप्ति और इन्द्रियों पर विजय।

सद्वृत्तवर्णन

तत्सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश! तद्यथा- देवगोब्राह्मण-गुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्। अग्निमुपचरेत्। ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्। द्वौ कालावुपस्पृशेत्। मलायनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्। त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान्संहारयेत्। नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्। साधुवेशः, प्रसिद्धकेशः, मूर्धश्रोत्रघ्राण-पादतैलनित्यः, धूमपः, पूर्वाभिभाषी, सुमुखः,दुर्गेष्वभ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः,

पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः[१], निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासिता, छत्री दण्डी मौली सोपानत्को युगमात्रदृग्विचरेत्। मङ्गलाचारशीलः, कुचेलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्ता, प्राक्श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात्। सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्। क्रुद्धानामनुनेता, भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसंधः सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशमगुणदर्शी, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च।। (च.सू. ८.१८)

हे अग्निवेश! उस सद्वृत्त का मैं समग्रता से उपदेश करूँगा, ऐसा कहकर महर्षि पुनर्वसु आत्रेय उपदेश देते हैं, यथा- देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध (वयोवृद्ध वा ज्ञानवृद्ध), सिद्ध और आचार्य की यथोचित पूजा (सत्कार) करे, अग्निहोत्र करे, उत्तम ओषधि (गिलोय, नीम आदि) का सेवन करे, प्रातः-सायं स्नान करे, मल-मार्गों और पैरों को पुनः पुनः विमल करे, हर पाँचवें दिन केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम और नखों को कटवाये, सदा बिना फटे वस्त्रों को पहने, सदा प्रसन्न-मन एवं सुगन्धि युक्त द्रव्यों से सुगन्धित रहे, सज्जनों जैसी वेशभूषा धारण करे, केशों को सुसज्जित रखे, शिर, कान, नासिका, पैर में नित्य तैल लगाये, (औषध द्रव्यों से युक्त) धूमपान का सेवन करे, (किसी परिचित से मिलने पर) उससे पहले ही कुशल-क्षेम पूछे, सुमुख (स्मितवदन/हँसमुख) रहे। विपत्ति में फँसे लोगों की यथाशक्ति सहायता करे, हवन करे, यजन करे, दान दे, चौराहों

१. हेतावीर्ष्युरिति येन हेतुनायं धनवान् विद्यावान् वा जातः स हेतुर्मे कथं भवेदिति प्रयत्नवता भवित्वयम्। फले नेर्ष्युरित्यनेन परस्य न धनादिफलसंबंधनिवारणेच्छा कर्त्तव्या। (चक्रपाणिः)

को नमन करे, बलिवैश्वदेव यज्ञ करे, अतिथिजनों का सत्कार करे, पितरों (बुजुर्गों) को पिण्डदान दे, समय पर हितकर, परिमित, प्रिय और सार्थक बोले, जितेन्द्रिय रहे, धर्माचरण करे, किसी की उन्नति के हेतु में ईर्ष्या करे- उन्नति के फल में नहीं, निश्चिन्त, निर्भय, लज्जावान्, धीमान् , महोत्साही, प्रवीण, क्षमाशील, धार्मिक और आस्तिक बने। विनयशील, बुद्धिमान्, विद्यासम्पन्न, कुलीन, वयोवृद्ध, सिद्धपुरुष एवं आचार्यों की उपासना (सेवा) करे। छाता, छड़ी, पगड़ी, जूता आदि धारण करे। चार हाथ आगे देखते हुए चले। माङ्गलिक आचरण करने वाला बने। मलिन कपड़े, हड्डी, काँटे, अपवित्र वस्तु व स्थल, केश, तुष का ढेर, भस्म, कपाल, स्नानभूमि व बलिभूमि[१] को छोड़कर चले अर्थात् उनके ऊपर से न चले। थकान से पूर्व व्यायाम को छोड़ देवे। सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखे। क्रोधियों को मनाने वाला, भयभीतों को आश्वस्त करने वाला, दीन-दु:खियों पर उपकार करने वाला, सत्य को स्वीकार करने वाला[२], शान्तिप्रिय, दूसरों के कटुवचनों को सहने वाला, क्रोध को नष्ट करने वाला, प्रशम=शान्ति को गुण के रूप में देखने के स्वभाव वाला तथा राग-द्वेष के कारणों का हनन करने वाला बने।

कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि।
कुङ्कुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः।। (अ.हृ.सू. ३.११)
नवमन्नं वसां तैलं, शौचकार्ये सुखोदकम्।
प्रावाराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम्।। (अ.हृ.सू. ३.१३)
उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत्।
युक्त्यार्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा।। (अ.हृ.सू. ३.१४)

---

१. वह स्थान जहाँ देवों के लिए भोजनांश रखा जाता है।
२. सत्यसंधः प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहकः। (चक्रपाणिः)

शरीर पर लगे स्नेह को कषाय रस प्रधान द्रव्यों के कल्क से (उद्वर्तन द्वारा) दूर करके विधिपूर्वक स्नान करना चाहिए। स्नान करने के पश्चात् कस्तूरीयुक्त कुंकुम (केशर) आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगाकर अगुरु आदि से धूपन करना चाहिए। नवान्न, वसा, तैल तथा शरीर-परिमार्जन के लिए उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। प्रावार (ऊनी कम्बल), अजिन (मृगचर्म), कौशेय (रेशमी वस्त्र), प्रवेणी (कथरी), कौचव (रंगीन कम्बल) आदि को बिछाकर और उष्ण प्रकृति वाली हल्की चादर को ओढ़कर सोना चाहिए। सूर्य-किरणों (धूप) एवं स्वेदन-कर्म का नित्य युक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिए और पादुका धारण करना चाहिए।

निषेधात्मक कर्म

नानृतं ब्रूयात्। नान्यस्वमाददीत। नान्यस्त्रियमभिलषेत्। नान्यश्रियम्। न वैरं रोचयेत्। न कुर्यात् पापम्। न पापेऽपि पापी स्यात्। नान्यदोषान्ब्रूयात्। नान्यरहस्यमागमयेत्। नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत, नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः। न दुष्टयानान्यारोहेत। न जानुसमं[१] कठिनमासनमध्यासीत। नानास्तीर्ण-मनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत। न गिरिविषममस्तकेष्वनु-चरेत्। न द्रुममारोहेत्। न जलोग्रवेगमवगाहेत। न कुलच्छायामुपासीत। नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत्। नोच्चैर्हसेत्। न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्। नानावृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्। न नासिकां कुष्णीयात्। न दन्तान्विघट्टयेत्। न नखान्वादयेत्। नास्थीन्यभिहन्यात्। न भूमिं विलिखेत्। न छिन्द्यात्तृणम्। न लोष्टं मृद्नीयात्। न विगुणमङ्गैश्चेष्टेत, ज्योतींष्यनिष्टममेध्यमशस्तं च नाभिवीक्षेत। न हुंकुर्याच्छवम्। न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत्। न क्षपास्वमरसदन-

१. आयुर्वेद में जानु व अरत्नि को प्रमाण के रूप में प्रयोग किया है। जानुप्रमाणोत्सेधं जानुसमम्। उत्सेधः उच्छ्रायः।

चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनान्यासेवेत। नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत्। न पापवृत्तान्स्त्रीमित्रभृत्यान्भजेत। नोत्तमैर्विरुध्येत। नावरानुपासीत। न जिह्मं रोचयेत्। नानार्य्यमाश्रयेत्। न भयमुत्पादयेत्। न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत। नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत्। न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणः न विषाणिनः। पुरोवातातपावश्यायातिप्रवाताञ्जह्यात्। कलिं नारभेत। नासुनिभृतोऽग्निमुपासीत नोच्छिष्टः। नाधःकृत्वा प्रतापयेत्। नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्। न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम्। न केशाग्राण्यभिहन्यात्। नोपस्पृश्य ते एव वाससी बिभृयात्। नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत्। न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेन्नेतराण्यनुदक्षिणम्।। (च.सू. ८.१९)

असत्य न बोले। दूसरे का धन न लेवे। दूसरे की स्त्री या सम्पत्ति की अभिलाषा न करे। वैरभाव न चाहे। पापकर्म न करे। पापी के प्रति भी पापी न होवे। दूसरों के दुर्गुणों को न कहे। दूसरों के रहस्य को न जाने। अधार्मिक, राजा के शत्रु, पागल, नीच, भ्रूणहन्ता, क्षुद्र और दुष्टजनों के साथ न बैठे। दोषयुक्त वाहनों पर सवार न होवे। घुटने के बराबर ऊँचे और कठोर आसन पर न बैठे। बिना बिस्तर बिछे, बिना तकिया वाले, छोटे या विषम शय्या स्थल पर शयन न करे। पर्वत की ऊँची-नीची चोटियों पर न घूमे। वृक्ष पर न चढ़े। जल के तीव्र वेग में स्नान न करे। नदी तट पर स्थित वृक्षों की छाया में न बैठे। अनियन्त्रित अग्नि (उत्पात) के आस-पास न जावे। जोर-जोर से न हँसे। शब्दयुक्त अपान वायु न छोड़े। मुख खोलकर जंभाई न लेवे, न छींके और न हँसे। नाक को न कुरेदे। दाँतों को न किटकिटावे। नखों को न बजावे। हड्डियों को न चटकावे। भूमि को न कुरेदे। तिनके न तोड़े। ढ़ेले(मिट्टी) को न मसले। अङ्गों से व्यर्थ चेष्टा न करे। ज्योतियों, अनिष्ट वस्तु, अपवित्र वस्तु या अमाङ्गलिक वस्तु को सामने से न देखे। शव (मृतक) को देखकर हुँकार

न भरे। चैत्य (पूज्यवृक्ष), ध्वज, गुरु, पूज्य जन, अमङ्गल वस्तु की छाया को न लाङ्घे। रात्रिकाल में देवालय (मन्दिर), चैत्य[1] (पूज्यवृक्ष), यज्ञभूमि (चत्वर), चौराह, बगीचा, श्मशान और वध-स्थल पर न जावे। निर्जन घर या जंगल में अकेले प्रवेश न करे। पापी (दुष्चरित्र)स्त्री, मित्र या नौकर को न रखे। श्रेष्ठ पुरुषों से विरोध न करे। नीच पुरुषों का सङ्ग न करे। कुटिल कर्मों में रुचि न ले। अनार्य (दुराचारी) का आश्रय न ले। भय उत्पन्न न करे। साहसिक कर्म, अतिनिद्रा, अतिजागरण, अतिस्नान, अतिपान, अतिभोजन न करे। घुटनों को ऊपर कर ज्यादा देर तक न बैठे। सर्प, काटने वाले प्राणी (कुत्ता आदि) और सींगधारी पशुओं के निकट न जाये। पूर्वी हवा, धूप, ओस और आँधी का सेवन न करे। कलह आरम्भ न करे। असमाहित चित्त होकर अग्नि के पास न बैठे और न जूठे मुख। नीचे झुककर अग्नि को न तापे। बिना थकान दूर किये, बिन मुख धोये और निर्वस्त्र होकर स्नान न करे। स्नान की शाटी (धोती या साड़ी) से उत्तम अङ्गों (शिर आदि) का स्पर्श न करे। केश के अग्र भागों को न फटकारे। स्नान करके उन्हीं पूर्वधारित ऊपर-नीचे के दोनों वस्त्रों को पुनः न पहने। रत्न, घृत, पूज्य माङ्गलिक वस्तु और पुष्प को बिना स्पर्श या धारण किये बाहर न जाये। (गुरु, देवता आदि) पूज्य जन और माङ्गलिक वस्तु के वाम भाग से न जावे और इनसे भिन्न अपूज्य, अमाङ्गलिक वस्तु आदि के दक्षिण भाग से न जावे।

नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो, नानिरूप्य पितृभ्यो, नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो न पात्रीष्वमेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्न मन्त्रैरनभिमंत्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न

---

१. चैत्यो ग्रामप्रधानतरुः। (चक्रपाणिः)

प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत। न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः। नाशेषभुक्स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिभ्यः। न नक्तं दधि भुञ्जीत। न सक्तूनेकानश्नीयान्न निशि न भुक्त्वा न बहून्न द्विर्नोदकान्तरितान्न[1] छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत्।। (च.सू. ८.२०)

हाथ में रत्न धारण किये बिना, स्नान किये बिना, फटे हुए वस्त्र पहनकर, जप किये बिना, देवताओं को आहुति दिये बिना, पितरों को अन्न-पान दिये बिना, गुरुजन-अतिथिजन या अपने आश्रितों को भोजन दिये बिना स्वयं भोजन न करे[2]। बिना शुभ गन्ध धारण किये, बिना माला धारण किये, बिना हाथ-पैर और मुख धोये, अशुद्ध मुख से भोजन न करे। उत्तर दिशा की ओर मुख किये बिना, विमना (उदास) होकर भोजन न करे। अभक्त (वफादारी रहित), अशिष्ट (दुष्ट), अपवित्र और भूखे परिचर (सेवक) द्वारा परोसा हुआ भोजन न करे। अपवित्र पात्रों में, अनुचित स्थान में, असमय में, बहुजनाकीर्ण (बाजार, चौराहा आदि) स्थान पर भोजन न करे। पहले अग्नि को दिये बिना, प्रोक्षण जल से प्रोक्षण किये बिना, मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित किये बिना, निन्दा करते हुए, निन्दित भोजन या प्रतिकूल व्यक्ति द्वारा लाये गये भोजन को न खाये। हरितक[3] (सलाद), शुष्क-शाक, फल और भक्ष्य[4] (मोदक आदि) के अतिरिक्त बासी पदार्थों का प्रयोग न करे। दही, शहद, नमक, सत्तू और घृत को छोड़कर अन्य पदार्थों को समग्ररूप से न खाये। रात्रि में दही का सेवन न करे[5]। घृत या

---

१. नोदकमन्तरा पीत्वा।

२. केवलाघो भवति केवलादी।

३. हरितकम् आर्द्रकादिः। (चक्रपाणिः)

४. भक्ष्या मोदकादयः। (चक्रपाणिः)

५. नक्तं दधिभोजननिषेधे आगमः-

दिवा कपित्थे वसति रात्रौ दध्नि च सक्तुषु।

अलक्ष्मीः कलहाधारा कोविदारे कृतालया। (च.सू. ८.२०, चक्रपाणिः)

शर्करा से रहित केवल सत्तू न खाये। रात्रि में, भोजन करके, अधिक मात्रा में, दिन में दो बार, बीच-बीच में जल पान करते हुए या दाँतों से चबाकर सत्तू न खाये।

नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत। न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्। न वाय्वग्नि-सलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावा- तवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्। न पन्थानमवमूत्रयेत्। न जनवति नान्नकाले न जपहोमाध्ययनबलि-मङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्।। (च.सू. ८.२१)

शरीर को टेढ़ा करके छींक न ले, न भोजन करे और न ही शयन करे। मलमूत्र आदि का वेग होने पर अन्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त न होवे, अपितु पहले वेग का निवारण करे। वायु, अग्नि, जल, चन्द्र, सूर्य, ब्राह्मण एवं गुरु के सम्मुख होकर थूक, अपान वायु या मल-मूत्र का त्याग न करे। मार्ग पर मूत्र-विसर्जन न करे। जनसमुदाय के मध्य, भोजन के समय या जप, होम, अध्ययन, बलि तथा माङ्गलिक कार्यों के समय कफ अथवा नासिका के मल का त्याग न करे।

नातिसमयं[१] जह्यात्। न नियमं भिन्द्यात्। न नक्तं नादेशे चरेत्। न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्। न बालवृद्धलुब्धमूर्ख-क्लिष्ट[२]क्लीबैः[३] सह सख्यं कुर्यात्। न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात्। न गुह्यं विवृणुयात्। न कञ्चिदवजानीयात्। नाहंमानी स्यात्। नादक्षो नादक्षिणो नासूयकः। न ब्राह्मणान् परिवदेत्। न गवां दण्डमुद्यच्छेत्। न वृद्धान् न गुरून्न गणान्न नृपान् वाधिक्षिपेत्। न चातिब्रूयात्। न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुह्यज्ञान्बहिष्कुर्यात्।।

(च.सू. ८.२५)

---

१. मिलित्वा बहुभिः कृतो नियमोऽतिसमयः। (चक्रपाणिः)
२. क्लिष्टो निन्दितो रोगादिना। (चक्रपाणिः)
३. क्लीबो हीनसत्त्वः। (चक्रपाणिः)

बहुत लोगों द्वारा मिलकर बनाए गये सर्वहितकारी सार्वजनिक नियमों को न तोड़े। किसी नियम का उल्लंघन न करे। रात्रि में किसी अरमणीय स्थान पर न जाए। संध्याकाल में भोजन, अध्ययन (पठन-पाठन), स्त्रीसंग और निद्रा का सेवन न करे। छोटे बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख (मूढ), निंदित रोग से युक्त और नपुंसक के साथ मित्रता न रखे। मद्यपान, द्यूत अर्थात् जुआ खेलने और वेश्याप्रसंग में कदापि रुचि न रखे। अपनी या किसी की गुह्य बातें विवृत न करे अथवा अपना गुप्तांग प्रकट न करे। किसी भी स्त्री अथवा पुरुष का अपमान न करे। स्वयं पर अभिमान न करे। चतुर रहे, लोक-व्यवहार में दक्ष बने तथा कभी निन्दक न बने। ब्राह्मणों की निन्दा न करे, उन्हें सदा पूजनीय समझे। गायों पर डण्डे से प्रहार न करे। वृद्धजनों, अपने से पूज्यों, विद्वन्मण्डली तथा राजा-महाराजाओं पर आक्षेप न करे। अत्यधिक वार्तालाप न करे। बन्धु-बान्धवों, मित्रजनों (प्रियजनों)आपातकाल में सहायक व्यक्तियों और अपनी गुह्य बातों को जानने वालों को बहिष्कृत न करे अर्थात् उनकी अवज्ञा न करे।

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्। नाभृतभृत्यो नाविश्रब्धस्वजनो, नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारः, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिशङ्की, न सर्वकालविचारी।। (च.सू. ८.२६)

कभी अधीर न होवे अर्थात् सदा धैर्यवान् बने रहे। अपने मन को आपे से बाहर न होने दे। अपने सेवक का सदा पोषण करे। अपने स्वजनों पर सदा विश्वास रखे। स्वयं ही सुखी न होवे अर्थात् सुख-साधनों का अकेला उपभोग न करे। दुःखजनक स्वभाव, आचरण और उपकरणों वाला न बने। सब पर कदापि विश्वास न करे और सबको अविश्वास की दृष्टि से न देखे। सारा समय विचार-चिन्तन में ही व्यतीत न करे।

न कार्यकालमतिपातयेत्। नापरीक्षितमभिनिविशेत्। नेन्द्रियवशगः स्यात्, न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत्। न बुद्धीन्द्रियाणामति भारमादध्यात्। न चातिदीर्घसूत्री स्यात्। न क्रोधहर्षावनुविदध्यात्। न शोकमनुवसेत्। न सिद्धावुत्सेकं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम्। प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्। हेतुप्रभावविनिश्चितः स्याद्धेत्वारम्भनित्यश्च। न कृतमित्याश्वसेत् न वीर्यं जह्यात्। नापवादमनुस्मरेत्।। (च.सू. ८.२७)

जिस समय जो कार्य करना चाहिए उस समय वही कार्य करे अर्थात् उस कार्य से अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में मन न लगावे। बिना सोचे समझे किसी कार्य में प्रवृत न हो अर्थात् कार्य का प्रथम अच्छी तरह से परीक्षण करे फिर उसमें अपना मन लगाए। इन्द्रियों के वशीभूत न हो। मन को कदापि चञ्चल न होने दे अथवा चञ्चल मन को इधर-उधर न भटकावे। बुद्धीन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) पर अधिक भार न डाले। अतिदीर्घसूत्री न होवे अर्थात् किसी कार्य को बहुत देर में करने वाले न हो। बहुत क्रोधित होकर अथवा बहुत हर्षित होकर किसी कार्य को न करे। देर तक शोक में ही न डूबा रहे। सफलता मिलने पर अत्यधिक प्रसन्न न होवे और असफलता या हार मिलने पर अत्यधिक दु:खी न होवे। प्रत्येक शरीरादि के उत्पत्ति कारण की खोज करे अथवा पंचभूतसमुदायलक्षण अनित्य प्रकृति का स्मरण करे जिससे कि राग-द्वेषादि से अभिभूत न हो। शुभ कार्यों का परिणाम सदा शुभ होता है और अशुभ कार्यों का परिणाम सदा अशुभ होता है, अत एव सर्वदा शुभ कर्मों में लगे रहने का प्रयास करे। कभी भी यह विचार न करे कि मैंने जो कार्य किया है, वह सफलता को प्राप्त होगा ही अर्थात् असफलता को भी स्वीकार करने के लिए तैयार रहे। कभी भी उत्साह का त्याग न करे, अपने बारे में किसी अपवाद का स्मरण करने से हीन भावना आती है अत: लोकापवाद का स्मरण न करे अपितु यह सोचे कि उस समय के ज्ञान के अनुसार वैसा हो गया था, अब तो वैसा कुछ भी नहीं है।

नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयाद्। आत्मानमाशीर्भिराशासान:- अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद्, वायुर्मे प्राणानादधातु, विष्णुर्मे बलमादधातु, इन्द्रो मे वीर्यम्, शिवा मां प्रविशन्त्वाप:, आपो हिष्ठेत्यप: स्पृशेत्। द्वि:परिमृज्योष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च।। (च.सू. ८.२८)

बिना स्नान आदि के अशुचि (अपवित्र) अवस्था में उत्तमाज्य (गोघृत), अक्षत, तिल, कुश और सरसों आदि की अग्नि में आहुति न देवे। आशावादी होकर सदा मंगलकामनाएँ करे कि मेरे शरीर में सदा अग्नि विद्यमान रहे वह मुझसे दूर न होवे। मेरे प्राणों को वायु सदा धारण करता रहे, विष्णु सदा मुझमें बल की वृद्धि करता रहे। भगवान् इन्द्र मुझे वीर्यवृद्धि में सहायता करे अर्थात् मैं शक्ति बढ़ाने के लिए इन्द्र की उपासना करूँ। कल्याणकारी जलों का मुझमें प्रवेश होवे। 'आपो हिष्ठा०' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करके शरीर के विभिन्न स्थानों को जल से स्पर्श करे और शुद्ध होने की भावना करे। ओष्ठ को दो बार व दोनों पैरों को भी जल से स्पर्श करके शुद्ध करे, इसी प्रकार मूर्धा में स्थित आँख, कान, नाक और कण्ठ (आस्य) को जल से स्पर्श करके हृदय स्थान व सिर का प्रोक्षण करे।

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत्, न देवब्राह्मणपितृ–परिवादांश्च; न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचानुपासीत।।

(सु. चि.२४.)

राजविरोधी वचन, कठोर वचन, निन्दावचन न बोले और असत्यभाषण न करे। देव, ब्राह्मण और पितृजनों की निन्दा न करे। राजा के विरोधी, उन्मत्त, पतित, शूद्र तथा नीच व्यक्तियों का संग न करे।

ब्रह्मचर्य-ज्ञान-दान मैत्री[१]कारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति।।

(च.सू. ८.२९)

ब्रह्मचर्य अर्थात् मुख्यरुप से वीर्य की रक्षा तथा ब्रह्मभाव, आत्मभाव और भगवत्प्रेम में जीवन व्यतीत करे, ज्ञान का विज्ञानसहित परीक्षण कर उसे धारण करे, असहायों को दान देवे, सभी प्राणियों के प्रति अपनी आत्मा के समान अप्रतिकूल प्रवृति वाला होवे, दु:खियों के प्रति करुणा की भावना रखे, दूसरों के सुख में सुखी होवे और स्वयं भी हर्षित रहे, बुरे लोगों के प्रति उपेक्षा अर्थात् दुष्टों के प्रति बुरी भावना भी न करे और अच्छी भावना भी नहीं हो सकती इसलिए तटस्थ रहते हुए अपनी समता को बनाये रखे। अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को सदा अपने वश में रखे और यदि वे भटक रही हों तो उन्हें किसी भी उपाय से संयम में रखने का प्रयत्न करे।

आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्।। (अ.हृ.सू. २.४६)

सभी प्राणियों के प्रति करुणा का भाव रखना, त्याग (दान) करना, मन, वचन एवं शरीर पर नियन्त्रण रखना और दूसरों के कार्यों को नि:स्वार्थ भाव से अपना समझकर करना ही सम्पूर्ण सदाचार है।

सदाचार-सेवन का लाभ

स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते।। (च.सू. ८.३१)
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसंमतः।
धर्मार्थावेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति।। (च.सू. ८.३२)
परान्सुकृतिनो लोकान्पुण्यकर्मा प्रपद्यते।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा।। (च.सू. ८.३३)

---

१. मैत्री सर्वभूतेष्वात्मनीवाप्रतिकूला प्रवृत्तिः। (चक्रपाणिः)

जो व्यक्ति स्वस्थवृत्त का यथोपदिष्ट आयुर्वेदोक्त विधि से सम्यक् अनुष्ठान करता है, वह नीरोग रहकर सौ वर्ष पर्यन्त आयु से वियुक्त नहीं होता। वह व्यक्ति साधुओं और विद्वानों से पूजित होकर यश से मनुष्यलोक को पूरित करता है, धर्म व अर्थ को प्राप्त करता है और प्राणियों का बन्धु बन जाता है। वह पुण्यकर्मा श्रेष्ठ सुकृती जनों के लोकों को प्राप्त हो जाता है, इसलिए सभी को सर्वदा इस सद्वृत्त का अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

यच्चान्यदपि किंचित्स्यादनुक्तमिह पूजितम्।
वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते।। (च.सू. ८.३४)

यदि इन सद्वृत्तों के अतिरिक्त भी कोई ऐसे वचन हों जो साधुओं द्वारा उपदेश किए गए हों, उन्हें भी सम्मान का स्थान देकर उनका यथावत् पालन करना चाहिए, महर्षि आत्रेय सदैव ऐसा स्वीकार करते हैं।

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।

(अ.हृ.सू. ४.३६)

सदैव हितकर आहार-विहार का सेवन करने वाला, शुभाशुभ कार्यों का भली-भाँति विचार करके शुभ कार्यों को करने और अशुभ कार्यों का परित्याग करने वाला, विषयों में अनासक्त, दानशील, समदर्शी (सभी प्राणियों में राग द्वेष आदि से रहित समभाव रखने वाला), सदैव सत्य बोलने वाला, क्षमावान् और शिष्टजनों के कर्मों एवं कथनों का अनुसरण करने वाला मनुष्य सदैव नीरोगी रहता है।

धर्मार्थौ कीर्तिमित्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम्।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा।। (सु.सू.२५.४५)

अपने कर्म के द्वारा सबका हित (कल्याण) साधता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, प्रचुर कीर्ति, सज्जन समुदाय में सम्मान तथा स्वर्ग में निवास अर्थात् सुख-विशेष को प्राप्त करता है।

दिनचर्या

ब्राह्ममुहूर्त-जागरण

ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

अपनी जीवन-रक्षा के लिए स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिए।

दन्तधावन (दातुन)

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः।। (अ.हृ.सू. २.१)
अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिजम्।
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्।। (अ.हृ.सू. २.२)
कनीन्यग्रसमस्थौल्यं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम्।
भक्षयेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्।। (अ.हृ.सू. २.३)

शरीरचिन्ता अर्थात् मेरा शरीर कैसा है, इसका हित कैसे करना है, ऐसा चिन्तन कर अथवा भोजन के जीर्णाजीर्ण का विचार कर मल-मूत्र त्याग कर तदनन्तर अर्क (मदार), वट (बरगद), खदिर (खैर), करंज, अर्जुन आदि वृक्षों की कनिष्ठा जितनी मोटी, सीधी एवं बारह अंगुल लंबी, कटु, तिक्त एवं कषाय रस वाली दातुन के अग्रभाग को कूँचकर मुलायम बनाकर दाँतों और मसूड़ों को बिना हानि पहुँचाए प्रातःकाल और भोजन के बाद दातुन करना चाहिए।

दातुन का निषेध

नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती।
तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्।। (अ.हृ.सू. २.४)

अजीर्ण, वमन, श्वास, कास, ज्वर, अर्दित (लकवा), तृष्णा (प्यास), मुखपाक, हृदयरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग एवं कर्णरोग में दातुन नहीं करना चाहिए।

अञ्जन कर्म

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्।
चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्।। (अ.हृ.सू. २.५)
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात् स्त्रावणार्थं रसाञ्जनम्।

दातुन करने के पश्चात् नेत्रों के लिए हितकर सौवीराञ्जन का प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिए। चूँकि नेत्र तेजोमय होता है, इसलिए उसे कफ से विशेष भय रहता है। अतः नेत्रों से विकृत कफ को निकालने के लिए सप्ताह में एक बार रसाञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

नस्य, गण्डूष, धूमपान एवं ताम्बूल-सेवन

ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत्।। (अ.हृ.सू. २.६)

अञ्जन-कर्म के पश्चात् क्रमशः नस्य (नावन), गण्डूष (कुल्ला), (विशिष्ट औषधियों से निर्मित) धूमपान और ताम्बूल-सेवन करना चाहिए।

ताम्बूल-सेवन का निषेध

ताम्बूलं क्षतपित्तास्त्ररूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि।। (अ.हृ.सू. २.७)

क्षतरोग (उरःक्षत या क्षतज-कास), पित्तज रोग, रक्तज रोग, रूक्षता, नेत्ररोग (नेत्राभिष्यन्द), विषरोग, मूर्च्छा, मदात्यय एवं शोषरोग में ताम्बूल-सेवन नहीं करना चाहिए।

अभ्यंग कर्म

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्।। (अ.हृ.सू. २.८)
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।
वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः।। (अ.हृ.सू. २.९)

सरसों आदि के तैल से शरीर पर नित्य अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग करने से वृद्धावस्था, श्रम (शारीरिक थकावट) एवं वातजन्य रोग दूर होते हैं, दृष्टि निर्मल हो जाती है, शरीर पुष्ट हो जाता है, आयु की वृद्धि होती है, नींद अच्छी आती है, त्वचा सुन्दर बन जाती है और शरीर दृढ़ हो जाता है। सिर, कान एवं पैर के तलवों पर विशेषरूप से अभ्यंग करना चाहिए। कफज रोग में, संशोधन-कर्म के पश्चात् और अजीर्णरोग में अभ्यङ्ग नहीं करना चाहिए।

उद्वर्तन (उबटन)

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।। (अ.हृ.सू. २.१५)

उबटन कफहर एवं मेदोहर (शरीर की चर्बी को कम करने वाला) होता है, अङ्गों को स्थिरता (सुदृढ़ता) प्रदान करता है और त्वक्प्रसादन (त्वचा को अत्यधिक निखारने वाला) होता है।

स्नान

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्।। (अ.हृ.सू. २.१६)

स्नान जठराग्निवर्धक, वृष्य (वाजीकरण), आयुर्वर्धक, उत्साहवर्धक, बलवर्धक, कण्डूनाशक, मलनाशक, श्रमहर, स्वेदहर, तन्द्रानाशक, तृष्णाशामक, दाहशामक एवं पापनाशक होता है।

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्[1] **।।** (च.सू. ५.९४)

---

१. काम्यं पुष्टिबलप्रदम्। सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं स्नानमोजस्करं परम् इति पाठान्तरम्।

नित्य स्नान करने से शरीर पवित्र और निर्मल रहता है। यह पौरुष एवं चिरायु को प्रदान करता है। थकान, पसीना और मलों को दूर कर शारीरिक बल तथा ओज की वृद्धि करता है[१]।

उष्णाम्बुनाध:कायस्य परिषेको बलावह:।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम्।। (अ.हृ.सू. २.१७)

शरीर के निचले भाग पर उष्ण जल से परिषेक (स्नान) करने पर बल की वृद्धि होती है, जबकि सिर पर उष्ण जल डालकर स्नान करने से बालों एवं नेत्रों में कमजोरी आती है।

स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु।
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्।। (अ.हृ.सू. २.१८)

अर्दित (मुख का लकवा), नेत्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, अतिसार, आध्मान (अफारा), पीनस (नजला) तथा अजीर्ण में स्नान वर्जित है। भोजन करने के तुरन्त बाद भी स्नान नहीं करना चाहिए।

संक्षिप्त दिनचर्या

नक्तन्दिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति।
दु:खभाग् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृति:।। (अ.हृ.सू. २.४७)

'इस समय मेरे दिन-रात कैसे व्यतीत हो रहे हैं'- जो व्यक्ति निरन्तर इस प्रकार का चिन्तन करता है, वह जीवन में कभी भी दु:खी नहीं होता है।

दिनचर्या पालन से लाभ

इत्याचार: समासेन, यं प्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशो लोकांश्च शाश्वतान्।। (अ.हृ.सू. २.४८)

---

१. प्रात: स्नानमलं च पापहरणं दु:स्वप्नविध्वंसनम्, शौचस्यायतनं मलापहरणं संवर्धनं तेजसाम्।

इस प्रकार संक्षेप में दिनचर्या का वर्णन कर दिया गया है, जिसका पालन करने से मनुष्य दीर्घायु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश एवं सनातन लोकों (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

व्यायाम

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी।
देहव्यायामसंख्याता[१] मात्रया तां समाचरेत्।। (च.सू. ७.३१)

शरीर की वह अभीष्ट चेष्टा (क्रिया) जिसके द्वारा शरीर की स्थिरता तथा बल की वृद्धि होती है, उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम को उचित मात्रा में नित्य ही करना चाहिए।

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसञ्ज्ञितम्।
तत् कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः।। (सु.चि. २४.३८)

शरीर में थकान उत्पन्न करने वाले कर्म को 'व्यायाम' कहते हैं। व्यायाम करने के पश्चात् सुखपूर्वक धीरे-धीरे शरीर को सब ओर से मलना चाहिए।

व्यायाम से लाभ

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा।। (सु.चि. २४.३९)
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते।। (सु.चि. २४.४०)

व्यायाम से शरीर की पुष्टि, कान्ति, अङ्गों का सुगठन, जठराग्नि का प्रदीपन, आलस्यरहितता, स्थिरता, लघुता, शुद्धता, श्रम, क्लम पिपासा, उष्णता, शीतादि को सहन करने की क्षमता तथा उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है।

१. देहस्य व्यायामो देहव्यायामः, संख्याता संज्ञिता।

न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात्।। (सु.चि. २४.४१)

व्यायाम के समान स्थूलता को कम करने का और कोई उपाय नहीं है। व्यायाम करने वाले मनुष्य को शत्रु भी बलपूर्वक परेशान नहीं करते।

न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति।
स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च।। (सु.चि. २४.४२)

व्यायाम करने वाले मनुष्य को बुढ़ापा भी अचानक नहीं आता तथा व्यायामशील व्यक्ति का मांस भी स्थिर हो जाता है अर्थात् मांसपेशियाँ सुदृढ़ हो जाती हैं।

व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव।। (सु.चि. २४.४३)

व्यायामजन्य स्वेद से स्विन्न (भीगे हुए) शरीर वाले तथा पैरों की अच्छी प्रकार मालिश करने वाले व्यक्ति के पास व्याधियाँ वैसे ही नहीं आतीं जैसे शेर के पास छोटे-छोटे मृग नहीं आते।

वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्।
व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्।। (सु.चि. २४.४४)
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते।
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम्।।(सु.चि.२४.४५)
स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः।
सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः।। (सु.चि. २४.४६)
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा।
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते।। (सु.चि. २४.४७)
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्।

व्यायाम वयोगुण (अवस्थानुरूप गुण) तथा रूपगुण से हीन व्यक्ति को भी सुदर्शन बना देता है। नित्य व्यायाम करने वाले मनुष्य का विरुद्ध, अपक्व व विदग्ध भोजन भी बिना किसी परेशानी के पच जाता है। स्निग्ध (चिकनाईयुक्त) भोजन करने वाले बलशाली व्यक्तियों के लिए व्यायाम सदैव हितकारी होता है। यह शीत और वसन्त ऋतु में तो अत्यन्त हितकारी होता है। आत्महितैषी पुरुषों को सब ऋतुओं में प्रतिदिन अपने आधे बल के अनुसार व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम करते हुए व्यक्ति का हृदय स्थान में स्थित वायु जब मुख में पहुँच जाता है, तब 'बलार्द्ध व्यायाम' जानना चाहिए।

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम्।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम्।। (आ.म. २५.६)

व्यायामशील, स्निग्ध शरीर वाले, तीव्र जठराग्नि वाले, युवावस्था वाले तथा बलशाली व्यक्तियों के लिए अल्प मात्रा में लिया गया तथा अभ्यास के कारण सात्म्य हो चुका विरोधी भोजन भी हानिकारक नहीं होता है।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते।। (च.सू. ७.३२)

व्यायाम के नित्य अभ्यास से शरीर में हलकापन, कार्य करने का सामर्थ्य, शरीर में दृढ़ता, कष्ट सहने की शक्ति तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है एवं दोषों का क्षय भी होता है। जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा है- 'विरोध्यपि न पीडायै'।

व्यायाम के अयोग्य

वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत्।

वातपित्त-रोगी को, बालक, वृद्ध एवं अजीर्णरोगी को व्यायाम नहीं करना चाहिए।

व्यायाम के योग्य काल एवं पश्चात् कर्म

अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः।।(अ.हृ.सू.२.११)
शीतकाले वसन्ते च, मन्दमेव ततोऽन्यदा।
तं कृत्वाऽनुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः।। (अ.हृ.सू. २.१२)

स्निग्ध भोजन करने वाले बलवान् व्यक्ति को शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर-ऋतु) एवं वसन्त-ऋतु (चैत्र-वैशाख मास) में शरीर के आधे बल से व्यायाम करना चाहिए, जबकि अन्य ऋतुओं में व्यायाम कम मात्रा में करना चाहिए। व्यायाम करने के बाद शरीर को सुखपूर्वक मसलना चाहिए।

अतिव्यायाम से हानि

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते।। (अ.हृ.सू. २.१३)
व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादि साहसम्।
गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति।। (अ.हृ.सू. २.१४)

अत्यधिक व्यायाम करने से तृष्णा (प्यास), क्षयरोग (राजयक्ष्मा), प्रतमक-(श्वास रोग), रक्तपित्त (नकसीर), श्रम, क्लम (बिना श्रम किये ही थकान की अनुभूति), कास, ज्वर एवं छर्दि (वमन) रोग हो जाते हैं। व्यायाम, रात्रि-जागरण, अध्वगमन (मार्गगमन/पैदल चलना), स्त्री-प्रसंग (मैथुन करना), हास्य (हँसना), भाष्य (बोलना/भाषण देना), साहस (अर्थात् अपनी शक्ति से अधिक मात्रा में कार्य करना) आदि का अधिक मात्रा में सेवन करने वाला व्यक्ति शीघ्र ही उसी प्रकार से नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सिंह अपने से अधिक बलवान् एवं भारी हाथी को खींचते हुए नष्ट हो जाता है।

श्रम: क्लम: क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामक:।
अतिव्यायामत: कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते।। (च.सू. ७.३३)

अत्यधिक व्यायाम करने से शरीर में श्रम (थकान), क्लम[1] अर्थात् मन और इन्द्रियों में शिथिलता, रसादि धातुओं का क्षय, अत्यधिक प्यास, रक्त-पित्तजन्य रोग, श्वासरोग, ज्वर और वमन आदि रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमा:।। (सु.चि. २४.४८)
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसम्भवा:।

अधिक व्यायाम करने से क्षीणता, तृष्णा (प्यास), अरुचि, छर्दि, रक्तपित्त, भ्रम, क्लम, कास, शोष, ज्वर और श्वास आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च।। (सु.चि. २४.४८)
समीक्ष्य कुर्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।

मनुष्य को आयु, बल, शरीर, देश, काल और भोजन का विचार करके व्यायाम करना चाहिए अन्यथा वह रोगी हो सकता है।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदस: क्षय:।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते।। (अ.हृ.सू. २.१०)

व्यायाम करने से शरीर हल्का हो जाता है, कार्य-शक्ति एवं जठराग्नि बढ़ जाती है, मेद (शरीर की चर्बी) नष्ट हो जाता है और शरीर की मांसपेशियाँ पुष्ट होकर स्पष्टरूप से दिखाई पड़ने लगती हैं।

---

१. क्लम इह मनइन्द्रियग्लानि:। (च.सू. ७.३४ चक्रपाणि:)

अतिव्यायामादि का निषेध

व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्[1] ।
नोचितानपि[2] सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ।। (च.सू. ७.३४)

बुद्धिमान् व्यक्ति को व्यायाम, हास्य, भाषण, यात्रा, स्त्री-गमन और रात्रिजागरण को अभ्यस्त होने पर भी अतिमात्रा में नहीं करना चाहिए।

एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते ।
गजं सिंह इवाकर्षन् सहसा स विनश्यति ।। (च.सू. ७.३५)

इस प्रकार के तथा अन्य प्रकार के साहसिक कर्मों को जो व्यक्ति (प्रदर्शनादि के हेतु से) अत्यधिक मात्रा में करता है, वह गज को खींचने वाले सिंह के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

---

१. ग्राम्यधर्मो मैथुनम्। (चक्रपाणिः)
२. उचितान् अभ्यस्तानित्यर्थः।

अध्याय-५

शरीर व उसमें स्थित शक्तियाँ

धातु

धातुओं की साम्यावस्था आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य

एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठाने च यावद् धातूनां साम्यं स्यात्। स्वस्था ह्यपि धातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रसगुणानाहारविकारांश्च पर्यायेणेच्छन्त्युपयोक्तुं सात्म्यसमाज्ञातान्; एकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरसमाज्ञातया चेष्टया सममिच्छन्ति कर्तुम्। (च.शा. ६.७)

ओषधियों के सेवन व स्वस्थवृत्त के पालन से हमारा यही प्रयोजन होता है कि हमारी धातुएँ साम्यावस्था में रहें[१]। कुशल, बुद्धिमान् या स्वस्थ पुरुष धातुओं की साम्यावस्था के लिए अपने शरीर के अनुकूल जाने हुए रसों, गुणों एवं आहार के विभिन्न आयामों का समुचित क्रम से प्रयोग करते हैं (जैसे-मधुरस के सेवन से उत्पन्न कफवृद्धि को रोकने के लिए कटुरस का उपयोग करते हैं), जिससे एक ही रस के निरन्तर सेवन से उस रस को बढ़ाने वाले धातुओं को उसके विपरीतकारी रूप में मान्य चेष्टाओं (जैसे- व्यायाम-प्राणायामादि) के द्वारा सम करना चाहते हैं।

धातुसाम्यकर स्वस्थवृत्त

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगः सम्यक् सर्वातियोगसन्धारणम्, असन्धारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनं, स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थ-मुपदिश्यते। (च.शा. ६.८)

---

१. धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (च.सू.१.५३)

देशगुण, कालगुण व आत्मगुण के विपरीत क्रियाओं को करना धातुसाम्य के लिए बताया जाता है। यथा-मरुप्रदेश में शयन देशगुण के विपरीत कर्म है। वसन्त में व्यायाम कालविपरीत कर्म है, स्थूल शरीर में व्यायाम, जागरण आदि आत्मविपरीत कर्म हैं। यहाँ 'आत्मगुण' का अर्थ शरीरगुण है। धातुसाम्य के लिए इन्हें अपनाना चाहिए और उचित आहार का सेवन करना, सभी प्रकार के अतियोगों (अयोग, अतियोग व मिथ्यायोग) से बचना, उदीर्ण (बढ़े हुए) बहिर्गमनशील मल-मूत्र आदि के वेगों को न रोकना, जिनमें अपने बल से अधिक बल लगाना पड़े, ऐसे साहसिक कार्यों का परित्याग, ये सारे उपाय धातुओं को सम रखने हेतु 'स्वस्थवृत्त' नाम से जाने जाते हैं। धातुसाम्य हेतु इनका उपदेश किया जाता है।

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः[१] समानगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहार-विकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणै[२]र्विपरीत-गुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्यमानैः। (च.शा. ६.९)

शारीर धातुओं की वृद्धि और क्षय के क्रम[३]- शारीरिक धातुएँ अपने समान गुण वाले या समान गुण की अधिकता वाले आहार के विविध भेदों के निरन्तर अभ्यास से बढ़ती हैं और अपने विपरीत गुण वाले आहार से अथवा विपरीत गुण की अधिकता वाले आहार के सतत अभ्यास[४] से क्षय को प्राप्त होती हैं। जैसे- दूध व घृत के सेवन शुक्र की वृद्धि होती है। गुण सामान्य के उदाहरण- दूध व घी मधुर, शीत व स्निग्ध गुणयुक्त होते हैं

१. समानगुणैः- समाना एव परं गुणा यस्य तत्समानगुणम्,तैःसमानगुणैः। (चक्रपाणिः)
२. विपरीता एव परम गुणा यस्य तद्विपरीतगुणम्, तैर्विपरीतगुणैः। (चक्रपाणिः)
३. सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु।। (च.सू. १.४४)
४. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। (यो.सू. १.१३)

तथा शुक्र भी मधुर, शीत व स्निग्ध गुण वाला होता है, समान गुण वाले इन द्रव्यों के सेवन से शुक्र की वृद्धि होती है। गुण विशेष का उदाहरण- जैसे तैल से वायु का शमन किया जाता है। स्निग्ध, गुरु एवं उष्ण गुण वाले तैल के प्रयोग से रूक्ष, लघु एवं शीत गुण वाले वायु का ह्रास हो जाता है।

तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः[1]; तद्यथा- गुरु-लघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिल-श्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः। तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहार-विकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति; लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिः, विपर्ययाद्ध्रासः। (च.शा. ६.१०)

शरीर में स्थित धातुओं के गुण[2]- उन गुणों में जो शरीर में पाये जाने वाले धातुओं के गुण होते हैं, वे वृद्धि (बढ़ने) व ह्रास (घटने) की सूचना देने में समर्थ होते हैं। वे इस प्रकार हैं - गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव। इन २० गुणों में जो गुरु गुण वाले धातु होते हैं, वे गुरु आहार-विकारों के सेवन से बढ़ते हैं और लघु गुण वाले घटते हैं, इसी प्रकार जो लघु गुण वाले धातु हैं वे लघु आहार-विकारों के निरन्तर सेवन से बढ़ते हैं और गुरु गुण वाले धातु ह्रास को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार सभी धातुगुण अपने समानगुण वाले आहार से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और विपरीत गुण वाले आहार से ह्रास को प्राप्त होते हैं।

यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणाम-सान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वाद-

---

१. संख्या ज्ञानं गणना वा, तत्र सामर्थ्यं कुर्वन्तीति संख्यासामर्थ्यकराः। (चक्रपाणिः)
२. समवायि तु निश्चेष्टः कारणं गुणः। (चक्रपाणिः)

न्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्। तद्यथा- शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानां, वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानां, श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम्। कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्। एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं[1] कार्यौ। इति सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धिह्रासकराणि व्याख्यातानि भवन्ति। (च.शा. ६.११)

जहाँ इस प्रकार के समान गुण वाले आहार-विकारों की प्राप्ति न हो और वे यदि उपलब्ध भी हो जायें तो उनका प्रयोग करना उचित न हो अथवा घृणा के कारण या किसी अन्य निमित्त से उक्त आहार-विकारों का उपयोग न किया जा सके, परन्तु उस धातु का अभिवर्धन आवश्यक हो तो उसके जो समान गुण वाले आहार-विकार असेवनीय हों वहाँ पर समान गुण की अधिकता से युक्त अन्य प्रकृति वाले आहार-विकारों का प्रयोग करना चाहिए। यथा- शुक्र का क्षय होने पर दूध व घी का प्रयोग करना चाहिए, इसके अतिरिक्त मधुर, शीत व स्निग्ध गुणों से परिपूर्ण अन्य द्रव्यों का भी उपयोग करना चाहिए। मूत्र के क्षय होने पर गन्ने का रस, वारुणी, मण्ड, द्रव, मधुर व अम्ल रस तथा शरीर में जिन पदार्थों से नमी (आर्द्रता) हो उनका सेवन करना चाहिए। पुरीष (मल) के क्षय होने पर कुल्माष (एक प्रकार का अन्न-विशेष), माष, कुषकुण्ड, अजमध्य,

१. यथाकालमिति क्रियाकालानतिपातेन । (चक्रपाणिः)

शाक,धान्य और अम्ल द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। वात के क्षय होने पर कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु व शीत द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। पित्त के क्षय होने पर अम्ल, लवण, कटु रस वाले द्रव्य, क्षार, उष्ण द्रव्य, तीक्ष्ण गुण वाले पदार्थों का सेवन करें। श्लेष्मा के क्षय होने पर स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्र, पिच्छिल पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। जिस कर्म को करने से जिस धातु की वृद्धि होती है, उसे करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य शारीरिक धातुओं का उसके सामान्य व विपरीत द्रव्यों का यथाकाल समुचितरूपेण प्रयोग करके वृद्धि व ह्रास करना चाहिए। इस प्रकार सभी धातुओं का एक-एक कर क्रमशः वृद्धिकर व ह्रासकर भावों की व्याख्या की जाती है।

कार्त्स्न्येन शरीरवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा- कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहारसौष्ठवम्, अविघातश्चेति।
(च.शा. ६.१२)

सर्वशरीर-वृद्धिकारक भाव- सम्पूर्णता से शरीर की वृद्धि, पुष्टि करने वाले ये भाव होते हैं, जैसे- कालयोग(वृद्धिकारक यौवनादि), स्वभावसंसिद्धि (प्रारब्ध से प्राप्त स्वाभाविक बल), आहार-सौष्ठव और अविघात अर्थात् शरीरवृद्धि के बाधक अति मैथुन एवं मानसिक तनाव आदि का न होना।

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा- बलवत्पुरुषे देशे जन्म, बलवत्पुरुषे काले च, सुखश्च कालयोगः, बीजक्षेत्रगुणसम्पच्च, आहारसम्पच्च, शरीरसम्पच्च, सात्म्यसम्पच्च, सत्त्वसम्पच्च, स्वभावसंसिद्धिश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति। (च.शा. ६.१३)

बलवृद्धिकर भाव- बल की वृद्धि करने वाले ये भाव होते हैं, जैसे- जिस देश में बलवान् पुरुषों का जन्म हो वहाँ पैदा होना, जिस कुल में

बलवान् पुरुषों का जन्म होता रहा हो वहाँ जन्म लेना, बलवान् काल में जन्म लेना (शिशिर, हेमन्तादि ऋतुओं में), सामान्य कालयोग में जन्म लेना अर्थात् जब अधिक वर्षा न हो, अधिक गर्मी न हो और अधिक शीत न हो, शुक्र, गर्भाशय तथा प्रशस्त धर्मों का गुणसम्पन्न होना, भोजन का गुणसम्पन्न होना, शरीर का गुणसम्पन्न होना, आहारविशेष का सात्म्य होना, मन का श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होना, स्वभावसंसिद्धि अर्थात् बलजनक अदृष्ट (प्रारब्ध) का होना, युवावस्था और शारीरिक श्रम जैसे व्यायामादि और चित्त का सदा प्रसन्न रहना।

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा- ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयोगश्चेति। (च.शा. ६.१४)

आहारपरिणामकर भाव- सम्यक् रीति से आहार-पाचन करने वाले ये भाव होते हैं, जैसे- ऊष्मा, वायु, क्लेद, स्नेह, काल एवं समयोग।

तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति। तद्यथा- ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते।

(च.शा. ६.१५)

आहारपरिणामकर भावों के कर्म- आहार का परिपाक करने वाले ऊष्मादि भावों के ये विशेष कर्म होते हैं, जैसे- ऊष्मा आहार का परिपाक करती है। प्राणवायु के द्वारा अन्न आमाशय में पहुँचता है। क्लेद अन्न को ढीला करता है। स्नेह अन्न में मृदुता उत्पन्न करता है। काल अन्न को पूर्णरूप से परिपक्व करता है। समयोग तो इस आहार का परिपाक करने वाले भावों का सहायक और धातुसाम्यकर होता है।

परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः, विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम्।
(च.शा.६.१६)

आहार-गुणों का शरीर-गुणों से समन्वय एवं असमन्वय- आहार का जो भाग पचता जाता है, वह शरीरगुणों से एकीभूत हो जाता है (जैसे आहार का कठोर भाग शरीर के कठोर भागों जैसे मांस, अस्थि आदि भागों का पोषक होता है, आहार का द्रवभाग रक्त आदि द्रवभागों का पोषक होता है)। यदि शरीरगुणों के विपरीत आहार किया जाये तो वह शरीरगुणों के विरुद्ध कार्य कर उन्हें नष्ट कर देता है, जिससे शरीर नष्ट हो जाता है।

शरीरगुणाः[१] पुनर्द्विविधाः संग्रहेण- मलभूताः प्रसादभूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः। तद्यथा- शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः, परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्वांस्तान्मले सञ्चक्ष्महे; इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन। (च.शा. ६.१७)

शरीर-गुण (धातु) के दो भेद- शरीरगुण संक्षेपतः दो प्रकार के होते हैं- मलभूत और प्रसादभूत। जो शरीर में किसी भी प्रकार की पीड़ा या बाधा को उत्पन्न करते हैं, उन्हें मलभूत कहते हैं। जैसे- शरीर के भिन्न-भिन्न छिद्रों में उपचित हुए, उनसे अलग-अलग उत्पन्न होकर बाहर निकलने वाले आँख, कान, नाक के मल, परिपक्वता को प्राप्त मवाद आदि के रूप में परिणत हुई रक्तादि धातुएँ, प्रकुपित, दूषित या विकृत हुए वात-पित्त-कफ और भी ऐसे तत्त्व जो शरीर में रहकर शरीर की हानि करते हैं, हम इन सभी तत्त्वों को मल कहते हैं। इनके अतिरिक्त गुरु से

१. शरीरधातव इत्यर्थः। (चक्रपाणिः)

लेकर द्रवपर्यन्त को गुणभेद से तथा रस से लेकर शुक्र पर्यन्त धातुओं को द्रव्यभेद से 'प्रसाद' कहा जाता है।

तेषां[1] सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावात्। वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे प्रदुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि। एतावत्येव दुष्टदोषगतिर्यावत् संस्पर्शनाच्छरीरधातूनाम्। प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्। तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिरिति। (च.शा. ६.१८)

रोग और आरोग्य के कारण वातादि दोष- दूषित वात, पित्त एवं कफ ही उन प्रसादरूप धातुओं के दूषणकारक होते हैं; क्योंकि वे दोष दूषित करने के स्वभाव वाले होते हैं। धात्वन्तर व कालान्तर में दूषित वातादि के विज्ञान (लक्षण) विविधाशितपीतीय अध्याय (च.सू. २८) में कहे गये हैं। केशादि में वातादि दोषों की गति नहीं होती है; क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय में व्याप्त होने के कारण स्पर्श में ही उन शरीर धातुओं के दूषण में वातादि दोषों की गति होती है। इस ग्रन्थ में मल से नख व केश दोनों मल गृहीत होते हैं। जब ये वातादि दोष अपनी स्वाभाविक अवस्था में होते हैं तो इनका फल आरोग्य होता है। इसलिए इनकी स्वाभाविक स्थिति के लिए बुद्धिमान् व्यक्तियों को प्रयास करना चाहिए।

स्वभावोपरमवाद

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः[2] सदा[3]॥ (च.सू. १६.२७)

हेतु की विषमता से देह की धातुएँ विषम हो जाती हैं और हेतु की

१. तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनाञ्च। (चक्रपाणिः)
२. स्वभावात् विनाशकारणनिरपेक्षादुपरमो विनाशः स्वभावोपरमः। (चक्रपाणिः)
३. सदेति अविलम्बेन, तेनोत्पन्नमात्रा एव विनश्यन्तीत्यर्थः। (चक्रपाणिः)

समता रहे तो धातुएँ भी सम रहती हैं। इन धातुओं का स्वभाववशात् प्रतिक्षण स्वत: ही विनाश होता रहता है।

प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्।। (च.सू. १६.२८)

भावों (पदार्थों) की उत्पत्ति में तो कोई कारण होता है, परन्तु उनके विनाश में कोई कारण नहीं होता। कुछ आचार्यों का मत है कि उत्पादक कारण का न होना ही विनाश में एक कारण है।

धातुसाम्य-स्थापन

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातव: समा:।। (च.सू. १६.३६)

धातुवैषम्य के हेतुओं का त्याग करने और धातुसाम्य के हेतुओं का सेवन करने से धातुएँ विषम न रहकर सम हो जाती हैं।

स्रोतों के दूषक कारण

क्षयात् सन्धारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणै:।। (च.वि. ५.१०)

सप्त धातुओं के क्षय, त्याज्य वेगों सन्धारण, रूक्ष पदार्थों के सेवन तथा भूख के समय व्यायाम करने एवं सामर्थ्य से अधिक परिश्रम आदि अन्य कठोर कर्मों से **प्राणवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

औष्ण्यादामाद्भयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात्।
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात्।। (च.वि. ५.११)

उष्ण आहार, उष्णप्रदेश में विहार, आम दोष, भय, मदिरापान व शुष्क अन्न के सेवन से तथा प्यास को अधिक रोकने से **जलवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च।। (च.वि. ५.१२)

अतिमात्र भोजन, अकाल भोजन (बिना भूख भोजन करना व भूख में भोजन न करना) एवं अहितकर भोजन करने से और जठराग्नि के विकृत होने से पर **अन्नवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्।। (च.वि. ५.१३)

अतिगरिष्ठ भोजन, अतिशीतल पदार्थों के सेवन एवं अतिस्निग्ध आहार करने या चिन्त्य विषयों के अतिचिन्तन से **रसवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ।। (च.वि. ५.१४)

विदाही (पेट में जलन करने वाले) अन्नपान, मद्यपान आदि तथा अति स्निग्ध, उष्ण व द्रव पदार्थों के सेवन और अतिधूप व अग्नि के सेवन से **रक्तवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा।। (च.वि. ५.१५)

अभिष्यन्दी (स्रोतों को रोकने वाले दही आदि) एवं स्थूल व गुरु भोज्य पदार्थों के सेवन और खाने के पश्चात् दिन में सोने से **मांसवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्।। (च.वि. ५.१६)

व्यायाम न करने, दिन में सोने, मेदस्वी (चर्बी वाले) जीवों के मांस का अति सेवन करने तथा अधिक मद्यपान करने से **मेदोवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्।। (च.वि. ५.१७)

अत्यधिक व्यायाम, अधिक क्षोम (हिलना-डुलना), अस्थियों के अति विघट्टन (चटकाने या आघात करने) से और वातजनक आहार-विहार से **अस्थिवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्।। (च.वि. ५.१८)

कुचलने, अति अभिष्यन्दी=स्रोतों के अवरोधक पदार्थों के सेवन करने, चोट लगने से, प्रपीडन करने (दबाये जाने) से तथा विरुद्ध आहार के सेवन से **मज्जवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा।। (च.वि. ५.१९)

निषिद्ध काल में, अनुचित योनि (गुदा मैथुन या पशु आदि की योनि) में मैथुन करने, बिना प्रहर्ष के मैथुन करने, शुक्र वेग को रोकने, अतिमैथुन करने तथा शस्त्रकर्म, क्षारकर्म व अग्निकर्म के प्रयोगों से **शुक्रवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च।। (च.वि. ५.२०)

मूत्रवेग के समय जल पीने, भोजन करने या स्त्री प्रसङ्ग करने से, मूत्र वेग के निग्रह (बलात् रोकने) से एवं शरीर के क्षीण हो जाने और मूत्र नली के विक्षत हो जाने से **मूत्रवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

सन्धारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च।। (च.वि. ५.२१)

मलवेग के रोकने, अतिभोजन करने, अजीर्ण होने व अध्यशन (खाये हुए पर पुनः खाने) और जठराग्नि के मन्द होने एवं शरीर के कमजोर होने से **मलवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

व्यायामादतिसन्तापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा।। (च.वि. ५.२२)

अति व्यायाम, अधिक धूप सेवन, शीत और उष्ण द्रव्यों के अनुचित प्रयोग से और क्रोध, शोक तथा भय से **स्वेदवाही** स्रोत दूषित हो जाते हैं।

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः[1] समः[2]।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः।। (च.वि. ५.२३)

जो आहार-विहार दोषों के गुणों के सम हो तथा रस-रक्तादि धातुओं से विरुद्ध (धातुविरोधक स्वभाव वाला) हो, वह स्रोतों को दूषित करने वाला होता है। **विशेष-** धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः। (चक्रपाणिः)

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं[3] चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।। (च.वि. ५.२४)

---

१. वात-पितादि दोषों के गुणों का विवरण पृष्ठ ३१-३२ पर द्रष्टव्य है।
दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति।(चक्रपाणिः)

२. समः समं वर्धयति, इस सिद्धान्त के अनुसार दोषों के समान गुण वाला आहार–विहार उन-उन दोषों को बढ़ाने वाला होता है।

३. विमार्गगमनं यथा-मलस्य मूत्रमार्गगमनमित्यादि।(चक्रपाणिः)

रसादि धातुओं के स्रोतों से धातुओं का अधिक निकलना (अतिप्रवृत्ति) या सङ्ग (रुक जाना), सिराओं में गाँठ हो जाना तथा धातुओं का अपने मार्ग से हटकर दूसरे मार्ग में चले जाना, ये सभी स्रोतों के दूषित होने के लक्षण हैं।

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च।। (च.वि. ५.२५)

जिन धातुओं के जो स्रोत हैं, वे अपने-अपने धातु के समान वर्ण वाले, वृत्त (गोल), स्थूल, पतले एवं आकार से दीर्घ और लता के समान विस्तृत होते हैं।

स्रोत-दोषों की चिकित्सा

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।
कार्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी।। (च.वि. ५.२६)

प्राणवह, उदकवह एवं अन्नवह स्रोतों के दूषित हो जाने पर क्रमशः श्वासरोगोक्त चिकित्सा, तृष्णाशामक चिकित्सा एवं आमदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए।

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
रसादिस्रोतसां कुर्यात् तद्यथास्वमुपक्रमम्।। (च.वि. ५.२७)

विविधाशितपीतीय (च.सू. २८) अध्याय में रसादि की जो औषध बतलायी गई है, उसका प्रयोग अपने रसादि स्रोतों के दूषित हो जाने पर करना चाहिए।

मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी।
तथाऽतिसारिकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी।। (च.वि. ५.२८)

मूत्रवह, मलवह एवं स्वेदवह स्रोतों के दूषित होने पर क्रमशः मौत्रकृच्छ्रिकी (मूत्रकृच्छ्र सम्बन्धी) चिकित्सा, अतिसारिकी (अतिसार रोग में की जाने वाली) चिकित्सा तथा ज्वरचिकित्सा करनी चाहिए।

धातु एवं मल

त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते।। (सु.सू. १४.२०)

रसादि सात धातुएँ शरीर को धारण करने के कारण 'धातु' कहलाती हैं।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
सप्त दूष्याः मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च।। (अ.हृ.सू. १.१३)

दोषों से दूषित होने के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र- ये **सात धातुएँ** दूष्य हैं और मूत्र-पुरीष-स्वेद आदि **मल** भी दूष्य हैं।

दोष-धातु-मल के क्षय-वृद्धि का सिद्धान्त-सूत्र

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः।

समान गुण वाले पदार्थों का सेवन करने से दोष, धातु एवं मलों की वृद्धि होती है और विपरीत गुण वाले पदार्थों का सेवन करने से उनका क्षय होता है।

ओज की परिभाषा, स्थान, स्वरूप/लक्षण एवं महत्त्व

तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात्।। (सु.सू. १५.२४)

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।। (सु.सू. १५.२५)

रस से लेकर शुक्रपर्यन्त धातुओं का जो अतिदीप्त अंश है, वह तेजोरूप सार है। यही आयुर्वेद-सिद्धान्तानुसार 'बल' कहलाता है। उस

बल से मांस की सुदृढ़ता और पुष्टि, समस्त क्रिया-सम्पादन का सामर्थ्य, स्वर और वर्ण की निर्मलता, बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों की अपने-अपने कार्य में प्रवृत्ति होती है।

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्।। (सु.सू. १५.२६)
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्।। (सु.सू. १५.२७)

ओज सौम्य, स्निग्ध, शुक्ल, शीत, स्थिर, सर्वशरीरसंचारी, विविक्त=शुद्ध, मृदु, पिच्छिल=चिपचिपा तथा प्राणों का उत्तम आश्रय है। प्राणियों का सर्वाङ्ग शरीर उस ओज से व्याप्त होता है और इसके अभाव से देहधारियों के देह विनाशोन्मुख हो जाते हैं।

विशेष- हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे सङ्ख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति।।
भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा सम्भ्रियते मधु।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो[1] गुणैः सम्भ्रियते नृणाम्।।
(च.सू.१७.७४. चक्रपाणिः)

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्।। (अ.हृ.सू. ११.३७)
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति।। (अ.हृ.सू. ११.३८)
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।

रस से शुक्रपर्यन्त धातुओं का जो परम सार (तेज) है, वह **ओज** कहलाता है। यह ओज हृदय में स्थित रहता है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर देह को धारण करता है। यह ओज स्निग्ध, सोमगुणयुक्त अर्थात्

१. 'स्वकर्मभ्य' इति पाठभेदः।

सोम्यस्वरूप, शुद्ध एवं किंचित् रक्त-पीत वर्ण का होता है। यह ओज जब तक शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक मनुष्य जीवित रहता है और इसके नष्ट हो जाने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। ओज से ही शरीर के विभिन्न भावों (पराक्रम, कान्ति आदि)की स्थिति बनी रहती है।

ओज-क्षय का निदान एवं चिकित्सा

ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः। (अ.हृ.सू.११.३९)
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्।। (अ.हृ.सू.११.४१)

क्रोध, क्षुधा (भूख), चिन्ता, शोक तथा श्रम आदि से ओज का क्षय होता है। जीवनीय गण[1] में कहे गए औषध, क्षीर व रसादि का सेवन ओज -क्षय में भेषज है। जिन कारणों से ओज-क्षय होता है उनसे बचना भी भेषज है।

रस

रस-निरूपण

तत्र 'रस गतौ' धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः।। (सु.सू.१४.१३)

गत्यर्थक 'रस' धातु से रस शब्द निष्पन्न होता है। प्रतिक्षण गतिशील होने के कारण इसे 'रस' कहते हैं।

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः।। (च.सू. १.६४)

रसना इन्द्रिय का विषय 'रस' कहलाता है। इसका द्रव्य= आधारकारण जल और पृथ्वी हैं और अभिव्यक्ति में भी वे ही जल और पृथ्वी कारण हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न षड्रसों (मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय) की विशेष अभिव्यक्ति में आकाश, वायु एवं अग्नि निमित्त कारण हैं।

१. जीवकर्षभौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति। (च.सू. ४.९)

रस-भेद

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः।। (च.सू. १.६५)

आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार स्वादु (मधुर), अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय- ये छः रस कहे गये हैं।

रसों के कार्य

स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः।। (च.सू. १.६६)

मधुर, अम्ल और लवण रस वायु को शान्त करते हैं। कषाय, मधुर और तिक्त रस पित्त को तथा कषाय, कटु और तिक्त रस कफ को शान्त करते हैं[1]।

(कट्वम्ललवणाः पित्तं, स्वाद्वम्ललवणाः कफम्।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्।।) (च.सू. १.६६)

कटु, अम्ल और लवण रस पित्त को प्रकुपित करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रस कफ को तथा कटु, तिक्त एवं कषाय रस वात को प्रकुपित करते हैं।

षड्रस एवं उनकी कार्मुकता

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः।। (अ.हृ.सू १.१४)
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः।
तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।। (अ.हृ.सू १.१५)
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।

---

१. तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।। (अ.सं.सू.- १.३६)

१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. तिक्त (कडुवा), ५. ऊषण (कटु/चरपरा) तथा कषाय भेद से रस छः प्रकार के होते हैं। ये छः रस द्रव्यों में आश्रित रहते हैं। कषाय से मधुर रस तक ये क्रमशः अधिक बलकारक होते हैं अर्थात् मधुर रस सबसे अधिक और कषाय रस सबसे कम बलकारक होता है। इन छः रसों में मधुर, अम्ल एवं लवण रस वातदोष का शमन करते हैं, तिक्त, कटु एवं कषाय रस कफदोष का शमन करते हैं और कषाय, तिक्त एवं मधुर रस पित्तदोष का शमन करते हैं। इसके विपरीत रस अर्थात् तिक्त, कटु एवं कषाय रस वातदोष को बढ़ाते हैं, कटु, लवण एवं अम्ल रस पित्तदोष को बढ़ाते हैं और लवण, अम्ल एवं मधुर रस कफदोष को बढ़ाते हैं।

मधुर एवं अम्ल रस के लक्षण

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः।। (अ.हृ.सू. १०.२)
प्रियः पिपीलिकादीनामम्लः क्षालयते मुखम्।
हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः।। (अ.हृ.सू. १०.३)

मधुर रस मुख में चिपचिपाहट उत्पन्न करता है, शरीर एवं मन को आह्लादित करता है, इन्द्रियों का प्रसादन करता है तथा चींटियों एवं मक्खियों आदि को प्रिय लगता है। अम्ल रस मुखप्रक्षालन, रोमांच एवं दंतहर्ष उत्पन्न करता है तथा आँखों एवं भौहों को संकुचित करता है।

लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय रस के लक्षण

लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत्।
तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च।। (अ.हृ.सू. १०.४)
उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां कटु।
स्त्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च।। (अ.हृ.सू. १०.५)

कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्।
रसानामिति रूपाणि कर्माणि-

लवण रस लालास्राव करता है और कपोल एवं कण्ठ में विदाह (जलन) उत्पन्न करता है। तिक्त रस मुख को विशद (स्वच्छ) करता है तथा जिह्वा को कुछ समय के लिए अन्य रसों को ग्रहण करने में असमर्थ कर देता है। कटु रस कण्ठ एवं कपोल में चिमचिमाहट करता हुआ जिह्वा के अग्रभाग को उत्तेजित करता है तथा आँख, नाक एवं मुख से स्राव उत्पन्न करता है और कपोलों को मानो जला रहा होता है। कषाय रस जिह्वा को जड़ (स्तब्ध) कर देता है तथा कण्ठ-स्रोत में अवरोध उत्पन्न करता है। यहाँ तक छः रसों के लक्षणों का वर्णन कर दिया गया है, अब इन छः रसों के कर्मों का वर्णन किया जायेगा।

मधुररस के कर्म

- मधुरो रसः।। (अ.हृ.सू. १०.६)

आजन्मसात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्।
बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम्।। (अ.हृ.सू. १०.७)
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद् गुरुः।
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः।। (अ.हृ.सू. १०.८)
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदःश्लेष्मजान् गदान्।
स्थौल्याग्निसादसंन्यासमेहगण्डार्बुदादिकान्।। (अ.हृ.सू. १०.९)

जन्म से ही सात्म्य (अनुकूल) होने के कारण मधुर रस रसादि धातुओं को अत्यधिक रूप से बढ़ाने वाला है। यह बालक, वृद्ध, क्षत (उरःक्षत), क्षीण (धातुक्षीण) के लिए हितकर होता है। मधुररस वर्ण, केश, इन्द्रिय एवं ओज के लिए प्रशस्त माना गया है। इसके अतिरिक्त यह बृंहण (शरीर की वृद्धि और पुष्टि करने वाला), कण्ठ्य, स्तन्यकर (दुग्धवर्धक), सन्धानकर

(अस्थि आदि धातुओं को जोड़ने वाला), गुरु (पचने में भारी), आयुष्य (आयु को बढ़ाने वाला), जीवनीय (व्याधिक्षमत्व/अपर ओज/जीवनीय शक्ति को बढ़ाने वाला), स्निग्ध, वात-पित्तशामक एवं विषनाशक होता है। मधुर रस का अधिक सेवन करने से स्थौल्य (स्थूलता), मन्दाग्नि, संन्यास(***COMA***), प्रमेह, गलगण्ड, अर्बुद (बड़ी गांठें) आदि रोग और मेदोज व कफज रोग उत्पन्न होते हैं।

अम्लरस के कर्म

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः।। (अ.हृ.सू. १०.१०)
करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः।
सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम्॥(अ.हृ.सू.१०.११)
कण्डूपाण्डुत्ववीसर्पशोफविस्फोटतृड्ज्वरान्।

अम्ल रस अग्निवर्धक, स्निग्ध, हृद्य (हृदय को प्रिय), पाचन, रोचन (रुचिकारक), उष्णवीर्य, स्पर्श में शीत, प्रीणन (तृप्तिकारक/पुष्टिदायक), क्लेदन, लघु (शीघ्रपाकी) एवं कफ-पित्त-रक्तवर्धक होता है। यह मूढ़वात (अवरुद्ध या प्रतिलोम अपानवायु) का अनुलोमन करता है। अम्लरस का अधिक सेवन करने से शरीर में शिथिलता होती है तथा तिमिर, भ्रम, कण्डू, पाण्डु, विसर्प, शोफ, विस्फोट, तृष्णा (प्यास) और ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

लवणरस के कर्म

लवणः स्तम्भसङ्घातबन्धविध्मापनोऽग्निकृत्।। (अ.हृ.सू.१०.१२)
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत्।
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम्।। (अ.हृ.सू.१०.१३)
तृट्कुष्ठविषवीसर्पाञ्जनयेत्क्षपयेद्बलम्।

लवणरस स्तम्भ (जकड़न), संघात (कड़ापन) और बन्ध (स्रोतोरोध) को नष्ट करता है, जठराग्नि को बढ़ाता है, तीक्ष्ण एवं रोचन (रुचिकारक) होता है तथा स्नेहन, स्वेदन, छेदन एवं भेदन करने वाला होता है। लवण रस का अधिक सेवन करने से वातरक्त (ARTHRITIS, GOUT), खालित्य (गंजापन), पालित्य (केशों का श्वेत होना), वलि (त्वचा पर झुर्रियाँ), तृष्णा, कुष्ठ, विषवृद्धि एवं विसर्प रोग उत्पन्न होते हैं तथा बल का ह्रास होता है।

तिक्तरस के कर्म

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमितृड्विषम्।। (अ.हृ.सू. १०.१४)
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेशदाहपित्तकफाञ्जयेत्।
क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः।। (अ.हृ.सू. १०.१५)
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकण्ठविशोधनः।
धातुक्षयानिलव्याधीनतियोगात्करोति सः।। (अ.हृ.सू. १०.१६)

तिक्त रस स्वयं अरुचिकर होते हुए भी अरुचि को नष्ट करता है। यह कृमि, तृष्णा, विष, कुष्ठ, मूर्च्छा, ज्वर, उत्क्लेश (हृल्लास/हृदय की जकड़न), दाह और पित्त-कफ को नष्ट करता है तथा क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, एवं मल-मूत्र का उपशोषण करता है अर्थात् इनके द्रवांश को सुखाता है। यह लघुपाकी, मेध्य, शीतवीर्य, रूक्ष, स्तन्यविशोधक एवं कण्ठविशोधक होता है। इसके अधिक सेवन करने से धातुक्षय हो जाता है तथा वातव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

कटुरस के कर्म

कटुर्गलामयोदर्दकुष्ठालसकशोफजित्।
व्रणावसादनः स्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः।। (अ.हृ.सू. १०.१७)
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः।
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः।।(अ.हृ.सू.१०.१८)

कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम्।
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम्।। (अ.हृ.सू. १०.१९)

कटु रस गलरोग, उदर्द (कोठ, शीतपित्त), कुष्ठ, अलसक और शोफ रोग को नष्ट करता है तथा व्रणशोफ को कम करता है। यह स्नेह, मेद और क्लेद का उपशोषण करता है अर्थात् इनके जलीयांश को सुखाता है। यह दीपन, पाचन, रोचन, शोधन एवं अन्नशोषक होता है। यह मलों के बन्धन को काटने वाला, स्रोतों को खोलने वाला और कफनाशक होता है। कटु रस का अधिक सेवन करने से तृष्णा, शुक्रनाश, बलक्षय, मूर्च्छा, अंगों में संकोच, कम्पन, कटिशूल एवं पृष्ठशूल होता है।

कषायरस के कर्म

कषायः पित्तकफहा गुरुरस्त्रविशोधनः।
पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः॥(अ.हृ.सू. १०.२०)
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽति त्वक्प्रसादनः।
करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मानहृद्रुजः॥(अ.हृ.सू.१०.२१)
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान्।

कषाय रस पित्त-कफनाशक, गुरु, रक्तशोधक, व्रणपीड़न, व्रणरोपण, शीतवीर्य, क्लेदशोषक, मेदशोषक, आमदोष स्तम्भक, ग्राही, रूक्ष और अत्यधिक त्वक्-प्रसादन होता है। कषाय रस का अधिक सेवन करने से विष्टम्भ, आध्मान (अफारा), हृदयरोग, तृष्णा, कार्श्य, शुक्रक्षय, स्रोतोरोध एवं मलावरोध होता है।

मधुरगण के द्रव्य

घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूषकम्।। (अ.हृ.सू. १०.२२)
अभीरुवीरापनसराजादनबलात्रयम्।
मेदे चतस्त्रः पर्णिन्यो जीवन्ती जीवकर्षभौ।। (अ.हृ.सू. १०.२३)

मधूकं मधुकं बिम्बी विदारी श्रावणीयुगम्।
क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरी सहे॥ (अ.हृ.सू.१०.२४)
क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्रद्राक्षादिर्मधुरो गणः।

घृत, स्वर्ण, गुड़, अक्षोड (अखरोट), मोच (कदलीफल), चोच (नारिकेल), परूषक (फालसा), अभीरु (शतावरी), वीरा (काकोली), पनस (कटहल), राजादन (खिरनी), बला-त्रय (बला, अतिबला एवं नागबला), मेदा (मेदा एवं महामेदा), चतुष्पर्णी (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी), जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, मधूक (महुआ), मधुक (मधुयष्टी/मुलहठी), बिम्बी (कुन्दरु), विदारीकन्द, श्रावणीयुगल (मुण्डी, महा- मुण्डी), क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), क्षीरकाकोली, दुग्धिका (दूधी), काश्मरी (गम्भारी), सहा, महासहा, क्षीर, इक्षु (ईंख), गोक्षुर (गोखरू), क्षौद्र (मधु), द्राक्षा (मुनक्का) आदि **मधुरगण** के द्रव्य हैं।

अम्लगण के द्रव्य

अम्लो धात्रीफलाम्लीकामातुलुङ्गाम्लवेतसम्॥ (अ.हृ.सू.१०.२५)
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि।
आम्रमाम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम्॥ (अ.हृ.सू. १०.२६)

धात्रीफल (आँवला), अम्लीका (इमली), मातुलुङ्ग (बिजौरा नींबू), अम्लवेतस, दाडिम (अनार), रजत (चाँदी), तक्र (मट्ठा), चुक्र (शुक्त/सिरका), पालेवत, दधि, आम्र, आम्रातक, भव्य (कमरख), कपित्थ (कैथ) एवं करमर्द (करौंदा) आदि **अम्लगण** के द्रव्य हैं।

लवणगण के द्रव्य

वरं सौवर्चलं कृष्णं बिडं सामुद्रमौद्भिदम्।
रोमकं पांसुजं शीसं क्षारश्च लवणो गणः॥ (अ.हृ.सू. १०.२७)

सैन्धव लवण (सेन्धा नमक), सौवर्चल लवण (सोंचर नमक), कृष्ण लवण (काला नमक), बिड लवण, सामुद्र लवण, औद्भिद लवण (रेह), रोमक लवण (साँभर नमक), पांशुज (मिट्टी का लवण), सीस (नागधातु) एवं क्षार आदि **लवणगण** के द्रव्य हैं।

तिक्तगण के द्रव्य

तिक्तः पटोली त्रायन्ती वालकोशीरचन्दनम्।
भूनिम्बनिम्बकटुकातगरागुरुवत्सकम्।। (अ.हृ.सू. १०.२८)
नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाटरूषकम्।
पाठापामार्गकांस्यायोगुडूचीधन्वयासकम्।। (अ.हृ.सू. १०.२९)
पञ्चमूलं महद्व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषा वचा।

पटोल (परवल), त्रायमाणा, सुगन्धबाला, उशीर (खस), चन्दन, भूनिम्ब (चिरायता), निम्ब, कुटकी, तगर, अगुरु, वत्सक (इन्द्रयव), नक्तमाल (करञ्ज), हरिद्रा, दारुहरिद्रा, मुस्तक, मूर्वा, अडूसा, पाठा, अपामार्ग, कांस्य, लौह, गुडूची, धन्वयास (धमासा), बृहत्पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी), वनभण्टा (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी), विशाला (इन्द्रायण), अतिविषा (अतीस) एवं वचा आदि **तिक्तगण** के द्रव्य हैं।

कटुगण के द्रव्य

कटुको हिङ्गुमरिचकृमिजित्पञ्चकोलकम्।। (अ.हृ.सू. १०.३०)
कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम्।

हींग, काली मिर्च, कृमिजित् (वायविडंग), पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं नागर (शुण्ठी), कुठेरक आदि हरितक वर्ग के द्रव्य, पित्तवर्ग, मूत्रवर्ग एवं भल्लातक आदि **कटुगण** के द्रव्य हैं।

कषायगण के द्रव्य

वर्गः कषायः पथ्याक्षं शिरीषः खदिरो मधु।। (अ.हृ.सू. १०.३१)
कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम्।
बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च।। (अ.हृ.सू. १०.३२)

पथ्या (हरीतकी), अक्ष (बिभीतक), शिरीष, खदिर, मधु, कदम्ब, उदुम्बर (गूलर), मुक्ता, प्रवाल (मूंगा), अञ्जन, गैरिक, कच्चा कैथ, कच्ची खर्जूर, बिस (कमलनाल), पद्म तथा उत्पलादि आदि **कषायगण** के द्रव्य हैं।

षड्रसों के अपवाद-द्रव्य

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते।
मुद्गाद्गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात्।। (अ.हृ.सू. १०.३३)
प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते।
अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैन्धवात्।। (अ.हृ.सू. १०.३४)
तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम्।
ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुण्ठीकृष्णारसोनतः।। (अ.हृ.सू. १०.३५)
कषायं प्रायशः शीतं स्तम्भनं चाभयां विना।

पुराना शालिधान्य, जौ, मूँग, गेहूँ, मधु, मिश्री को छोड़कर प्रायः सभी मधुर द्रव्य कफवर्धक होते हैं। अनार एवं आँवले को छोड़कर प्रायः सभी अम्ल द्रव्य पित्तवर्धक होते हैं। सैन्धव लवण को छोड़कर प्रायः सभी लवण रस वाले द्रव्य आंखों के लिए अहितकर होते हैं। गुडूची, पटोल (परवल), शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली एवं लहसुन को छोड़कर प्रायः सभी तिक्त एवं कटु द्रव्य वातकारक एवं अवृष्य होते हैं। हरीतकी अभया को छोड़कर प्रायः सभी कषाय रस वाले द्रव्य शीतवीर्य एवं स्तम्भक होते हैं।

शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद्द्रव्यं कटुकं तयोः।। (च.सू. २६.४५)

ऐसे द्रव्य जिनके रस और विपाक मधुर होते हैं, वे शीतवीर्य[1] होते हैं, जो द्रव्य रस और विपाक में अम्ल एवं कटु होते हैं, वे भी उष्णवीर्य[2] ही होते हैं।

विशेष-तयोः=रसविपाकयोर्यद्द्रव्यमम्लं तदुष्णम्, यच्च तयोः = रसविपाकयोः कटुकं द्रव्यं तदप्युष्णम्।

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते।। (च.सू. २६.४६)

उन द्रव्यों के गुणों का ज्ञान रस के उपदेश से ही कर लेना चाहिए, किन्तु ऐसे द्रव्य जिनका वीर्य तथा विपाक अविपरीत (समान) है, उनके गुणों का उपदेश आगे किया जायेगा।

यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक्।। (च.सू. २६.४७)

जिस प्रकार दूध एवं घृत रस तथा विपाक में मधुर और शीतवीर्य होते हैं। जैसे चव्य और चित्रक रस तथा विपाक में कटु एवं उष्णवीर्य होते हैं। इस प्रकार के द्रव्यों का तथा अन्य जो वीर्य व विपाक में विरुद्ध द्रव्य नहीं हैं उनके गुणों का ज्ञान वैद्य को रस के आधार पर कर लेना चाहिए।

---

१. शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ। (सु.सू. ४१.११)
शीत, पिच्छिल एवं जलीय गुण की बहुलता वाले पदार्थ ठण्डी तासीर के होते हैं, ये शीतवीर्य कहलाते हैं।

२. तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ (सु.सू. ४१.११)
तीक्ष्ण, उष्ण एवं आग्नेय गुण की बहुलता वाले पदार्थ गर्म तासीर के होते हैं ये उष्णवीर्य कहलाते हैं। अग्नि महाभूत के उत्कर्ष से उष्णवीर्य की निष्पत्ति होती है।

मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च।
यथा महत्पञ्चमूलं यथाब्जानूपमामिषम्।। (च.सू. २६.४८)
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा।
अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते।। (च.सू. २६.४९)

प्राय: मधुर रस वाले द्रव्य शीतवीर्य होते हैं, परन्तु कुछ द्रव्य मधुर रस वाले होते हुए भी उष्णवीर्य होते हैं, जैसे जल एवं आनूप प्रदेशों में रहने वाले जीवों का मांस मधुर रस वाला होने पर भी उष्णवीर्य होता है। ऐसे ही महत्पञ्चमूल आदि कषाय और तिक्त होते हुए भी उष्णवीर्य होते हैं। सैन्धव लवण उष्णवीर्य नहीं होता, उसी प्रकार अम्लरस वाला आँवला उष्णवीर्य नहीं होता है। मदार, अगर तथा गुडूची आदि तिक्तरस वाले होते हुए भी उष्णवीर्य होते हैं।

कटुतिक्तकषायाणां विपाक: प्रायश: कटु:।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।। (च.सू. २६.५८)

जितने भी कटु, तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्य हैं वे विपाक में प्राय: कटु ही देखे जाते हैं। अम्लरस वाले द्रव्यों का विपाक अधिकतर अम्ल ही होता है तथा मधुर एवं लवण रसयुक्त द्रव्यों का विपाक प्रायश: मधुर ही होता है।

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात्त्रयो रसा:।
वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मता:।। (च.सू. २६.५९)

मधुर, लवण तथा अम्ल- ये स्निग्ध गुण वाले होने के कारण अपानवायु, पुरीष व मूत्र की निवृत्ति सुखपूर्वक करने में सहायक होते हैं।

कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावात्त्रयो रसा:।
दु:खाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम्।। (च.सू. २६.६०)

इसी प्रकार कटु-तिक्त तथा कषाय रस रूक्ष गुण वाले होने के कारण अधोवायु, पुरीष, मूत्र व रेतस् के मोचन में दु:खदायी होते हैं।

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातल: कटु:।
मधुर: सृष्टविण्मूत्रो विपाक: कफशुक्रल:।। (च.सू. २६.६१)
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्र: पाकोऽम्ल: शुक्रनाशन:।
तेषां गुरु: स्यान्मधुर: कटुकाम्लावतोऽन्यथा।। (च.सू. २६.६२)

जिन द्रव्यों का विपाक कटु होता है, वे शुक्रहर व मूत्रपुरीष को बाँधने वाले होते हैं तथा वातवृद्धि भी करते हैं। मधुर विपाक वाले पदार्थों का स्वभाव है कि वे मल-मूत्र को आसानी से बाहर कर देते हैं तथा कफजनक व वृष्य होते हैं। इसी प्रकार ऐसे द्रव्य जो अम्ल विपाक वाले हैं, वे पित्तकारक मल-मूत्र के स्रावक तथा शुक्रहर होते हैं। मधुर विपाक वाले द्रव्य गुरु (भारी) तथा कटु व अम्ल विपाक वाले द्रव्य उससे विपरीत अर्थात् लघु (हल्के) होते हैं।

विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयिष्ठतां प्रति।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्।। (च.सू. २६.६३)

द्रव्यस्थ गुणों की अल्पता, मध्यमता व उत्तमता के आधार पर ही उनके विपाक लक्षणों में अल्पतादि देखते हैं; क्योंकि द्रव्यों में गुणों का जितना अनुपात होता है, उतने ही अनुपात में गुणों की मात्रा विपाक में होती है।

मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद्द्विविधमास्थिता:।। (च.सू. २६.६४)
शीतोष्णमिति, वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया।। (च.सू.२६.६५)

कुछ आयुर्वेदाचार्य मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण और शीतल- आठ प्रकार के वीर्य के भेद मानते हैं और कुछ आचार्य दो प्रकार का वीर्य मानते हैं- शीत और उष्ण। जिस रस, विपाक या प्रभाव से कोई भी क्रिया सम्भव होती है, उस क्रिया में उस रसादि को वीर्य कहते हैं। बिना वीर्य के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती, सभी क्रियाएँ वीर्य के द्वारा ही होती हैं।

रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया।
वीर्यं यावदधीवासा[1]न्निपाताच्चोपलभ्यते।। (च.सू. २६.६६)

जिह्वा के संसर्ग में आते ही द्रव्यों के रस का ज्ञान हो जाता है, विपाक का ज्ञान कफ, शुक्रादि की अभिवृद्धिरूप कर्मविशेष की परिसमाप्ति से होता है, और वीर्य का ज्ञान जब तक द्रव्य शरीर में रहता है, उससे (जैसे-आनूपमांसादि की उष्णता) तथा जिह्वासंसर्ग (जैसे मरिच्यादि की तीक्ष्णता) से होता है।

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः।। (च.सू. २६.६७)

जिन द्रव्यों में रस-वीर्य-विपाक की समानता होने पर भी कर्मों (विरेचनत्वादि) की जो विशेषता (भिन्नता) देखी जाती है, वह उस द्रव्य का 'प्रभाव' कहलाता है। उदाहरण अगले श्लोक में देखिए-

कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्।। (च.सू. २६.६८)

चित्रक कटुरस तथा कटुविपाक व उष्णवीर्य होता है। इसी के समान दन्ती भी कटुरस, कटुविपाक व उष्णवीर्य होती है, परन्तु यह अपने प्रभाव (विशेष कर्म) से विरेचन कराने में समर्थ होती है, चित्रक नहीं।

---

१. अधीवासः सहावस्थानं, यावदधीवासादिति यावच्छरीरनिवासात्, एतच्च विपाकात् पूर्वं निपाताच्चोर्ध्वं ज्ञेयम्। निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात्।

रसों के अतिसेवन से हानि

अतिमधुरमनलशमनं भुक्तमसात्म्यं न पुष्टये वपुषः।
अतिलवणमचक्षुष्यं तीक्ष्णात्यम्लं जरा साक्षात्।।

(आ.म. वस्त्रवर्ग १०)

अति मधुर भोजन जठराग्नि को शान्त कर देता है। यह शरीर के लिए सात्म्य व पुष्टिकारक नहीं होता है। अधिक लवणयुक्त भोजन नेत्रों के लिए अहितकर होता है। तीक्ष्ण (अतिमात्रा में तेज लाल मिर्च, हरी मिर्च व अन्य अति चटपटे पदार्थ) एवं अति अम्ल (इमली आदि अति खट्टे पदार्थ) साक्षात् जरा हैं अर्थात् असमय में बुढापा लाने के लिए मुख्य कारण हैं। अतः अधिक नमक, अधिक तीखे व खट्टे पदार्थों से सावधानी-पूर्वक बचना चाहिए। कहा भी है-

आयुर्घृते गुडे रोगो मृत्युर्लीनो विदाहिषु।
आरोग्यं कटुतिक्तेषु बलं मांसे पयस्सु च।।

(कै.नि. विहारवर्ग ३१०)

घी में आयु छिपी हुई है। गुड़ में रोग, विदाही अर्थात् जलन करने वाले चटपटे, तीक्ष्ण एवं अति खट्टे पदार्थों में मृत्यु छिपी रहती है। कटु (अदरक, सोंठ, कालीमिर्च जैसे पाचन करने वाले) तथा तिक्त (गिलोय, करेला आदि कड़वे पदार्थों में) आरोग्य छिपा रहता है। दूध व मांस अर्थात् गूदेदार फल एवं मेवे आदि में बल छिपा रहता है।

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। (गीता १७.९)

अर्थात् अति चरपरे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण (तीखे), अति रूक्ष तथा विदाही (जलन-कारक) आहार रजोगुणी लोगों को प्रिय होते हैं। ये आहार दुःख, शोक व रोगों के कारण होते हैं।

पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ।
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत्।। (सु.सू. ४६.४६६)

भोजन के आरम्भ में मधुर रस, मध्य में अम्ल और लवण रस तथा बाद में शेष रसों का सेवन करना चाहिए।

वीर्य, विपाक

अष्टविध वीर्यवाद

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु।। (अ.हृ.सू. ९.१२)
लघु रूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा।

कुछ आचार्यों के अनुसार द्रव्यगत वीर्य आठ प्रकार के होते हैं- गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण एवं तीक्ष्ण वीर्य।

चरकानुसार वीर्य की परिभाषा

चरकस्त्वाह वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया।। (अ.हृ.सू. ९.१३)
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा।

आचार्य चरक के अनुसार वीर्य द्रव्य की वह शक्ति है, जिसके द्वारा द्रव्य कार्य करने में समर्थ होता है। कोई भी द्रव्य बिना वीर्य के कार्य नहीं कर सकता है अर्थात् द्रव्य की सभी क्रियाएँ वीर्य द्वारा ही होती हैं। इस प्रकार द्रव्य जिस शक्ति विशेष से किन्हीं कर्मों को करने में समर्थ होता है, उस विशिष्ट शक्ति को 'वीर्य' कहते हैं।

द्विविध वीर्यवाद

उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च।
नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ।। (अ.हृ.सू. ९.१४)
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्।

कुछ आचार्यों के अनुसार वीर्य के **दो** भेद होते हैं-१. **शीतवीर्य** एवं २. **उष्णवीर्य।** जिस प्रकार यह जगत् व्यक्त एवं अव्यक्त का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर पाता है, ठीक उसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्य भी महाबलवान् अग्नि एवं सोम (जल) तत्त्वों का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं।

द्विविध वीर्यों के गुण

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकिता:।। (अ.हृ.सू. ९.१८)
शमं च वातकफयो: करोति, शिशिरं पुन:।
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयो:।। (अ.हृ.सू. ९.१९)

इनमें उष्णवीर्य भ्रम, तृष्णा, ग्लानि, स्वेद (पसीना) एवं दाह (जलन) उत्पन्न करता है, शीघ्रपाकी होता है और वात एवं कफ का शमन करता है, जबकि शीतवीर्य ह्लादन, जीवनीय (आयुष्य) एवं स्तम्भन (रक्त, स्वेद, मल-मूत्र आदि का रोधक) होता है और रक्त एवं पित्त का प्रसादन (निर्मलीकरण) करता है।

विपाक की परिभाषा

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत:।। (अ.हृ.सू. ९.२०)

जठराग्नि के संयोग से आहार रसों के अन्तिम परिणाम के रूप में उत्पन्न विशेष रस को **'विपाक'** कहते हैं।

विपाक के त्रिविध-भेद एवं गुण-कर्म

स्वादु: पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रस:।
तिक्तोषणकषायाणां विपाक: प्रायश: कटु:।। (अ.हृ.सू. ९.२१)

रसैरसौ तुल्यफलः-

विपाक तीन प्रकार का होता है- (१) मधुर एवं पटु (लवण रस) का मधुर विपाक (२) अम्ल रस का अम्ल विपाक और (३) कटु, तिक्त एवं कषाय रस का कटु विपाक होता है। मधुर, अम्ल एवं कटु विपाक क्रमशः मधुर, अम्ल एवं कटु रस के समान फल देते हैं।

प्रभाव की परिभाषा एवं उदाहरण

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी।। (अ.हृ.सू. ९.२६)
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

दो या दो से अधिक द्रव्यों में रस, गुण, वीर्य एवं विपाक के समान होने पर भी उन द्रव्यों में जो विशिष्ट कर्म देखा जाता है, वह प्रभाव के ही कारण होता है। जैसे- दन्ती रस, गुण, वीर्य, विपाक में चित्रक के समान होने पर भी रेचक होती है, परन्तु चित्रक ऐसा नहीं होता है। द्राक्षा रस आदि में मुलहठी के समान होने पर भी रेचक होती है, किन्तु मुलहठी ऐसी नहीं होती है। घृत रस आदि में दूध के समान होने पर भी अग्निदीपन है, परन्तु दूध अग्निदीपन नहीं होता है।

शरीरस्थ वायु

शरीरस्थ अकुपित वायु के कार्य

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। (च.सू. १२.८)

वायु तन्त्र[१] (शरीर) और यन्त्र (शरीर के अंगों) का धारणकर्त्ता है। वह प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान के रूप में शरीर में रहता है। वह विभिन्न छोटी-बड़ी चेष्टाओं को प्रवृत्त करने वाला है। वह मन को नियन्त्रित और प्रेरित करता है। वह सभी इन्द्रियों का उद्योजक[२] अर्थात् उनको अपने विषयों का ग्रहण कराने वाला है। समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान कराने वाला है। शरीर की समस्त धातुओं की रचना कर अथवा उनको यथास्थान नियोजित कर शरीर का निर्माण करता है। वह शरीर की सन्धियों (जोड़ों) को जोड़ता है। वाणी का प्रवर्तक है। स्पर्श और शब्द का कारण है अर्थात् स्पर्श और शब्द से उसका पता चलता है। श्रोत्रेन्द्रिय और त्वचा का मूल[३] आश्रय है। हर्ष और उत्साह[४] का जनक है। अग्नि को प्रेरणा देने वाला है। शरीर के दोषों का शोषण करने वाला है। मल-मूत्र को बाहर फेंकने वाला है। बड़े तथा छोटे स्रोतों का भेदक बनकर रस-रक्तादि को कर प्रवाहित करने में सहायक होता है। गर्भ की संरचना करता है। श्वास-प्रश्वास द्वारा आयु के अनुवर्तन का कारणभूत होता हुआ आयु का परिपालन करता है। ये शरीरस्थ अकुपित वायु के कर्म हैं।

शरीरस्थ कुपित वायु के कर्म

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोक-मोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि।। (च.सू.१२.८)

जब शरीर में वायु कुपित हो जाता है, तब शरीर को विविध विकारों द्वारा पीड़ित करता है। बल, वर्ण, सुख, आरोग्य और आयु का नाश करने

१. तन्त्रं शरीरम्। (चक्रपाणिः)
२. उद्योजकः प्रेरकः। (चक्रपाणिः)
३. मूलं प्रधानकारणम्। (चक्रपाणिः)
४. उत्साहः कार्येषूद्योगो मानसः। (चक्रपाणिः)

वाला होता है, मन को दु:खित करता है। समस्त इन्द्रियों का नाश करता है। गर्भ को आघात पहुँचाता है अथवा उस गर्भ के प्रसव के समय को बढ़ाता या घटाता है। वह भय शोक, मोह, दीनता और अतिप्रलाप को उत्पन्न करता है और प्राणों को रोककर मृत्यु का हेतु बनता है।

प्रकृतिभूत लोकसंचारी वायु के कर्म

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरत: कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा- धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानं, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्ग:, प्रवर्तनं स्रोतसां, पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनं चौद्भिदानाम्, ऋतूनां प्रविभाग:, विभागो धातूनां[१], धातुमानसंस्थानव्यक्ति:[२], बीजाभिसंस्कार:, शस्याभिवर्धनमविक्लेदोपशोषणे, अवैकारिकविकारश्चेति।।

(च.सू. १२.८)

प्रकृतिगत अवस्था में लोक में संचरण करते हुए वायु के कर्म बताए जा रहे हैं। पृथिवी को धारण करना, अग्नि को प्रज्वलित करना, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों और ग्रहों की गति को नैरन्तर्येण बनाकर रखना, मेघ की रचना करना, जलों की वर्षा करना, नदियों का प्रवर्तन, फूलों और फलों को उत्पन्न करना, वनस्पतियों का अंकुरण करना, ऋतुओं को विभाजित करना, पृथिवी आदि धातुओं तथा स्वर्ण, चाँदी आदि उपधातुओं का विभाग करना, प्रस्तरादि धातुओं का परिमापन और उनके आकार का निर्माण करना, बीजों का अभिसंस्कार (अंकुरण की शक्ति उत्पन्न करना), जौ आदि धान्यों की वृद्धि करना, इन्हें सड़ने से बचाना तथा समयानुसार पक जाने पर उन्हें सुखाना, अकुपित अवस्था में रहते हुए सभी पदार्थों को रूप प्रदान करना।

---

१. धातूनामिति पृथिव्यादीनाम्। (चक्रपाणि:)

२. धातव: कार्यद्रव्याणि प्रस्तरादीनि, मानं परिमाणं, संस्थानमाकृति:, तयोर्व्यक्तिरभिव्यक्ति:, तत्र कारणमिति यावत्। (चक्रपाणि:)

लोकसञ्चारी कुपित वायु के कर्म

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा- शिखरिशिखरावमथनम्, उन्मथनमनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्, उद्वर्तनं सरसां, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च भूमेः, आधमनमम्बुदानां, नीहारनिर्ह्रादपांशुसिकतामत्स्यभेकोरगक्षार-रुधिराश्माशनिविसर्गः, व्यापादनं च षण्णामृतूनां, शस्यानामसङ्घातः, भूतानां चोपसर्गः, भावानां चाभावकरणं, चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः।। (च.सू.१२.८)

विकृत (प्रकुपित) होकर लोक में संचरणशील वायु के कर्म बताए जाते है। जैसे- पर्वतों के शिखरों पर हलचल मचाकर उन्हें नष्ट करना, वृक्षों को जड़ से हिलाकर उखाड़ फेंकना, समुद्रों को विक्षुब्ध करना, तड़ागों के जलप्रवाह में उथल-पुथल करना, नदियों को विपरीत दिशा में बहाना, भूकम्प उत्पन्न करना, मेघों को शब्दपूर्वक घुमाते रहना, नीहार[१] (बर्फ) गिराना, निर्ह्राद[२] अर्थात् बिना मेघ के गर्जना करना, धूल भरी आंधी उत्पन्न करना, रेत की वर्षा, मछली, मेढ़क, सर्प, क्षार (राख), रक्त, पत्थर आदि गिराना तथा बिजली गिराना, षड् ऋतुओं को विकृत करना, धान्यों की उत्पति व वृद्धि न होना, किसी महामारी आदि के कारण भूतों का सामूहिक विनाश, जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव होना, चतुर्युगान्तकारी भयावह मेघ, सूर्य, वायु एवं अग्नि को प्रकट करना।

पञ्च प्राण, उनके स्थान व कार्य

प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम्।। (सु.नि. १.१२)

१. नीहार:शिशिरसमूहः। (चक्रपाणिः)
२. निर्ह्रादो मेघं विना गर्जितम्। (चक्रपाणिः)

प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान- ये पाँच प्रकार के वायु अविकृतावस्था रहते हुए आत्मा को धारण करते हैं।

यो वायुर्वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते।। (सु.नि. १.१३)
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्।

मुख में विचरण करने वाला तथा शरीर को धारण करने वाला 'प्राण' नामक वायु है। वही अन्न को शरीर के भीतर अनेक स्थानों में पहुँचाता है तथा प्राणों का अवलम्बन (धारण) करता है। कुपित होने पर यही प्राण वायु हिचकी, श्वासादि रोगों को उत्पन्न करता है।

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।। (सु.नि. १.१४)
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः।। (सु.नि. १.१५)

ऊपर की ओर गति करने वाला उत्तम वायु 'उदान' संज्ञक है, इसके द्वारा ही बोलना, गाना आदि विशिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं। कुपित होने पर यह वायु जत्रु (ग्रीवास्थि, हंसली) के ऊपर शिर आदि के रोगों को उत्पन्न करता है।

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि।। (सु.नि. १.१६)
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्।

जठराग्नि के साथ मिला हुआ आमाशय तथा पक्वाशय (Large Intestine) में गति करने वाला 'समान' नामक वायु है। यह वायु अन्न को पचाता है तथा अन्नपान से उत्पन्न रसादि पदार्थों को पृथक् करता है। अनुचित आहार-विहार से विहत होकर यह समान नामक वायु गुल्म, मन्दाग्नि तथा अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।। (सु.नि. १.१७)
स्वेदासृक्स्त्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्।। (सु.नि. १.१८)

सारे शरीर में विचरने वाला तथा रसवाहिनी धमनियों में उचित प्रकार से रस को ले जाने वाला 'व्यान' नामक वायु है। यह स्वेद और रक्त का विस्त्राव करता है तथा उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसार एवं गमन के रूप में पाँच प्रकार से चेष्टा करता है। कुपित होने पर यह सम्पूर्ण शरीर में होने वाले प्राय: सभी रोगों का कारण होता है।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च।
क्रुद्धश्च कुरूते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयानः।। (च.सू. १.१९)

पक्वाशय में रहने वाला 'अपान' वायु (समीरण:) यथासमय मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्त्तव को नीचे की ओर खींचता है। कुपित होन पर यह बस्ति और गुदासम्बन्धी भयंकर रोगों को उत्पन्न करता है।

जठराग्नि

सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तैः प्रशाम्यति।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः।। (सु.चि. ३९.४)

बड़े-बड़े और बहुत से ईंधन से ढ़की हुई अल्प अग्नि के बुझने के समान जठराग्नि भी अत्यधिक भारी अन्नों के सेवन से शान्त हो जाती है।

स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धुक्षित इवानलः।। (सु.चि. ३९.५)

जिस प्रकार छोटी-छोटी और थोड़ी लकड़ियों से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार थोड़े एवं हल्के अन्नों के सेवन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

अध्याय- ६

पथ्यापथ्य

सदा पथ्य पदार्थ

षष्टिकाञ्छालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत्।। (च.सू. ५.१२)

साठी चावल, शालि चावल, मूँग दाल, सेंधा नमक, आँवला, यव (जौ), वृष्टिजल, दूध, घी, मधु आदि पदार्थों का सदा प्रयोग करना चाहिए।

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च स्यात्।। (च.सू. ५.१३)

उन आहार-विहार का नित्य सेवन करें, जो अपने स्वास्थ्य के अनुकूल हों तथा जो अनुत्पन्न विकारों को उत्पन्न करने वाले न हों।

स्वच्छ वस्त्र धारण से लाभ

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्।। (च.सू. ५.९५)

निर्मल व स्वच्छ वस्त्रों को धारण करने से शरीर की कान्ति बढ़ती है, यश एवं आयुष्य की वृद्धि होती है, दरिद्रता का नाश तथा हर्ष की अभिवृद्धि होती है। शोभा, सौन्दर्य व मङ्गल की प्राप्ति और सभा-परिषदों में प्रतिष्ठा बढ़ती है।

मलमार्गों की शुद्धि

मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम्।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः।। (च.सू. ५.९८)

पैरों तथा मल निकलने के मार्ग नाक-कान आदि को यथासमय स्वच्छ रखना 'शौच-आधान' कहलाता है। यह मेधा (धारणाशक्ति), पवित्रता, आयु को बढ़ाता है तथा दारिद्र्य एवं कलह करने की प्रवृत्ति को नष्ट करता है।

क्षौर कर्म एवं केश-प्रसाधन

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम्।। (च.सू. ५.९९)

सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ तथा हाथ-पैर के नखों को यथासमय काटते रहना चाहिए। उनका सम्प्रसाधन (सँवारना) पौष्टिक, वृष्य एवं आयुष्य होता है। इससे स्वच्छता व रूपसौन्दर्य बढ़ता है।

पादत्राण धारण का फल

चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्।। (च.सू.५.१००)

पादत्राण अर्थात् पैरों की रक्षा के साधन जूता, खड़ाऊ आदि का धारण करना पैरों की त्वचा एवं आंखों के लिए हितकारक होता है। यह पैरों को समस्त कष्टों से बचाने वाला, बल-वर्धक, पराक्रमकारी एवं वृष्य होता है।

पथ्याहार

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम्।
सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम्।। (अ.हृ.सू. ८.४२)
पथ्यामलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्करा:।
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम्।। (अ.हृ.सू. ८.४३)
त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च।
स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत्।। (अ.हृ.सू. ८.४४)

शालिधान्य, गोधूम (गेहूँ), जौ, षष्टिक शालि, चौलाई एवं जीवन्ती शाक, कच्ची मूली, वास्तुक (बथुआ), हरड़, आँवला, द्राक्षा, परवल, मूँग, शर्करा, घृत, वर्षाजल (आन्तरिक्ष जल), दूध, शहद, अनार और सेंधा नमक आदि का प्रतिदिन सेवन करना चाहिए। आँखों की रोशनी को बढ़ाने के लिए त्रिफला को मधु और घृत की विषम मात्रा के साथ रात्रि में सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो भी द्रव्य स्वास्थ्य के लिए हितकर और रोगनाशक हों, उन सभी का प्रतिदिन सेवन करना चाहिए।

हिताहित का विवेचन

उचितादहिताद्धीमान्क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते।। (च.सू. ७.३६)
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा।। (च.सू. ७.३७)

बुद्धिमान् व्यक्ति को अभ्यस्त (उचिताद्, उच समवाये) अहितकर आहार से यथाक्रम विरत होना चाहिए तथा हितकर आहार का यथाक्रम सेवन करना चाहिए। इन दोनों का क्रम यहाँ बताया जा रहा है। हितकारी द्रव्य के प्रक्षेप (ग्रहण) और अहितकारी द्रव्य के अपचय (त्याग) में पादांशिक[१] क्रम होना चाहिए। पादांशिक (द्रव्य का चतुर्थांश) क्रम के अनुरूप पथ्यसेवन एवं अपथ्य-त्याग पहले एक दिन, पश्चात् दो दिन, फिर तीन दिन इस प्रकार से दिनों के अन्तराल में करना चाहिए।

पथ्यापथ्य सेवन एवं त्याग-विधि

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।
निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम्।। (अ.हृ.सू. ७.४८)

---

१. (क) पादः चतुर्थो भागः, तद्रूपोंऽशः पादांशः, तेन कृतः क्रमः पादांशिकः; अन्ये तु पादस्यांशः पादांशः इति षोडशं भागं वर्णयन्ति। (च.सू. ७.३७ चक्रपाणिः)
(ख) पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत् इति। (अ.हृ.सू. ७.४८)

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा।
सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसान्यथा।। (अ.हृ.सू. ७.४९)

प्रतिदिन अभ्यास करने से सात्म्य हुए अहितकर अन्नपान को चतुर्थांश या षोडषांश क्रम से छोड़ना चाहिए और उसी क्रम से हितकर अन्नपान का सेवन करना चाहिए। अहितकर अन्नपान को छोड़ने और हितकर अन्नपान का सेवन करने में क्रमशः एक, दो अथवा तीन दिन का अन्तर रखना चाहिए। एकाएक अपथ्य का त्याग करना और पथ्य का सेवन करना भी रोग का कारण होता है; क्योंकि जहाँ अपथ्य शरीर को सात्म्य (अनुकूल) हो गया होता है, वहीं पथ्य असात्म्य (प्रतिकूल) रहता है। अतः अपथ्य का क्रमशः त्याग करना और पथ्य का क्रमशः सेवन करना अभीष्ट है।

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च।। (अ.हृ.सू. ७.५०)
अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम्।
अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति।। (अ.हृ.सू. ७.५१)

क्रमशः घटाये गए दोष पुनः नहीं बढ़ पाते हैं और क्रमशः बढ़ाये गये गुण स्थायी हो जाते हैं। बार-बार अहितकर आहार-सेवन से दूष्यों के अति समीप रहने वाले दोष दूष्यों को दूषित कर सकते हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्य पथ्य-अपथ्य को भली-भाँति समझकर अपने शरीर के अनुकूल ही आहार-विहार करे।

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च।। (च.सू. ७.३८)

इस प्रकार पादांशिक क्रम से अपचित (क्षीण किये गये) दोष[१] पुनः उत्पन्न नहीं होते तथा क्रमशः उपचित (वृद्धि को प्राप्त) गुण[२] दृढ़ हो जाते हैं।

१. दोषा इति दोषजनकान्यभ्यस्तान्यपथ्यानि। (चक्रपाणिः)
२. गुणा इति गुणजनकानि पथ्यानि। (चक्रपाणिः)

उचितादप्यहितात् क्रमशो विरमेत्, हितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशः, न चैकान्ततः पादहीनात्[१]। (सु.चि. २४.९७)

उचित (अभ्यस्त) किन्तु अहितकारी आहार-विहार का त्याग तथा हितकर किन्तु अनभयस्त का सेवन क्रमशः चतुर्थांश के त्याग एवं स्वीकार के क्रम से करना चाहिए, किसी भी वस्तु का सहसा परित्याग या सेवन आरम्भ करना उचित नहीं है।

तस्य खलु ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते, भूयिष्ठ-कल्पानां च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाश्चाहिततमाश्च, तांस्तान् यथावदुपदेक्ष्यामः।। (च.सू. २५.३७)

उस आहार के जो–जो विकारावयव अधिकतम उपयोग में आते हैं तथा अधिकांश लोगों की अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार हिततम एवं अहिततम होते हैं, उन सभी का हम यथावत् उपदेश करेंगे।

सतत पथ्यपदार्थ

तद्यथा लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्तरिक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करेक्षुविकाराणामिति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति।। (च.सू. २५.३८)

जैसे कि शूकधान्यों में से लोहितशालि (रक्तशालि) पथ्यतम होने से श्रेष्ठतम होते हैं, शमीधान्यों में मुद्ग, उदकों में आन्तरिक्षजल, लवणों में सैन्धवलवण, शाकों में जीवन्ती, घृतों में गोघृत, दुग्धों में गोदुग्ध, स्थावर (वनस्पतियों) से उत्पन्न तेलों में तिल तेल, कन्दों में अदरक, फलों में

१. असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्। (अ.हृ.सू. ३.५८)

मुनक्का, इक्षुविकारों में शर्करा सर्वश्रेष्ठ होती है। इस प्रकार स्वभाव से ही हितकारी आहारविकारों (आहारभेदों) में से प्रधान द्रव्यों का व्याख्यान कर दिया गया है।

सतत अपथ्य पदार्थ

अहिततमानप्युपदेक्ष्यामः– यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानाम्, ऊषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, काणकपोतः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलचिमो मत्स्यानाम्, आविकं सर्पिः सर्पिषाम्, अविक्षीरं क्षीराणां, कुसुम्भस्नेहः स्थावरस्नेहानां, महिषवसा आनूपमृगवसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यवसानां, काकमद्गुवसा जलचरविहङ्गवसानां, चटकवसा विष्किरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां, निकुचं फलानाम्, आलुकं कन्दानां, फाणितमिक्षु-विकाराणाम्; इति प्रकृत्यैवाहिततमानामाहारविकाराणां प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति।। (च.सू. २५.३९)

अहिततम पदार्थों का उपदेश करते हैं- शूकधान्यों में यवक (जई) प्रकृष्टतम अपथ्य होता है, शमीधान्यों में माष (उड़द), जलों में वर्षा ऋतु की नदी का जल, लवणों में ऊषर लवण, शाकों में सर्षपशाक, मृगमांसों में गोमांस, पक्षियों में काणकपोत, बिलेशयों में मेढ़क, मत्स्यों में चिलचिम, घृतों में भेड़ का घृत, दुग्धों में भेड़ का दुग्ध, वनस्पति तेलों में कुसुम्भ (बर्रे) का तेल, आनूप मृगों की वसा में महिष (भैंस) की वसा, जलचर पक्षियों की वसा में कुम्भीर मछली की वसा, विष्किर पक्षियों की वसा में चटका (गोरैया) की वसा, शाखा (पत्रादि) खाने वालों के मेद में हाथी का मेद, फलों में लकुच (बडहल), कन्दों में आलू, इक्षुविकारों में फाणित (राब) सबसे अधिक अपथ्य होता है। इस प्रकार स्वभाव से ही अहित आहार-विकारों में से प्रधान द्रव्यों का उल्लेख कर दिया गया है।

पथ्यं पथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्।
यच्चाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत्।। (च.सू. २५.४५)

ऐसे आहार जो शारीरिक स्रोतों के लिए हितकारी हों, साथ ही मन को प्रसन्नता देने वाले हों अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार से हितकारी हों, उन्हें 'पथ्य आहार' कहते हैं। इसके विपरीत जो आहार-विहार शरीर के स्रोतों के लिए तथा मन के लिए अहितकर होते हैं, उन्हें 'अपथ्य' कहते हैं। ये जो पथ्य-अपथ्य बताए गये हैं, सर्वथा निश्चित नहीं हैं, जो किसी एक के लिए पथ्य हैं, वे ही दूसरे के लिए अपथ्य हो सकते हैं।

यत् किञ्चिद्दोषमास्राव्य न निर्हरति कायतः।
आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते।। (च.सू. २६.८५)

ऐसे आहार या औषधद्रव्य जो दोषों को शरीर के अन्दर ही गति प्रदान करते हैं, परन्तु उन्हें शरीर से बाहर निकालने में असमर्थ होते हैं, ऐसे आहार स्वास्थ्य के लिये हितकारी नहीं हैं।

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत्।। (सु.सू. ३५.४०)

सेवन किया हुआ जो रस अथवा द्रव्य जिसके लिए सुखदायक होता है, वह उसके लिए सात्म्य जानना चाहिए। इसी प्रकार किया गया जो व्यायाम सुखदायक होता है, वह उसके लिए 'सात्म्य'[१] जानना चाहिए।

आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान्।
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम्।।
(सु.सू. ४६.४६७)

---

१. सात्म्यम्- सह आत्मना भवतीति सात्म्यम्। सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यं नाम तत् यत्सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।

बुद्धिमान् मनुष्य को भोजन के पहले अनार आदि फल खाने चाहिएं, तत्पश्चात् पेय पदार्थ, तदनन्तर विभिन्न भोज्य तथा भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः।
काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम्।
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयाद् मात्रावद्विदितागमः।। (सु.सू. ४६.४७१)

आयुर्वेदशास्त्र को जानने वाले बुभुक्षित व्यक्ति को सुखपूर्वक उच्च आसन में बैठकर, देह को सीधा रखकर, अन्नतत्पर होकर उचित समय पर सात्म्य (अनुकूल), हल्का चिकनाईयुक्त, उष्ण और द्रवप्रधान भोजन करना चाहिए।

काले भुक्तं प्रीणयति सात्म्यमन्नं न बाधते।
लघु शीघ्रं व्रजेत् पाकं स्निग्धोष्णं बलवह्निदम्।। (सु.सू.४६.४७२)
क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यात्यदोषं द्रवोत्तरम्।
सुखं जीर्यति मात्रावद्धातुसाम्यं करोति च।। (सु.सू. ४६.४७३)

उचित समय पर खाया हुआ अन्न प्राणी को तृप्त करता है। सात्म्य अन्न बाधा नहीं पहुँचाता। हल्का भोजन शीघ्र पच जाता है तथा स्निग्ध और उष्ण भोजन बल और जठराग्नि को बढ़ाने वाला होता है। आराम से खाया हुआ भोजन समान रूप से पच जाता है। द्रवप्रधान भोजन बिना दोष के आगे चला जाता है। परिमित भोजन सुख से पच जाता है और रसादि धातुओं का साम्य बनाए रखता है।

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नष्टं पर्युषितं पयः।
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्।। (सु.चि. २४.९९)

घी (क्रीम) निकाला हुआ, खराब, बासी दूध नहीं पीना चाहिए। रात्रि में दही नहीं खाना चाहिए तथा घी और शक्कर मिलाए बिना भी दही नहीं खाना चाहिए।

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः।। (सु.चि. २७.६)

शीतल जल, दूध, शहद और घृत ये सब एक-एक करके, दो-दो, तीन-तीन अथवा सभी को एक साथ प्रातः पीने से आयु लम्बी होती है।

स्नेहपान में पथ्यापथ्य

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत्।। (च.सू.१३.६२)
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ।
वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्।। (च.सू.१३.६३)
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः।। (च.सू.१३.६४)

स्नेहपान में पथ्य-अपथ्य का वर्णन करते हैं- स्नेहपान करने वाले गर्म जल का सेवन करें, ब्रह्मचर्य का पालन करें, रात्रि में ही शयन करें, मल-मूत्र, अपानवायु तथा उद्गार के वेगों को न रोकें, व्यायाम, ऊँचा बोलना, क्रोध, शोक, शीतल (ठंडे) वस्तुओं का सेवन, धूप का सेवन छोड़ दें। हवा के झोंके से रहित स्थान पर ही बैठें तथा शयन करें। स्नेहपान करके स्नेह के उपर्युक्त पथ्यों का यथाविहित पालन करें, जिससे मिथ्योपचार नहीं होगा। इसलिए कहते हैं कि स्नेहपान के मिथ्योपचार से भयावह रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

अपथ्य आहार

भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः।
शाकावरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत्।। (अ.हृ.सू. ८.३९)

तृण (तिनके), केश, मक्खी आदि गिर जाने पर तथा पुनः गर्म किया हुआ, शाक एवं निर्वीर्य अन्न की अधिकता वाला, अत्यन्त उष्ण और अत्यधिक नमक वाला भोजन त्याग देना चाहिए।

अपथ्य सेवन के परिणाम

अव्यायामरता वसन्तसमये ग्रीष्मे व्यवायप्रियाः
सक्ताः प्रावृषि पल्वलाम्भसि नवे कूपोदकद्वेषिणः।
कट्वम्लोष्णरताः शरद्दधिभुजो हेमन्तनिद्रालसाः
शीताम्भःपिगाहिनस्तु शिशिरे नश्यन्तु ते शत्रवः।।

(आ.म. १.८)

हे राजन्! वसन्त ऋतु में अव्यायाम-रत (व्यायामरहित/आरामतलबी में आसक्त), ग्रीष्म ऋतु में व्यवायप्रिय (स्त्रीसंग में आसक्त), वर्षा ऋतु में कूपजल (कुएँ के पानी) से द्वेष करने वाले तथा पल्वल (छोटे तालाबों) के जल में आसक्त अर्थात् उसका पानी पीने वाले व उसमें स्नान करने वाले, शरद् ऋतु में कटु (चरपरे), अम्ल व उष्ण पदार्थों के रसिक एवं दही का सेवन करने वाले, हेमन्त ऋतु में निद्रालस (दिन में नींद लेने वाले आलसी) तथा शिशिर ऋतु में शीतल जल वाले तालाब या नदी आदि में अवगाहन (स्नान) करने वाले तुम्हारे शत्रु शीघ्र ही रोगग्रस्त होकर नष्ट हो जावें।

इस कथन से स्पष्ट है कि वसन्त में व्यायाम न करना, ग्रीष्म में स्त्रीसंग करना, वर्षा में तालाब के पानी का सेवन करना, शरद् में कट्वम्लोष्ण (मिर्च, खटाई व गर्म पदार्थों) का सेवन व दही का सेवन, हेमन्त में दिन में सोना, शिशिर में शीतल जल का अवगाहन(स्नान)- ये बहुत ही गम्भीर अपथ्य हैं। इनका सेवन करने वाले व्यक्ति रोगों का शिकार होकर नष्ट हो जातें हैं।

कुष्ठी मत्स्यदधीनि पिच्छिलजलं वातेन रक्ते तथा
शूली वैदलमन्नमत्तु बहुलं स्निग्धं प्रमेही द्रवम्।
स्त्रीसेवामतिदुर्बलश्च पटुनाप्यम्लं क्षयी च श्रमं
निद्रां कण्ठरुजार्दितो भजतु ते राजन् रिपूणां गणः।। (आ.म.१.९)

हे राजन्! कुष्ठरोग वाला तुम्हारा शत्रुसमूह मत्स्य व दही खाये, वातरक्त वाला पिच्छिल जल पिये, शूली (पेटदर्द वाला) दाल खाये, प्रमेही बहुत स्निग्ध व द्रव का सेवन करे, अतिदुर्बल व्यक्ति स्त्रीसंग व क्षारलवण (पटुना) एवं अम्ल पदार्थों का सेवन करे, क्षयी श्रम करे एवं कण्ठरोग वाला दिवाशयन करे, इस प्रकार के घातक अपथ्य करने वाला तुम्हारा शत्रुगण शीघ्र ही नष्ट हो जाये।

भाव यह है कि दही व मछली एक साथ खाना कुष्ठ रोग का बड़ा कारण है। इसी प्रकार पेटदर्द वाले का दाल-सेवन, प्रमेहग्रस्त का स्निग्ध और द्रव का सेवन, दुर्बल का स्त्रीसंग व अधिक नमक एवं खटाई खाना, क्षयग्रस्त का श्रम करना व कण्ठरोगी का अधिक सोना अतिहानिकर अपथ्य है। इनका सेवन करने वाले शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

जीर्यत्यन्नं सुखं भुक्तमेकवारं यदृच्छया।
द्विकालमपि भुञ्जीत समाग्निस्त्वर्धमात्रया।। (आ.म. २५.१२)

रात-दिन में एक बार खाया हुआ अन्न सुखपूर्वक पच जाता है। यदि समाग्नि व्यक्ति भूख से कुछ कम मात्रा में दो समय भोजन करता है तो वह भी पच जाता है।

कठिनं दुर्जरं यच्च यच्च दाहकरं भवेत्।
तत्सर्वं निशि वर्ज्यं स्याद् द्रव्यं लघु च शीलयेत्।।(आ.म. २५.१३)

जो भोजन अधिक कठिन (कठोर), दुर्जर व दाहकर होता है, उसे रात को कदापि नहीं लेना चाहिए। रात को लघु अर्थात् सुपाच्य भोजन का ही सेवन करना चाहिए।

आहारकाले सम्प्राप्ते यो न भुङ्क्ते बुभुक्षितः।
तस्य सीदति कायाग्निर्निरिन्धन इवानलः।। (आ.म. २५.१४)

जो व्यक्ति बुभुक्षित (भूखा) होने पर भी भोजनकाल में भोजन नहीं करता है, उसकी जठराग्नि वैसे ही शान्त हो जाती है जैसे इन्धन न मिलने पर अग्नि।

ऊष्मा बहिः प्रतिहतो हिमशीतवातै-
रन्तःशरीरविवरं प्रतिपद्यमानः।
स्वस्थानपिण्डितवपुर्भवति प्रचण्डः
शीतेऽनलोऽनिलहरो विधिरिष्यतेऽतः।। (आ.म. २५.१५)

बाहरी वातावरण की शीतलता व शीतल वायु से प्रतिहत (बाहर निकलने से रोकी गई) शरीर की ऊष्मा शरीर के अन्दर ही प्रविष्ट होकर अपने स्थान (उदर) में जठराग्नि के रूप में पिण्डीभूत (घनी-भूत) होने से प्रबल हो जाती है। अतः शीतकाल में पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है। इससे भूख शान्त होती है और वात का भी शमन होता है।

चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः।
मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।। (च.वि. २.९)

चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, ऊबड़-खाबड़ बिस्तर (दुःखप्रद शय्या) और रात्रि को जागना, इनके कारण उचित मात्रा में किया गया पथ्य भोजन भी अच्छी प्रकार से नहीं पचता है।

ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति।।
(सु.सू. ४६.५०१)

ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, शोक, दीनता एवं प्रद्वेष से युक्त व्यक्ति का भी अन्न भली प्रकार नहीं पचता है।

स्वास्थ्य के श्रेष्ठ पथ्य

ब्रह्मचर्य-निवातशयनोष्णोदकस्नान-निशास्वप्नव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः।। (सु.सू २०.६)

ब्रह्मचर्य, निवातशयन (ऐसे स्थान पर सोना जहाँ सीधी वायु न लगे), उष्ण जल से स्नान, रात्रि में शयन, व्यायाम करना; ये कार्य स्वास्थ्यलाभ हेतु प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यन्त हितकर होते हैं।

अग्र्य प्रकरण-

अथ खल्वेकं प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्धनानामेकं बृंहणानामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति। तत्राहिंसा[1] प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्ट तमं, वीर्यं बलवर्धनानां, विद्या बृंहणानाम् इन्द्रियजयो नन्दनानां, तत्त्वावबोधो हर्षणानां, ब्रह्मचर्यमयनानामिति; एवमायुर्वेदविदो मन्यन्ते।।

प्राणों को बढ़ाने वालों में एक, बल को बढ़ाने वालों में एक, बृंहण अर्थात् शरीर व मन को बढ़ाने वाले भावों में एक, नन्दन (समृद्धि करने वाले) द्रव्यों में एक, मन को प्रसन्न करने वालों में एक और अयनों में एक उत्कृष्टतम है। जिसमें अहिंसा को प्राणियों के प्राण बढ़ाने वालों में, वीर्य (उत्साह) को बल बढ़ाने वालों में, विद्या (योगविद्या) को बृंहणकारक भावों में, इन्द्रियजय को नन्दनकारकों में, तत्त्वज्ञान को हर्षणकारक भावों में तथा ब्रह्मचर्य को मार्गों (मोक्ष के साधनों) में आयुर्वेदज्ञ श्रेष्ठ मानते हैं।

अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम्, उदकमाश्वासकराणां, क्षीरं जीवनीयानां, रसस्तर्पणीयानां, लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, अम्लं

---

१. यद्यप्यन्नं प्राणवर्धनं तथाप्यहिंसैवोत्कृष्टा, अहिंसया हि धर्मजननात् तत्कृतमविचाल्यं भवति।

हृद्यानां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणाम्,

वृत्तिकरों (शरीरस्थिति करने वालों) में **अन्न** सर्वोत्कृष्ट है, आश्वासन-प्रदायकों में **जल**, जीवन-प्रदायक द्रव्यों में **दुग्ध**, तर्पण करने वालों में **रस**, भोजनद्रव्यों में रुचि पैदा करने वालों में **लवण**, हृदयप्रिय द्रव्यों में **अम्लरस**, कफ तथा पित्त के शमन में **मधु**, वात तथा पित्त के शमन में **घृत**, वात तथा कफ के शमन में **तैल**, कफ का शमन करने में **वमन** (vomiting), पित्त के शमन में **विरेचनक्रिया**, वातशामकों में **बस्तिक्रिया**, शारीरिक मृदुता हेतु **स्वेदनक्रिया**, शारीरिक दृढ़ता हेतु **व्यायाम कर्म** सर्वश्रेष्ठ है।

क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां, तिन्दुकमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्, आविकं सर्पिरहृद्यानाम्, अजाक्षीरं शोषघ्न-स्तन्यसात्म्य-रक्तसांग्राहिक-रक्तपित्त-प्रशमनानाम्, अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानां, महिषीक्षीरं स्वप्नजननानां, मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणां, गवेधुकान्नं कर्शनीयानाम्, उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम्, इक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था अम्ल-पित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमनास्थापनानु-वासनोपयोगिनां, त्रिवृत् सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणाम्, आमलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानाम्, एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाह-प्रशमनानाम्, खल्वेकं प्राण

पुंस्त्व शक्ति के ह्रासकारी द्रव्यों में **क्षार** सर्वोपरि है। अन्नद्रव्यों में अरुचि पैदा करने वालों में **तिन्दुक** सर्वोपरि है। **कच्चा कपित्थ** कण्ठ के लिए सबसे हानिकारक होता है। **भेड़ का घी** अहृद्य (हृदय के लिए अप्रिय) द्रव्यों में सबसे प्रमुख है। क्षयरोगहर द्रव्यों एवं माता के दूध की समता करने वालों में **बकरी का दूध**[१] सर्वश्रेष्ठ होता है। यह रक्तसांग्राहिक एवं रक्तपित्तशामक द्रव्यों में भी सर्वश्रेष्ठ है। कफ तथा पित्तकारक पदार्थों में **भेड़ का दूध**[२], निद्राप्रदायकों में **भैंस का दूध**, अभिष्यन्दकारकों में **आधा जमा हुआ दही**, शरीर को पतला करने के लिए **गवेधुक** (जोन्हरी, भुट्टा), शरीर को रूक्ष बनाने वाले द्रव्यों में **उद्दालक** (जंगली कोदो) नामक अनाज, मूत्रवर्धक द्रव्यों में **गन्ने का रस**, मलवर्धक द्रव्यों में **जौ**, वातकारक पदार्थों में **जामुनफल**, कफ तथा पित्तकारक द्रव्यों में **शष्कुली** (पूड़ी), अम्लपित्तजनक द्रव्यों में **कुलथी**, कफ तथा पित्तजनक द्रव्यों में **उड़द**, आस्थापन, वमन तथा अनुवासन प्रक्रिया में **मदनफल**, पीड़ारहित विरेचन प्रक्रिया में **निशोथ**, मृदु विरेचन द्रव्यों में **अमलतास**, तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों में **थूहर का दुग्ध**, नस्य द्रव्यों में **अपामार्ग** (चिरचिटा), कृमिनाशक द्रव्यों में **वायविडङ्ग**, विष का शमन करने में **शिरीष**, कुष्ठ रोग के शमन में **खदिर** (खैर), वातनाशक द्रव्यों में **रास्ना**, आयु को स्थिर रखने वाले द्रव्यों में **आँवला**, स्रोतों की शुद्धि करने वाले द्रव्यों में **हरीतकी**, वीर्यवर्धक तथा वातहर द्रव्यों में **एरण्डमूल**, दीपन, पाचन तथा आनाहशामक पदार्थों में **पिप्पलीमूल** सर्वश्रेष्ठ है।

चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणाम्, पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, मुस्तं सांग्राहिक-दीपनीयपाचनीयानाम्, उदीच्यं निर्वापणदीपनीयपाचनीय-

१,२. छागं रक्तातिसारघ्नं कासशोषज्वरापहम्।
सेकेनानिलरक्तघ्नं पित्तश्लेष्मलमाविकम्।। (सि.सं. ३.४६)

च्छर्द्यतीसारहराणां, कट्वङ्गं सांग्राहिकदीपनीयपाचनीयानाम्, अनन्ता सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्, अमृता सांग्राहिकवातहर-दीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानां, बिल्वं सांग्राहिकदीपनीय-वातकफप्रशमनानाम्, अतिविषा दीपनीयपाचनीयसांग्राहिकसर्व-दोषहराणाम्, उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशम-नानां, दुरालभा पित्तश्लेष्मप्रशमनानां, गन्धप्रियङ्गु शोणितपित्ताति-योगप्रशमनानां, कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानां, काश्मर्यफलं रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानां, पृश्निपर्णी सांग्राहिकवातहरदीपनीयवृष्याणां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला सांग्राहिकबल्यवातहराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां, हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्, अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणां, यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानां, तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्याप-त्प्रशमनानां, क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां, समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणां, चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणप्रलेपनानां, रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानां, लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनां, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्य-विरजनीयरोपणीयानां, वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम्, अग्निराम-स्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, मृद्भृष्टलोष्ट्र-निर्वापितमुदकं तृष्णाच्छर्द्यतियोगप्रशमनानाम्।

दीपन, पाचन, गुदशोथ, बवासीर (अर्श) एवं सभी प्रकार के शूलनाशक द्रव्यों में **चित्रकमूल** सर्वश्रेष्ठ है। हिचकी, श्वासरोग, खाँसी एवं पार्श्वशूल में **पोहकरमूल**, संग्राही, दीपन एवं पाचन द्रव्यों में **मुस्ता**, दाहशामक, दीपन, पाचन, वमन तथा अतिसारनाशक द्रव्यों में

सुगन्धबाला, संग्राही, दीपन व पाचन द्रव्यों में **सोनापाठा** (कट्वङ्ग), रक्तपित्तशामक तथा संग्राही द्रव्यों में **अनन्तमूल**, वातघ्न, संग्राहक, दीपन, कफ, रक्तसम्बन्धी विकार तथा कब्जनाशक द्रव्यों में **गुडूची**, संग्राही, दीपन, वातघ्न व कफघ्न द्रव्यों में **बिल्व** (बेल), दीपन, पाचन, संग्राही तथा सर्वदोषनाशक द्रव्यों में **अतीस**, संग्राही तथा रक्तपित्तशामक द्रव्यों में **नीलकमल**, **कुमुद**, **श्वेतकमल व केसर**, कफ तथा पित्तनाशक द्रव्यों में **जवासा**, बढ़ते हुए रक्तपित्त को रोकने में **गन्धप्रियंगु**, कफशमन, पित्तशमन व रक्तसंग्राही द्रव्यों में **कुटज की छाल**, रक्तसंग्राही तथा रक्तपित्त के शमन में **गम्भारीफल**, संग्राही, वातघ्न, दीपन तथा वीर्य की वृद्धि करने वाले पदार्थों में **पृश्निपर्णी**, वीर्यवृद्धि तथा सर्वदोषशामक पदार्थों में **विदारिगन्धा**, बलवृद्धि, संग्राही तथा वातघ्न द्रव्यों में **बला**, मूत्रकृच्छ्रघ्न एवं वातघ्नों में **गोखरू**, छेदन, दीपन, अनुलोमन तथा वातपित्तशामक द्रव्यों में **हींग**, भेदन, दीपन, अनुलोमन तथा वातकफशामक द्रव्यों में **अम्लवेतस**, रेचन, पाचन तथा अर्शनाशकों में **जवाखार**, ग्रहणीजन्य विकार, शोथ, अर्श तथा घी के अधिक सेवन से होने वाले रोगों के शामक द्रव्यों में **मट्ठा** सर्वश्रेष्ठ होता है। प्रतिदिन **घी** तथा **दूध** का सेवन रसायनों में सर्वोपरि होता है। निरन्तर **घी** तथा **सत्तू** का सेवन वीर्यवृद्धि एवं उदावर्तशामक द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है। दाँतों को मजबूत करने वालों और भोजन में रुचिप्रदायकों में **तैलगण्डूष** श्रेष्ठतम होता है। दाहशामक तथा दुर्गन्धिहारक पदार्थों में **चन्दन**, शीतनाशक लेपन द्रव्यों में **रास्ना** एवं **अगरु**, त्वचा सम्बन्धी दोषहर तथा स्वेद व दाहनाशक द्रव्यों में **लामज्जक** एवं **उशीर**, वातघ्न अभ्यंग एवं उपनाहद्रव्यों में **कूठ**, नेत्रज्योतिवर्धक, वृष्य एवं केशवृद्धिकारक द्रव्यों में **मुलहठी** सर्वश्रेष्ठ है, इसी प्रकार व्रणरोपण बलकारक कण्ठसुधारक तथा पुरीष व मूत्र की विवर्णताओं को दूर करने वाले द्रव्यों में भी मुलहठी को श्रेष्ठतम बताया है। प्राणसंज्ञा देने

वाले कारणों में **वायु**, आमजन्य रोग, स्तब्धता, शीतरोग, पीड़ा व कम्पन के निवारण करने वाले द्रव्यों में **अग्नि**, स्तम्भन करने वाले द्रव्यों में **जल** सर्वश्रेष्ठ है। जिसमें अग्नि में तपे हुए किसी मिट्टी के ढेले को बुझाया गया हो, वह जल **अति तृष्णा** व **अति वमन** को शान्त करने वालों में सर्वश्रेष्ठ होता है।

अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां, यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्नि-सन्धुक्षणानां, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारौ सेव्यानां, कालभोजनमारोग्यकराणां, तृप्तिराहारगुणानां, वेगसन्धारणमनारोग्यकराणां,मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणां, गुरुभोजनं दुर्विपाककराणाम्, एकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणां, स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषकराणां, पराघातनमन्नाश्रद्धाजननानाम्, अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्। प्रमिताशनं कर्शनीयानाम्, अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानां, विषमाशन- मग्निवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानाम्, आयासः सर्वापथ्यानां, मिथ्यायोगो व्याधिकराणाम्।

भोजन की अधिकता आमदोषों को उत्पन्न करने वालों में सर्वोपरि है। **जितनी भूख हो उतना ही भोजन करना, अधिक नहीं**, यह जठराग्नि प्रदीप्त करने वाले उपायों में सर्वोपरि है। सेवनीय पदार्थों में **अनुकूल चेष्टा व अनुकूल भोजन**, आरोग्यप्रद उपायों में **समय पर भोजन करना** अर्थात् भूख लगने पर ही भोजन करना सर्वोत्कृष्ट है। आहारगुणों में **तृप्ति** सर्वश्रेष्ठ है। **वेगों (पुरीष-मूत्रादि) को रोकना** रुग्णता प्रदान करने में सर्वोपरि कारण है। अल्प मात्रा में मद्य का सेवन सौमनस्यकारकों में अग्र्य है। मद्य से उत्पन्न आक्षेप रोग (लड़खड़ाहट/मस्तिष्क का असंतुलन) धी, धृति व स्मृति के नाशकों में सर्वप्रमुख है।

गुरु भोजन अपचकारकों में प्रमुख हेतु है। सुखपूर्वक पाचन के उपायों में **एक समय भोजन** करना सर्वोत्कृष्ट है[१]। राजयक्ष्माजनक कारणों में **अतिस्त्रीप्रसंग** प्रधान है। भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले कारणों में **बूचड़खानों में पशुवध का भयानक दृश्य देखना** प्रमुख है। **निरन्तर भोजन का त्याग (अनशन) करना** आयु के घटने का सर्वप्रमुख कारण है। **अल्प भोजन** शारीरिक कृशता का प्रधान कारण है। **अजीर्ण अवस्था में भोजन करना** ग्रहणी (आँतों) को प्रदूषित करने का सर्वप्रमुख कारण है। जठराग्नि को विषम बनाने वाले कारणों में **अनियमित आहार** सर्वप्रमुख है। निन्दित व्याधियों (कुष्ठ, क्षय आदि) को उत्पन्न करने वाले कारणों में **वीर्यविरुद्ध आहारों का सेवन** सर्वप्रमुख है। सभी पथ्यों में **प्रशम**[२] सर्वश्रेष्ठ पथ्य है। सभी अपथ्यों में **आयास** (Exertion) सर्वोपरि है। रोगोत्पादकों में **मिथ्यायोग** प्रमुख कारण है।

रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानां, ब्रह्मचर्यमायुष्याणां, परदाराभिगमनमनायुष्याणां, सङ्कल्पो वृष्याणां, दौर्मनस्यमवृष्याणाम्, अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां, विषादो रोगवर्धनानां, स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः शोषणानां, निवृत्तिः पुष्टिकराणां, पुष्टिः स्वप्नकराणाम्, अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणां, सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणां, गर्भशल्यमाहार्याणाम्, अजीर्णमुद्धार्याणां, बालो मृदुभेषजीयानां, वृद्धो याप्यानां, गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारणानां, सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्, आमो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां, कुष्ठं दीर्घरोगाणां, राजयक्ष्मा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्,

---

१. एकभुक्तं सदारोग्यं द्विर्भुक्तं बलवर्धनम्।
त्रिभुक्तं तु सदारोगं चतुर्भुक्तं तु मारकम्।। (द्र.रू.नि.)

२. मन व शरीर की अयोग, अतियोग व मिथ्यायोग से सुरक्षा को 'प्रशम' कहते हैं।

अलक्ष्मी (शरीर की निष्प्रभता/दरिद्रता) के हेतुओं में सर्वोपरि है- **रजस्वला स्त्री के साथ सहवास**। **ब्रह्मचर्य** आयुवृद्धि का सर्वश्रेष्ठ कारण है। **परस्त्रीसंसर्ग** आयु घटाने का सर्वोपरि कारण है। **स्त्रीविषयक संकल्प** सबसे बढ़कर वृष्य है। **दौर्मनस्य** (मन की चिन्ता/तनाव) सर्वोपरि वृष्यतानाशक है। **बल से अधिक श्रम करना** सर्वाधिक प्राणोपघाती होता है अर्थात् आयुक्षीण करने वाले कारणों में **अयथाबल आरम्भ** (स्वबल से अधिक बल का प्रयोग) सर्वप्रधान है। **विषाद** (Depression) रोगवर्धक कारणों में सर्वप्रधान है। थकावट मिटाने में **स्नान**, शारीरिक तथा मानसिक आनन्द के उपायों में **हर्ष** (प्रसन्न रहना) सर्वश्रेष्ठ उपाय है। **शोक** (चिन्ता करना) शारीरिक क्षय का तथा **निवृत्ति** (Renunciation/ Detachment) शरीर को पुष्ट करने का सर्वप्रधान कारण है। निद्राकर कारणों में **पुष्टि** सर्वप्रधान है। **अतिनिद्रा** तन्द्रा का प्रमुख कारण है। **सर्वरस का सेवन** बलवर्द्धक उपायों में सर्वोपरि है। **एकरस का सेवन** दुर्बलता-कारक कारणों में सर्वोपरि है। शरीर से सींचकर बाहर निकालने योग्यों में **गर्भशल्य** अर्थात् **मृत गर्भ** प्रथम है, अन्यथा माता की मृत्यु हो सकती है। निवारण करने योग्यों में **अजीर्ण** सर्वप्रमुख है। मृदु ओषधियों के प्रयोग हेतु **बालक** सबसे योग्य रोगी होता है। असाध्यों में **वृद्ध** अग्र्य रोगी है। तीक्ष्ण औषधीय प्रयोग, मैथुन व शारीरिक व्यायाम से बचाने योग्यों में **गर्भिणी स्त्री** सर्वप्रधान है। **सौमनस्य** (मन की प्रसन्नता) गर्भधारण कराने में श्रेष्ठतम उपाय है। अत्यन्त कठिन चिकित्सा योग्य रोगों में **सन्निपात** सबसे अग्रणी रोग है। विषम चिकित्सीय प्रयोग में **आमदोष** सर्वोपरि है। सर्वरोगों में **ज्वर** सबसे प्रधान है। दीर्घ समय तक रहने वाले रोगों में **कुष्ठ** (कोढ़) सबसे प्रधान है। एक साथ अनेक रोगों को उत्पन्न करने वालों में **राजयक्ष्मा** (टी.बी.) सबसे मुख्य है। **प्रमेह** नामक रोग समाप्त होते-होते पुनः-पुनः होने वाले रोगों में सर्वोपरि होता है।

जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्, बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानोषधिभूमीनां, सोम ओषधीनां, मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्, आनूपोऽहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक् चिकित्साङ्गानां, नास्तिको वर्ज्यानां, लौल्यं क्लेशकराणाम्, अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्, अनिर्वेदो वार्तलक्षणानां, वैद्यसमूहो निःसंशयकराणां, योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमोषधीनां, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानां, सम्प्रतिपत्तिः कालज्ञानप्रयोजनानाम्, अव्यवसायः कालातिपत्तिहेतूनां, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्, असमर्थता भयकराणां, तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम्, आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्, आयुर्वेदोऽमृतानां, सद्वचनमनुष्ठेयानाम्, असद्ग्रहणं सर्वाहितानां, सर्वसंन्यासः सुखानामिति।। (च.सू. २५.४०)

जोंक दूषित रक्त को बाहर निकालने में सर्वश्रेष्ठ साधन है। पञ्चकर्मों में **बस्तिकर्म**[१], वनौषधियों के लिए सर्वश्रेष्ठ उत्पत्तिस्थान **हिमालय की भूमि**, सभी ओषधियों में **सोम** श्रेष्ठ है। आरोग्यकारी स्थानों में **मरुदेश** सर्वोपरि है। **आनूपदेश** अहितकर देशों में सर्वप्रधान है। **आज्ञाकारिता** रोगी के लिये श्रेष्ठतम गुण है। चिकित्सा के चार अङ्गों में **वैद्य** सर्वप्रधान है। त्याज्यों में **नास्तिक** सर्वोपरि है और सभी दुःखकारणों में **लालच** अग्र्य है। **चिकित्सक की अवज्ञा करना** रोगी के लिए अरिष्टों (मृत्युलक्षणों) में प्रधान है। **अनिर्वेद** (उत्साहिता) आरोग्यलक्षणों में प्रमुख है। **वैद्यों का समूह** संशय दूर करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। **योग** (एकाग्रता) वैद्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है। सभी ओषधियों में **विज्ञान**, ज्ञानसाधनों में **शास्त्रसहित तर्क** श्रेष्ठतम है। **सम्प्रतिपत्ति** (यथावसर कार्य करना) समय विषयक ज्ञान के प्रयोजनों

१. पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्।
स्रंसनं त्रीन् मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्।। (च.सू. ३.१७९)

में श्रेष्ठतम होता है। समय की बर्बादी में सबसे बड़ा कारण **अव्यवसाय** (कार्यविषयक अनिश्चय) है। संशयरहित करने वाले उपायों में **दृष्टकर्मता** (रोग व औषध के विषय में स्वानुभव होना), भयप्रदायकों में **सामर्थ्यहीनता, तद्विद्यसम्भाषा** (सम्बद्ध विषय के विशेषज्ञ से चर्चा करना) बुद्धिवर्धक (ज्ञानवर्द्धक) उपायों में सर्वश्रेष्ठ है। शास्त्रज्ञान का सबसे बड़ा हेतु **आचार्य** होता है। सभी अमृत (जीवनदायक) हेतुओं में **आयुर्वेद** ही सर्वोत्तम है। अनुष्ठान योग्यों में **सद्वचन** श्रेष्ठतम है। सभी अहितकरों में **असद्ग्रहण** (मिथ्यादुराग्रह) सर्वोपरि है। **सर्वसंन्यास** अर्थात् ममता व अहंकार का त्याग, काम्यकर्मों का त्याग सभी सुखकर साधनों में सर्वोत्तम है।

अध्याय-७

द्रव्य एवं उनका परिचय

द्रवद्रव्य-विज्ञानीयम्

द्रव्य-वर्गीकरण

किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित्त्रिविधं द्रव्यमुच्यते।। (च.सू. १.६७)

द्रव्यों के तीन भेद कहे गये हैं- १. कुछ द्रव्य दोषों का प्रशमन करने वाले होते हैं। २. कुछ द्रव्य धातुओं को प्रदूषित करने वाले होते हैं। ३. कुछ द्रव्य स्वस्थवृत्त में हितकारी होते हैं।

जल-वर्ग

जल के प्रकार एवं प्रयोगविधि

पानीयं मधुरं हिमं रुचिकरं तृष्णाविशोषापहं
मोहभ्रान्तिनिवारणं च कुरुते भुक्तान्नपक्तिं सदा।
निद्रालस्यानिवारणं विषहरं स्त्रोतस्सुसन्तर्पणं
पीतं धीबलवीर्यपुष्टिजननमष्टाङ्गपुष्टिप्रदम्।।

(रा.नि. १४.३) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

जलसामान्य के गुण– पानी मधुर, शीतल, रुचिकर होता है। यह तृष्णा, विशोष, मोह व भ्रान्ति को नष्ट करने वाला तथा खाए हुए अन्न को पचाने वाला होता है। यह निद्रा व आलस्य का निवारक, विषहर, स्त्रोतों को सन्तृप्त करने वाला होता है तथा पीने पर यह बुद्धि, बल व वीर्य, पुष्टि देता है एवं अष्टांगों को पुष्ट करता है।

पानीयं भ्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं
तन्द्राच्छर्दिविनाशनं बलकरं निद्राहरं तर्पणम्।
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्।। (भो.कु.)

पानी के विषय में अन्यत्र भी कहा है– पानी भ्रम (चक्कर आने को) नष्ट करने वाला, थकान को दूर करने वाला, मूर्च्छा व पिपासा को मिटाने वाला, तन्द्रा व छर्दि (उल्टी) को नष्ट करने वाला, बलकर, निद्राहर व तर्पण होता है। यह हृद्य, गुप्त रसवाला, अजीर्ण का नाशक, नित्य हितकर व शीतल होता है। अच्छ (स्वच्छ) जल लघु, रस का कारण व पीयूष (अमृत) के समान जीवनदायक होता है।

शीतं स्वादु स्वच्छमत्यन्तरुच्यं पथ्यं पाक्यं पाचनं पापहारि।
तृष्णामोहध्वंसनं दीपनं च प्रज्ञां दत्ते वारि भागीरथीयम्।।
(रा.नि. १४.१७)

भागीरथी (गंगा) का जल शीतल, स्वादु, स्वच्छ, अत्यन्त रुचिकर, पथ्य, पाक्य (दाल, शाक आदि पकाने के लिए उत्तम), पाचन तथा पापनाशक होता है। यह तृष्णा व मोह का नाश करने वाला तथा दीपन एवं प्रज्ञावर्धक होता है।

स्वादु पाकरसं शीतं त्रिदोषशमनं लघु।
पवित्रमतिपथ्यं च गाङ्गं वारि मनोहरम्।। (आ.म. १.१०)

गंगा का जल रस व पाक में मधुर, शीतल, त्रिदोषनाशक व लघु होता है। यह पवित्र, अति पथ्य व मनोहर होता है।

पित्तदाहशमनं श्रमापहं स्वादु वातजननं च पावनम्।
वह्निदीपनकरं च रोचनं यामुनं जलमिदं बलप्रदम्।।
(रा.नि. १४.१९) (रथोद्धता छन्द)

यमुना का जल पित्त व दाह को शान्त करने वाला, थकान मिटाने वाला, स्वादु, वातजनक व पवित्र होता है। यह जठराग्निवर्धक, रोचन व बलप्रद होता है।

कौपं पयो यदि स्वादु त्रिदोषघ्नं हितं लघु।
तत् क्षारं कफवातघ्नं दीपनं पित्तकृत्परम्।। (भा.प्र.नि.१३.४८)

कौप (कुँए का) जल– गोलाकार तथा कम चौड़ाई में भूमि में गहरा खोदकर बनाया हुआ जल का स्रोत कुआँ कहलाता है। यह ईंट आदि से चिना हुआ तथा बिना चिना हुआ, दो प्रकार का होता है। इसका जल कौप जल कहलाता है। कौप (कुँए का) जल यदि मधुर हो तो त्रिदोषनाशक, हितकारी व लघु होता है। यदि वह खारा हो तो कफवातनाशक, अग्नि-दीपन व परम पित्तकर होता है।

जलपान-विधि

नाम्बु पेयमशक्त्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः।।(अ.हृ.सू.५.१३)
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिः।
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः।।(अ.हृ.सू.५.१४)

शक्ति से अधिक जल नहीं पीना चाहिए। मन्दाग्नि, गुल्म, पाण्डु, उदररोग, अतिसार, अर्श, ग्रहणी, शोष और शोथ रोग से पीड़ित रोगी को अल्प जल पीना चाहिए। शरद् और ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में स्वस्थ मनुष्य को भी आवश्यकतानुसार थोड़ा-थोड़ा जल पीते रहना चाहिए, एक साथ अधिक नहीं।

भोजन-काल में जल पीने का प्रभाव

समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः।

भोजन के मध्य में जल पीने वाला सम (न कृश, न स्थूल) शरीर वाला होता है। भोजन के अन्त में जल पीना वाला स्थूल (मोटा) और आरम्भ में जल पीने वाला कृश (पतले शरीर वाला) होता है।

शीतोदक के गुण

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।। (अ.हृ.सू. ५.१५)
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषाण्यम्बु नियच्छति।

मदात्यय, ग्लानि, मूर्च्छा, वमन, श्रम, भ्रम, तृष्णा, उष्णता, दाह, रक्तपित्त और विषविकार में शीतल जल हितकर होता है।

उष्णोदक के गुण

दीपनं पाचनं कण्ठ्यं लघूष्णं वस्तिशोधनम्।। (अ.हृ.सू. ५.१६)
हिध्माध्मानानिलश्लेष्मसद्यःशुद्धिनवज्वरे।
कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षु च शस्यते।। (अ.हृ.सू. ५.१७)

उष्ण जल दीपन, पाचन, लघु और बस्तिशोधक होता है। यह कण्ठरोग, हिक्का, आध्मान, वातरोग, कफरोग, सद्यःशुद्धि (तत्काल किये वमन-विरेचन), नवज्वर, कास, आमाजीर्ण, पीनस, श्वास और पार्श्वशूल में हितकर होता है।

शृतशीत जल के गुण

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं क्वथितशीतलम्।
पित्तयुक्ते हितं दोषे, व्युषितं तत्त्रिदोषकृत्।। (अ.हृ.सू. ५.१८)

क्वथितशीत जल (उबालकर ठण्डा किया हुआ जल) लघु और अनभिष्यन्दी होता है अर्थात् श्लेष्मादि को न बढ़ाने वाला तथा स्रोतों को शुद्ध करने वाला होता है। यह पित्तविकारों में हितकर होता है और उबालकर सुबह से शाम तक अथवा रात्रि से प्रातः तक रखा हुआ बासी जल त्रिदोषकारक होता है।

वर्षा-ऋतु में पथ्यापथ्य जल

वर्षासु दिव्यनादेये परं तोये वरावरे।

वर्षा ऋतु में आन्तरिक्ष जल अत्यन्त पथ्य और नदी-जल अत्यन्त अपथ्य होता है।

अग्राह्यमुदकं सर्वमेभिर्दोषैस्समन्वितम्।
गोहस्त्यश्वादिविण्मूत्रशवमूषिकदूषितम्।। (भो.कु.)

वर्जित जल– गाय, हाथी, घोड़ा आदि के मल-मूत्र द्वारा तथा शव व मूषक (चूहा) आदि से दूषित जल ग्रहण करने योग्य नहीं होता है।

उष:पान के गुण

कासश्वासातिसारज्वरकिटिभकटीकुष्ठकोठप्रमेहा:
मूत्राघातोदरार्शःश्वयथुगलशिर:कर्णशङ्खाक्षिरोगा:।
ये चान्ये वातपित्तश्रमजकफभवा व्याधय: सन्ति केचित्
तांस्तानभ्यासयोगादपहरति पय: पीतमन्ते निशाया:।।

(आ.म. १.१५) (स्रग्धरा छन्द)

उष:पान के गुण– उषाकाल में जल पीने से खांसी, दमा, अतिसार, ज्वर, किटिभ (कुष्ठभेद), कटिरोग, कुष्ठ, कोठ, प्रमेह, मूत्राघात, उदरविकार, बवासीर, श्वयथु (सूजन), रोग नष्ट होते हैं तथा कण्ठ, शिर, कर्ण, शंख व नेत्र के रोग नष्ट हो जाते हैं। जो अन्य वात-पित्त-कफ व श्रम से होने वाले रोग हैं, वे भी इसके अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं।

अम्भस: प्रसृतान्यष्टौ रवावनुदिते पिबेत्।
वातपित्तकफाञ्जित्वा जीवेद्वर्षशतं दृढ:।। (भो.कु.)

सूर्योदय से पूर्व आठ प्रसृति (सोलह पल) पानी पीने से वात, पित्त व कफ के विकारों को जीतकर मनुष्य सौ वर्ष सुख से जीवित रहता है।

नासापान के गुण

विगतघननिशान्ते प्रातरुत्थाय नित्यं
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।

स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः।।
(आ.म. १.४७) (मालिनी छन्द)

घनी रात के बीत जाने पर प्रातः उठ कर जो मनुष्य नासिका से पानी पीता है, वह बुद्धिसम्पन्न, नेत्रों से गरुड़ के समान तीव्र दृष्टि वाला, वलि (झुर्रियों) व पलित (केशों की श्वेतिमा) से रहित व सर्वरोगमुक्त हो जाता है।

व्यङ्गवलीपलितघ्नं पीनसवैस्वर्यहारि तिमिरघ्नम्।
रजनीक्षयेऽम्बु पीतं रसायनं दृष्टिजननं च।। (भो.कु.)

प्रातःकाल में पिया हुआ पानी मुख पर पड़ी झाईं, झुर्रियों व बालों के श्वेतपन, जुकाम, स्वर की विकृति तथा रतौन्धी को दूर करता है। यह रसायन होता है तथा नेत्रज्योति को बढ़ाता है।

जल से रोगोपचार

अजीर्णे चौषधं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि रात्रौ वारि विषोपमम्।। (आ.म. १.७०)

अजीर्ण होने पर (भोजन न पचने पर) पानी औषध का काम करता है। भोजन के जीर्ण होने पर यह बलदायक होता है। भोजन के बीच में पानी पीना अमृत के समान एवं रात को विष के समान होता है।

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातदोषे नवज्वरे।
हिक्काध्मानादिदोषेषु शीताम्बु परिवर्जयेत्।। (रा.नि. १४.५७)

पार्श्वशूल (बगल का दर्द), जुकाम, वातरोग, नवीन ज्वर, हिचकी व आध्मान आदि दोषों में शीतल जल नहीं पीना चाहिए।

धातुक्षये रक्तविकारदोषे वान्त्यां प्रमेहे विषविड्ग्रहेषु।
जीर्णज्वरे शैथिलसन्निपाते जलं प्रशस्तं शृतशीतलं तत्।।

(रा.नि. १४.३५८)

धातुक्षय, रक्तविकार, वमन, प्रमेह, विष, कब्ज, जीर्णज्वर तथा शैथिलसन्निपात, इन रोगों में उबालकर शीतल किया हुआ जल पीना उत्तम माना जाता है।

तप्तं पाथः पादभागेन हीनं पथ्यं प्रोक्तं वातजातामयघ्नम्।
अर्धांशोनं नाशयेद्वातपित्तं पादप्रायं तत्तु दोषत्रयघ्नम्।।

(रा.नि. १४.५९)

उबालने से जिसका चतुर्थांश कम हो गया हो, ऐसा जल हितकारी माना जाता है। यह वातजन्य रोगों का नाश करता है। उबालने पर आधा बचा जल वात-पित्त को नष्ट करता है तथा उबालने पर एक चौथाई शेष जल वात, पित्त, कफ, इन तीनों दोषों को दूर करता है।

तप्तं दिवा जाड्यमुपैति नक्तं नक्तं च तप्तं च दिवापि वारि।
दिवा च नक्तं च नृभिस्तदात्वे युक्तं जलं तप्तमतो ग्रहीतुम्।।

(रा.नि. १४.६२)

दिन में गर्म करके रखा हुआ पानी रात होने तक शीतल हो जाता है, रात को गर्म करके रखा हुआ पानी प्रातः पर्यन्त शीतल हो जाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि दिन व रात में जब आवश्यकता हो तभी गर्म किया हुआ पानी प्रयोग में लाएं। गर्म करके दिन भर या रात भर रखा हुआ नहीं।

अपनयति पवनदोषं दलयति कफमाशु नाशयत्यरुचिम्।
पाचयति चान्नमनलं पुष्णाति निशीथपीतमुष्णाम्भः।।

(रा.नि. १४.६४) (आर्या छन्द)

रात को पिया उष्ण जल वातदोष को दूर करता है, कफ व अरुचि को नष्ट करता है, अन्न का पाचन करता है तथा जठराग्नि को बढ़ाता है।

पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे। अजीर्णे इति शेषः।

(अ.हृ.सू. ६.२८)

अन्य प्रदेश (स्थान) का जल पीने पर जब तक वह जीर्ण न हो जाए, तब तक अन्य जल नहीं पीना चाहिए।

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नमनम्बुपानाच्च स एव दोषः।

(आ.म. १.७१)

तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय पुनः पुनर्वारि पिबेदभूरि।।

(रा.नि. १४.६६)

बहुत पानी पीने से भोजन नहीं पचता है तथा पानी न पीने से भी वही दोष होता है। अत: जठराग्नि को बढ़ाने के लिए बार-बार थोड़ा-थोड़ा पानी पीना चाहिए।

शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः
कालत्रयेऽपि नयनद्वितयं जलेन।
आसिञ्चति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि-
रोगव्यथाविधुरतां भजते मनुष्यः।।

(आ.म. १.४८) (वसन्ततिलका छन्द)

जो व्यक्ति प्रतिदिन तीन समय (प्रात:, मध्याह्न व सायम्) शीतल जल से मुख भर कर आँखों पर जल से आसेचन करता है, छींटे देता है, वह कभी भी नेत्ररोगों से पीड़ित नहीं होता है।

जल के सर्वथा निषेध का प्रतिषेध

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेतद्धि तन्मयम्।
अतोऽत्यन्तनिषेधेऽपि न क्वचिद् वारि वार्यते।। (आ.म. १.६७)

जल प्राणियों का प्राण (जीवन) होता है। सम्पूर्ण जगत् जल के ऊपर ही निर्भर है। अत: शास्त्र में किसी प्रसंग में जल का अत्यन्त निषेध होने पर भी पूर्णरूप से निषेध नहीं समझना चाहिए।

तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान् विमुञ्चति।
तस्मात् स्वल्पं च दातव्यं न क्वचिद्वारि वार्यते।। (आ.म. १.६६)

जल का पूर्ण निषेध इसलिए नहीं है कि प्यासा व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है तथा मूर्च्छित व्यक्ति प्राण त्याग देता है। इसलिए जहाँ कहीं जल का निषेध है, वहां भी थोड़ा जल देना चाहिए क्योंकि पूर्ण रूप से जल का निषेध नहीं होता है।

क्वचिदुष्णं क्वचिच्छीतं क्वचित् क्वथितशीतलम्।
क्वचिद्भेषजसंयुक्तं न क्वचिद् वारि वार्यते।। (आ.म. १.६५)

कहीं उष्ण, कहीं शीतल, कहीं गर्म करके शीतल किया हुआ तथा कहीं औषध मिश्रित जल दिया जाता है। जल का सर्वथा निषेध कहीं नहीं किया जाता है।

पूरयेद् भागयुगलं कुक्षेरन्नेन सुस्थितः।
जलेनैकं चतुर्थं च वायुसञ्चरणाय वै।। (आ.म. १.७९)

स्वस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह पेट के दो भाग अन्न से तथा एक भाग जल से भरे, चौथे भाग को वायुसंचार के लिए खाली रखे।

नारियल-पानी के गुण

नारिकेरोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु।

तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं वस्तिशोधनम्।।
श्रमघ्नं बृंहणं बल्यं सूतिकानां हितं परम्। (अ.हृ.सू. ५.१९)

नारियल का पानी स्निग्ध, स्वादु, वृष्य, शीतल व लघु होता है। यह तृष्णा, पित्त व वात को नष्ट करने वाला, दीपन तथा वस्तिशोधक होता है। यह थकान दूर वाला, बृंहण व बल्य होता है तथा सूतिकाओं (नवप्रसूता नारियों) के लिए परम हितकर माना जाता है।

अथ पुराणस्य–

नारिकेलस्य यत्तोयं पुराणं पित्तवर्धनम्। (भो.कु.)

पुराने नारियल पानी के गुण– पुराने नारियल का जल पित्तवर्धक होता है।

अथ नवस्य–

तस्यैव तरुणं तोयं पित्तघ्नं कृमिनाशनम्।। (भो.कु.)

नए नारियल पानी के गुण– नए नारियल का जल पित्तनाशक व कृमिनाशक होता है।

अथ बालस्य–

बालस्य नारिकेलस्य कटु पाके हिमं जलम्।
ईषत्कषायमधुरं पक्वस्योष्णं सरं गुरु।। (भो.कु.)
स्निग्धादयो गुणास्त्वन्ये समाः स्युर्बालपक्वयोः।

कच्चे नारियल के पानी के गुण– कच्चे नारियल का जल पाक में कटु तथा शीतल होता है। यह थोड़ा कषायमधुर होता है। पके हुए नारियल का जल उष्ण, सर व गुरु होता है। अन्य स्निग्धता आदि गुण तो कच्चे व पके नारियल के जल में एक जैसे ही होते हैं।

नारिकेलसलिलं लघु बाल्ये शीतलं च मधुरं दरपाके।
पित्तपीनसतृषास्त्रविदाहश्रान्तिशोषशमनं सुखदायि।। (भो.कु.)
पक्वमेतदपि किञ्चिदिहोक्तं पित्तकारि रुचिदं मधुरं च।
दीपनं बलकरं गुरु वृष्यं वीर्यवर्धनमिदं तु वदन्ति।।

(भो.कु.) (स्वागता छन्द)

अन्यत्र नारियल पानी के गुण इस प्रकार बताए हैं– कच्चे नारियल का दरपाक (थोड़ी परिपक्व अवस्था) होने पर जो पानी होता है, वह लघु, शीतल व मधुर होता है। ऐसा जल पित्त, जुकाम, तृषा, रक्तविकार, विदाह, थकान व शोष का शमन करने वाला तथा सुखदायक होता है। पके नारियल का पानी कुछ पित्तकारक, रुचिप्रद व मधुर होता है। यह दीपन, बलकर, गुरु, वृष्य तथा वीर्यवर्धक कहा गया है।

नारिकेलाम्बु भुक्तेः प्राग् गुल्माग्निसदनादिहृत्।
अतः परं न पेयं स्यात् सेन्दु तच्छीतलं हितम्।। (भो.कु.)

नारियल पानी का सेवनकाल–भोजन के पहले नारियल पानी का सेवन गुल्म व मन्दाग्नि को नष्ट करता है। इसे भोजन के पश्चात् नहीं पीना चाहिए, कर्पूर के साथ यह शीतल व हितकर होता है।

दुग्ध-वर्ग

दूध के भेद

गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम्।
ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं मतम्।।

दूध के कुल आठ भेद होते हैं- गाय, भैंस, बकरी, ऊँटनी, स्त्री, भेड़, हथिनी और एक खुर वाले पशुओं (अर्थात् गधी, घोड़ी आदि) का दूध।

दूध के गुण

स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्।। (अ.हृ.सू. ५.२०)
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्।

प्रायः पयः-

प्रायः सभी प्रकार के दूध रस एवं विपाक में मधुर, स्निग्ध, ओजोवर्धक, धातुवर्धक, वात-पित्तहर, वृष्य, कफकारक, गुरु और शीतल होते हैं।

गाय के दूध का गुण

-अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्।। (अ.हृ.सू. ५.२१)
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम्।
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः।। (अ.हृ.सू. ५.२२)
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्।

गाय का दूध जीवनीय (आयु-वर्धक), रसायन, उर:क्षत और क्षीण धातु वाले रोगी के लिए हितकर, मेध्य (बुद्धिवर्धक), बलवर्धक, स्तन्यवर्धक और सर (रेचन/दस्तावर) होता है। यह श्रम, भ्रम, मद, कान्तिहीनता, श्वास, कास, तृष्णा, क्षुधा, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्र और रक्तपित्त का नाशक होता है।

भैंस के दूध का गुण

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम्।। (अ.हृ.सू. ५.२३)

भैंस का दूध अत्यग्नि (तीक्ष्णाग्नि) और अनिद्रा में पथ्य होता है अर्थात् अत्यग्नि/भस्मक रोगनाशक एवं निद्राकर होता है। भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा गुरु (पचने में भारी) और शीतवीर्य होता है।

बकरी के दूध का गुण

अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु।
आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित्।। (अ.हृ.सू. ५.२४)

थोड़ा जल पीने, व्यायाम करने (कूदने-फाँदने आदि) और कटु-तिक्त रस वाले आहार का सेवन करने के कारण बकरी का दूध लघु (पचने में हल्का) होता है। बकरी का दूध शोष (राजयक्ष्मा), ज्वर, श्वास, रक्तपित्त और अतिसार का नाशक होता है।

स्त्री के दूध का गुण

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित्।
तर्पणाश्चोतनैर्नस्यैः-

स्त्री का दूध तर्पण (नेत्रों में भरना), आश्चोतन (नेत्रों में टपकाना) और नस्य द्वारा प्रयोग करने से वातज, पित्तज, रक्तज एवं अभिघातज नेत्र रोगों को नष्ट करता है।

अपक्व, पक्व एवं धारोष्ण दूध का गुण

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं, युक्त्या शृतमतोऽन्यथा।।(अ.हृ.सू. ५.२८)
भवेद् गरीयोऽतिशृतं, धारोष्णममृतोपमम्।

अपक्व (कच्चा) दूध अभिष्यन्दी (अर्थात् कफकारक/स्रोतोरोधक) और गुरु (पचने में भारी) होता है, जबकि युक्तिपूर्वक गर्म किया गया दूध (आधा दूध और आधा पानी मिलाकर केवल दूध शेष रह जाने तक उबाला गया दूध) अनभिष्यन्दी (कफनाशक/स्रोतोविशोधक) और लघु (पचने में हल्का) होता है। अधिक उबाला गया दूध अतिगुरु (पचने में अत्यधिक भारी) होता है और धारोष्ण (तुरन्त का दुहा हुआ) दूध अमृत के समान गुणकारी होता है।

दुग्ध सेवन-विधि

चतुर्थभागं सलिलं निधाययत्नाद्यदावर्तितमुत्तमं तत्।
सर्वामयघ्नं बलपुष्टिकारि वीर्यप्रदं क्षीरमतिप्रशस्तम्।।
(रा.नि. १५,२६) (इन्द्रवज्रा)

दूध को पकाने की विधि- दूध में चतुर्थांश पानी डालकर यत्नपूर्वक उबालें। यह दूध सभी रोगों को नष्ट करने वाला, बलकारक, पुष्टिकारक, वीर्यप्रद व अति प्रशस्त होता है।

क्षीरे समांशं पानीयं प्रक्षिप्य विपचेद् बुधः।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः।। (भो.कु.)

अन्य विद्वान् तो इस विषय में ऐसा कहते हैं– दूध में समान भाग पानी मिलाकर दूध भर शेष बचने तक पकाएं। यह क्षीरपाक अर्थात् दूध के पकाने की विधि है।

वृष्यं बृंहणमग्निवर्धनकरं पूर्वाह्णपीतं पयो
मध्याह्ने बलदायकं रतिकरं कृच्छ्रस्य विच्छेदकम्।
बाल्ये वह्निकरं ततो बलकरं वीर्यप्रदं वार्धके
रात्रौ क्षीरमनेकदोषशमनं सेव्यं ततस्सर्वदा।।

(रा.नि. १५,२३) (स्रग्धरा)

पूर्वाह्ण में पिया दूध वृष्य, बृंहण तथा जठराग्नि-वर्धक होता है। मध्याह्न में पिया दूध बलवर्धक, रतिकर तथा मूत्रकृच्छ्र का नाशक होता है। बाल्यावस्था में पिया दूध जठराग्नि-वर्धक, युवावस्था में पिया दूध बलवर्धक तथा वृद्धावस्था में पिया दूध वीर्यवर्धक होता है। रात्रि में दुग्धपान अनेक दोषों का शमन करता है अतः दुग्ध सदा सेवनीय है।

क्षीरं मुहूर्तत्रितयोषितं यदतप्तमेतद्विकृतिं प्रयाति।
वान्त्यादिदोषं कुरुते तदूर्ध्वं विषोपमं स्यादुषितं जनानाम्।।

(रा.नि. १५,२४) (उपजाति)

कच्चा दूध बिना उबाले तीन मुहूर्त (२ घण्टे २४ मिनट) तक रखने पर विकृत हो जाता है तथा वान्ति (वमन) आदि दोष उत्पन्न करता है। इससे अधिक काल तक रखने पर यह (बिना उबाला कच्चा दूध) विष के समान हो जाता है।

जीर्णज्वरे कफे क्षीणे क्षीरं स्यादमृतोपमम्।
तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम्।। (रा.नि. १५.२५)

जीर्णज्वर व कफ की क्षीणता में दूध अमृततुल्य कहा गया है। तरुण ताप (नए ज्वर में) पिया गया दूध मनुष्य को विष की तरह मार देता है। भाव यह है कि नए ज्वर में दूध नहीं पीना चाहिए।

पित्तघ्नं शृतशीतलं कफहरं पक्वं तदुष्णं भवे-
च्छीतं तत्तु न पाचितं तदखिलं विष्टम्भि दोषप्रदम्।
धारोष्णं त्वमृतं पयः श्रमहरं निद्राकरं कान्तिदं
वृष्यं बृंहणमग्निवर्धनमतिस्वादु त्रिदोषापहम्।।(रा.नि.१५,२८)

उबालकर शीतल किया दूध पित्तनाशक होता है व उबालने पर उष्ण अवस्था में पिया दूध कफनाशक होता है। कच्चा अर्थात् बिना पकाया शीतल दूध विष्टम्भी व त्रिदोष-वर्धक होता है। धारोष्ण दूध अमृत कहा गया है। यह श्रमहर, निद्राकारक, कान्तिप्रद, वृष्य, बृंहण, जठराग्नि-वर्धक, अतिस्वादु व त्रिदोष-नाशक होता है।

क्षीरं न भुञ्जीत कदाप्यतप्तं भुञ्जीत चेन्नो लवणेन सार्धम्।
पिष्टेन सन्धान-कषाय-मुद्ग-कोशातकीकन्दफलादिकैश्च।।

(रा.नि. १५,२९) (इन्द्रवज्रा)

दूध को बिना उबाले कभी नहीं पीना चाहिए। इसी प्रकार दूध को कभी भी नमक के साथ नहीं लेना चाहिए। पिष्ट (आटे से बने पदार्थ), अचार, कषाय (कसैले रस वाले भोज्य पदार्थ), मूंग, तोरी, कन्द व फलों के साथ भी दूध का सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इन सब के साथ दूध का मेल दोषकारक है।

द्रव्यान्तराविरोधित्वात् सरत्वाच्चानुपानतः।
क्षीरं भक्तोत्तरं पथ्यं दीपनं मलशोधनम्।। (भो.कु.)

भोजन के अन्य द्रव्यों के साथ विरोध न होने के कारण, सर व अनुपानरूप होने के कारण भक्त (भोजन) के उपरान्त दूध पथ्य होता है एवं दीपन व मलशोधक होता है।

क्षीरं साक्षाज्जीवनं जन्मसात्म्यात्तद्धारोष्णं गव्यमायुष्यमुक्तम्।
प्रातस्सायं ग्राम्यधर्मावसाने भुक्तेः पश्चादात्मसात्म्यं करोति।।
(आ.म. ३.२)

दूध जन्म से ही (स्तन्यपायी) प्राणियों के लिए सात्म्य होता है अतः यह उनके लिए साक्षात् जीवन है अर्थात् जीवन का आधार है। गाय का धारोष्ण दूध दीर्घायुष्य-कारक कहा गया है। प्रातः व सायं इसका पान करना चाहिए। ग्राम्यधर्म (मैथुन) के अनन्तर भी दुग्धपान करना चाहिए। भोजन के पश्चात् भी दुग्धपान उपयोगी होता है। इससे वह भोजन को आत्मसात्म्य कर देता है, शरीर के अनुकूल बना देता है व उसके पाचन में सहायक होता है।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्तितम्।
तदेव च शृतं विद्याद् गुरु तर्पणबृंहणम् ।। (भो.कु.)
वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम्।
धारोष्णममृतं क्षीरं विपरीतमथोच्यते।। (भो.कु.)

कच्चा दूध प्रायः अभिष्यन्दी होता है। यही पकाने पर गुरु, तर्पण व बृंहण हो जाता है। उक्त नियम नारी के दूध पर लागू नहीं होता; क्योंकि यह तो कच्चा ही हितकर होता है। (गाय का) धारोष्ण दूध अमृत होता है।

धारोष्णममृतं पथ्यं धाराशीतं त्रिदोषजित्।
शृतशीतं त्रिदोषघ्नं शृतोष्णं कफवातजित्।। (भो.कु.)

धारोष्ण दूध अमृततुल्य व पथ्य होता है, धाराशीत दूध त्रिदोष को दूर करने वाला होता है। शृतशीत (उबालकर शीतल किया हुआ) दूध त्रिदोषनाशक होता है तथा शृतोष्ण (उबालकर उष्ण रूप में पिया हुआ) दूध कफवात-नाशक होता है।

मुहूर्तं पचनादूर्ध्वं क्षीरं भजति विक्रियाम्।
तदेव द्विगुणे काले विषवद्धन्ति मानवम्।। (भो.कु.)

पकाने (उबालने) के अनन्तर एक मुहूर्त (४८ मिनट) बीतने पर दूध विकृत होने लगता है, और इससे दोगुने समय अर्थात् एक घण्टा छत्तीस मिनट में तो यह विषवत् मारक हो जाता है। भाव यह कि दूध जितना गुणकारी है, उतना ही शीघ्र विकृत होने वाला द्रव्य है अत: इसे उबालने के अनन्तर शीघ्र ही उपयोग में ले लेना चाहिए। यदि सुबह का दूध शाम तक रखना हो तो गाँव में प्रचलित विधि अपनानी चाहिए। वहाँ इसे मिट्टी के पात्र में कण्डों की मन्द अग्नि पर रख दिया जाता है। सायंकाल तक इस पर अच्छी मलाई आ जाती है और विकृति भी नहीं होती।

येषां न सात्म्यं क्षीरेण पीतं चाध्मानकारकम्।
तेषामर्धजले दत्त्वा नागरं पिप्पलीयुतम्।। (भो.कु.)
आवर्तयेत् क्षीरशेषं तत् पीत्वा सुखमेधते।

जिन्हें दूध सात्म्य (अपनी प्रकृति के अनुकूल) न हो तथा पीने पर अफारा करता हो, उन्हें चाहिए कि आधा भाग जल मिलाकर नागर (सोंठ) व पिप्पली के साथ दूध को तब तक उबालें जब तक दूध भर शेष रह जाए। इस दूध के पान से उन्हें पूर्वोक्त कष्ट नहीं होता तथा दूध सुखपूर्वक पच जाता है।

स्निग्धत्वाद् गौरवाज्जाड्यात् त्रिकालं न पिबेत् पयः।। (भो.कु.)
समाग्निरपि किञ्चान्यो मन्दाग्निर्विषमोऽपि वा।
तीक्ष्णाग्निना तु पातव्यं द्विकालमपि माहिषम्।। (भो.कु.)
तस्य धातून् पचेदग्निर्यदा तेन न सिञ्चति।

दूध में स्निग्धता, गुरुता व शीतलता होती है अत: इसे तीनों समय नहीं पीना चाहिए; क्योंकि तीनों समय पीने से यह अग्नि को मन्द कर देता

है। समाग्नि (मध्यम जठराग्नि वाले) तथा मन्दाग्नि एवं विषमाग्नि (कभी तीव्र व कभी मन्द जठराग्नि वाले) व्यक्ति को भी तीनों समय दूध नहीं पीना चाहिए; किन्तु जो तीव्र जठराग्नि वाला व्यक्ति है वह तो प्रात: व सायम् दोनों समय भैंस का दूध भी पी सकता है; क्योंकि तीव्र अग्नि को यदि वह दूध से नहीं सींचेगा तो अग्नि उसकी रक्त आदि धातुओं को ही पचाने लगेगी।

सहकारफलं चैव गोस्तनी माक्षिकं घृतम्।
नवनीतं शृङ्गवेरं पिप्पली मरिचानि च।। (भो.कु.)
सिता पृथुकसिन्धूत्थपटोला नागराभया।
क्षीरेण सह शस्यन्ते वर्गेषु मधुरादिषु।। (भो.कु.)

दूध के संयोगी पदार्थ– आम का फल, गोस्तनी (मुनक्का), मधु, घृत, मक्खन, अदरक, पिप्पली, काली मिर्च, शर्करा, पृथुक (चिउड़ा), सेन्धा नमक, पटोल(परवल),नागर (सोंठ) व हरड़, मधुरादि वर्गों के ये सब पदार्थ दूध के साथ प्रशस्त माने जाते हैं।

विशेष- शास्त्र के अन्य प्रसंगों को देखने से पता चलता है कि नमक व दूध विप्रतिषिद्ध ही हैं किन्तु यहां ग्रन्थकार ने सेंधा नमक को अविरूद्ध बता दिया है। इसका तात्पर्य यही समझना होगा कि दूध और नमक का मधुर रस के समान विधान नहीं है कदाचित् सैंधव युक्त परवलादि का सेवन कर लेने पर दूध पिया जा सकता है।

अम्लेष्वामलकं पथ्यं शर्करा मधुरेषु च।
पटोल: शाकवर्गेषु कटुकेष्वार्द्रकं भवेत्।।
कषायेषु यवाश्चैव लवणेषु च सैन्धवम्।। (कै.नि. ४.६६-६७)

अम्ल पदार्थों में दूध के साथ केवल आँवला ही पथ्य है, मधुर पदार्थों में शक्कर पथ्य है। शाकवर्ग में पटोल (परवल) पथ्य है तथा कटुक

(चरपरे) पदार्थों में अदरक पथ्य है। कषाय रस वाले पदार्थों में दूध के साथ यव (जौ) पथ्य हैं। लवणों में सैन्धव लवण दूध के साथ पथ्य है अर्थात् सैन्धव लवण से युक्त भोजन के उपरान्त दूध पीना विरुद्ध नहीं है।

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः।
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः।। (अ.हृ.सू. ५.४१)

किलाट (फटे दूध का घना भाग), पीयूष (खीस), कूर्चिका, मोरण(फटे दूध का पानी) आदि बल-शुक्रवर्धक, निद्राकारक, कफकारक, गुरु और त्रिदोषकारक होते हैं।

श्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ दुग्ध एवं घृत

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे।

गाय का दूध एवं घृत श्रेष्ठ होता है तथा भेड़ का दूध एवं घृत निन्दित होता है।

सन्तानिका के गुण

गुरुः सन्तानिका शीता वृष्या पित्तास्रवातनुत्।
तर्पणी बृंहणी स्निग्धा बलास-बलशुक्रदा।। (भा.प्र.नि.१४.३५)

सन्तानिका (मलाई)– मलाई गुरु, शीतल व वृष्य होती है, यह पित्तरक्त व वात को दूर करती है तथा तर्पणी, बृंहणी व स्निग्ध होती है। यह कफ, बल व शुक्र को बढ़ाती है।

दीपनी तर्पणी वृष्या गुर्विणी प्राणलम्बिनी।
स्वादुपाकरसा स्निग्धा रुच्या सन्तानिका मता।। (भो.कु.)

दूसरे ग्रन्थ में मलाई के विषय में कहा है– मलाई दीपन, तर्पण, वृष्य, गुरु व प्राणलम्बिनी (जीवन को लम्बा करने वाली) होती है। यह विपाक व रस में मधुर तथा स्निग्ध एवं रुचिकर होती है।

दधि-वर्ग

दधि का गुण

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित्।। (अ.हृ.सू. ५.२९)

दही विपाक एवं रस में अम्ल, ग्राही (मल को बाँधने वाला), गुरु, उष्णवीर्य और वातहर होता है।

दधि-सेवन का निषेध

नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न।। (अ.हृ.सू. ५.३१)
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्।
न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा।। (अ.हृ.सू. ५.३२)
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम्।

गर्म किया हुआ और ठीक से न जमा हुआ दही नहीं खाना चाहिए, रात्रि के समय दही खाना निषिद्ध है। वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में दही नहीं खाना चाहिए, किन्तु हेमन्त, शिशिर एवं वर्षा ऋतु में दही का सेवन उत्तम होता है। मूँग के सूप (दाल), मधु, घृत, मिश्री और आँवला चूर्ण को मिलाये बिना दही नहीं खाना चाहिए अन्यथा ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु और भ्रम रोग उत्पन्न होते हैं।

तथा चोक्तम्-

न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्।
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।। (च.सू. ७.६१)
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान्।
प्राप्नुयात्कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः।। (च.सू. ७.६२)

रात्रि में दही का सेवन नहीं करना चाहिए। बिना घृत या शक्कर के, बिना मूँग दाल के, बिना शहद के, बिना आँवले के दही का सेवन नहीं करना चाहिए अर्थात् उक्त द्रव्यों के साथ मिलाकर दधिसेवन हितकर होता है। दही को उष्ण

करके खाना निषिद्ध है। यदि दधिप्रिय व्यक्ति उपर्युक्त विधि का उल्लङ्घन कर दही का सेवन करता है तो वह ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प (त्वक् रोग), कुष्ठ, पाण्डुरोग, भ्रम और उग्र कामला आदि रोगों से ग्रस्त हो जाता है। **'नाश्नीयाद्दधि नक्तमुष्णं वा न घृतमधुशर्करामुद्गा- मलकैर्विना वा' इति जतुकर्णः।'**

दधि के प्रकार एवं प्रयोग-विधि

स्वाद्वम्लं सान्द्रमधुरं कषायानुरसं भवेत्।
स्वाद्वम्लस्य गुणा ज्ञेयाः सामान्यदधिवज्जनैः।। (भा.प्र.नि. १५.७)

'स्वाद्वम्ल' (खट्टा-मीठा) दही सान्द्रता गुण युक्त, घना (गाढ़ा), मधुर व कषायानुरस होता है। स्वाद्वम्ल दधि के शेष गुण सामान्य दधि के समान जानने चाहिएं।

तदत्यम्लं दन्तरोमहर्षकण्ठादिदाहकृत्।
अत्यम्लं दीपनं रक्तपित्तदुष्टिकरं परम्।। (भा.प्र.नि. १५.९)

'अत्यम्ल दधि' दन्तहर्ष (दाँत खट्टे) करने वाला व रोमहर्ष (रोंगटे खड़े) करने वाला तथा कण्ठ आदि में दाहकारक होता है। यह दीपन व रक्तपित्तदोष को बहुत अधिक बढ़ाने वाला होता है।

तत्रापि चातिशीतं च दीपनं बलवर्धनम्।
वातघ्नं मधुरं रूक्षं दधि गव्यं मनोहरम्।। (भो.कु.)
अरोचके पीनसमूत्रकृच्छ्रे शीतज्वरे तद्विषमज्वरे च।
दुर्नामरोगग्रहणीगदे च गव्यं प्रशस्तं दधि सर्वदैव।।
(भो.कु.) (उपेन्द्रवज्रा छन्द)

गोदधि के गुण– गाय का दधि अति शीतल, दीपन व बलवर्धक होता है। यह वातनाशक, मधुर, रूक्ष व मनोहर होता है। अरोचक, जुकाम, मूत्रकृच्छ्र, शीतज्वर, विषमज्वर, बवासीर व ग्रहणीरोग में गाय का दही सदा प्रशस्त माना जाता है।

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु निन्दितं दधि दोषकृत्।
हेमन्ते शिशिरे तच्च वर्षाकाले बलप्रदम्।। (भो.कु.)

ऋतु विशेष में दधिसामान्य के गुण– शरद्, ग्रीष्म व वसन्त में दही निन्दित माना गया है क्योंकि उक्त ऋतुओं में यह दोषकारक होता है। हेमन्त, शिशिर तथा वर्षा काल में दही बलप्रद होता है।

आग्नेयमेव सर्वेषां गव्यं दधि गुणोत्तरम्।

सब प्रकार के दही में गाय का दही आग्नेय (अग्निगुण-प्रधान) व अधिक गुणकारी माना गया है।

वातघ्नं कफकृत्सर्वं बृंहणं च विपक्तिहृत्।
कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि, मस्तूपरि स्थितम्।। (भो.कु.)

अन्य सब दही वातनाशक, कफकारक, बृंहण व विपक्तिहृत् होते हैं। ये सब भक्ताभिलाष (भोजन में रुचि) पैदा करने वाले होते हैं। दही के ऊपर आने वाला पानी 'मस्तु' कहलाता है।

सशर्करं दधि श्रेष्ठं तृष्णापित्तास्रवातनुत्।
सगुडं वातनुद् वृष्यं बृंहणं तर्पणं गुरु।। (भो.कु.)

शक्कर युक्त दही श्रेष्ठ माना जाता है। यह तृष्णा, पित्तास्र (पित्तरक्त) व वात का नाशक होता है। गुड़ के साथ सेवित दही वातनाशक, वृष्य, बृंहण, तर्पण व गुरु होता है।

ग्रहण्यां पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च विषमज्वरे।
अरोचके च मन्दाग्नौ शस्यते दधि सर्वदा।। (भो.कु.)

दधि के विषय में कुछ अन्य ज्ञातव्य– ग्रहणी, जुकाम, मूत्रकृच्छ्र, विषमज्वर तथा अरुचि व मन्दाग्नि में दही सदा हितकर होता है।

लवण-मरिच-सर्पि:शर्करामुद्गधात्री-
कुसुमरसविमिश्रं वा तदद्यात्तु नित्यम्।
न च शरदि वसन्ते नोष्णकाले न रात्रौ
न दधि कफविकारे पित्तरोगे तथाद्यात्।।

(रा.नि. १५.५१) (मालिनी छन्द)

सेन्धा नमक, काली मिर्च, घी, शक्कर, मूँग, आँवला, कुसुमरस (शहद), इनके साथ दही का मेल उत्तम होता है अत: इनमें से किसी के भी साथ दही खाना हितकर होता है। शरद् ऋतु (आश्विन, कार्त्तिक), वसन्त ऋतु (चैत्र, वैशाख) तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ) में दही नहीं खाना चाहिए। रात में तो कभी भी दही नहीं खाना चाहिए। कफविकार व पित्तरोग में भी दही खाना निषिद्ध है।

एलासैन्धवशर्करामरिचकैर्धात्रीगुडै: सर्पिषा
पथ्यं स्याद्वरमुद्गसूपसहितं संसेवनीयं दधि।
नैवोष्णं बहुपिच्छिलं च न शरद्ग्रीष्मे वसन्ते हितं
पित्तासृग्ज्वरकुष्ठदं भ्रमकरं वीसर्पदं चान्यथा।। (भो.कु.)

दही के विषय में और भी कुछ ऐसा ही कहा गया है– इलायची, सैन्धव (सेन्धा नमक), शक्कर, काली मिर्च, आँवला, गुड़ व घी, ये पदार्थ ऐसे हैं जिनके साथ दही खाना पथ्य होता है। उत्तम मूँग की दाल के साथ भी दही का सेवन हितकर होता है। उष्ण करके दही न खाएँ, बहुत पिच्छिल (चिपचिपा) दही भी नहीं खाना चाहिए। शरद्, ग्रीष्म व वसन्त में भी दही हितकारी नहीं होता है। यदि उपर्युक्त निर्देशों का उल्लङ्घन करके दधि-सेवन किया जाए तो यह पित्तास्र, ज्वर व कुष्ठ पैदा करने वाला तथा भ्रमजनक व वीसर्प-कारक हो जाता है।

दधि त्रिकटुविमिश्रं राजिकाचूर्णयुक्तं
कफहरमनिलघ्नं वह्निसन्धुक्षणं च।
तुहिनशिशिरकाले सेवनीयं च पथ्यं
भवति स दृढकायो रूपवान् सत्त्ववांश्च।।

(भो.कु.) (मालिनी छन्द)

त्रिकटु (सोंठ, पीपल व काली मिर्च के समभाग चूर्ण) से मिश्रित व राई के चूर्ण से युक्त दही कफ व वात को नष्ट करने वाला एवं जठराग्नि को बढ़ाने वाला होता है। हेमन्त (मार्गशीर्ष, पौष) व शिशिर (माघ, फाल्गुन) में इसका सेवन करना चाहिए, क्योंकि उक्त काल में यह पथ्य होता है। इसके सेवन से मनुष्य दृढकाय, रूपवान् व बलवान् हो जाता है।

तक्र-वर्ग

तक्र एवं दधि-मस्तु के गुण

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्।। (अ.हृ.सू. ५.३३)
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुची:।
प्लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयाञ्जयेत्।। (अ.हृ.सू. ५.३४)
तद्वन्मस्तु सरं स्रोत:शोधि विष्टम्भजिल्लघु।

तक्र (मट्ठा) लघु, कषाय एवं अम्ल रस वाला, अग्निदीपक और वात-कफहर होता है। यह शोफ, उदररोग, अर्श, ग्रहणीरोग, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, गुल्म, प्लीहारोग, घृतव्यापद् (घृत के अतिपान से उत्पन्न उपद्रव), गरविष (कृत्रिम विष) और पाण्डुरोग का नाशक होता है। दधिमस्तु (दही को वस्त्र में बाँधकर निचोड़ने से निकला हुआ द्रव भाग) का गुण तक्र के समान होता है, किन्तु यह सर (रेचन), स्रोत:शोधक, वातानुलोमक और लघु भी होता है।

तक्र (छाछ) के प्रकार एवं प्रयोग विधि

घोलं मथितमुदश्वित् तक्रं चैतच्चतुर्विधं कथितम्।। (आ.म. ६.१)

तक्र- सुषेण के अनुसार तक्र (छाछ) के चार भेद माने गए हैं- घोल, मथित, उदश्वित् व तक्र।

ससरं निर्जलं घोलं मथितं सरवर्जितम्।
पादोदकमुदस्वित्तत् तक्रमर्धजलं भवेत्।। (आ.म. ६.३)

जो सरसहित निर्जल हो वह 'घोल' कहलाता है। सररहित को 'मथित' कहते हैं तथा जिसमें चतुर्थ भाग जल हो वह 'उदश्वित्' एवं अर्ध भाग जल वाला 'तक्र' कहलाता है। भाव यह है कि सरसहित बिना जल डाले मथा हुआ मट्ठा 'घोल' कहलाता है। बिना सर के तथा बिना पानी डाले मथा हुआ मट्ठा 'मथित' नाम से जाना जाता है।

विशेष- दही के ऊपर तैरते हुए पानी को सर कहते हैं।

घोलं मारुतपित्तहारि मथितं श्वासापहं श्लेष्महृत्
पित्तश्लेष्मविनाश्युदश्विदधिकं तक्रं त्रिदोषापहम्।
मन्दाग्नावारुचौ तथैव नितरामन्येषु रोगेष्वपि
श्रेष्ठं तक्रमिदं वदन्ति मुनयस्तेनोत्तमं प्राणिनाम्।।

(आ.म. ६.७)

घोल वातपित्त को नष्ट करने वाला, मथित दमानाशक व कफनाशक होता है। उदश्वित् पित्तकफ को नष्ट करता है एवं तक्र इससे भी अधिक गुणों वाला व त्रिदोषनाशक होता है। मन्दाग्नि, अरुचि तथा अन्य उदररोगों में भी मुनियों ने तक्र को श्रेष्ठ कहा है अत: यह प्राणियों के लिए उत्तम माना जाता है।

यथा सुराणाममृतं प्रधानं तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः।।

(रा.नि. १५.५६)

अम्लेन वातं मधुरेण पित्तं कफं कषायेण निहन्ति सद्य:।
(कै.नि. ४.२३९)

जैसे देवताओं के लिए अमृत श्रेष्ठ पेय है, वैसे ही इस पृथ्वी पर मनुष्यों के लिए तक्र (छाछ) श्रेष्ठ पेय है। यह अम्ल होने से वात को, मधुर होने से पित्त को तथा कषाय होने से कफ को शीघ्र ही नष्ट करता है।

गव्यं तु दीपनं तक्रं मेध्यमर्शास्त्रिदोषजित्। (कै.नि. ४.२३४)

गाय की छाछ दीपन, मेध्य व त्रिदोषनाशक होती है।

माहिषं श्लेष्मलं तक्रं सान्द्रं शोफकरं गुरु।।
हन्ति गुल्ममतिसारप्लीहार्शोग्रहणीगदान्। (कै.नि. ४.२३५)

भैंस की छाछ सान्द्र गुण युक्त अर्थात् घनी (गाढ़ी), कफवर्धक, सूजन करने वाली और गुरु होती है। यह गुल्म, अतिसार, प्लीहा के विकार, ग्रहणी रोग व बवासीर को नष्ट करती है।

सुस्निग्धं छागलं तक्रं लघुदोषत्रयापहम्।।
गुल्मार्शोग्रहणीशोफपाण्ड्वामयविनाशनम्। (कै.नि. ४.२३६)

बकरी की छाछ सुस्निग्ध, लघु व त्रिदोषहर होती है। यह गुल्म, बवासीर, ग्रहणी, सूजन, पीलिया आदि रोगों का नाश करती है।

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम्।
कफे पिबेत्तथा तक्रं व्योषक्षारसमन्वितम्।। (कै.नि. ४.२४०)

वात की अधिकता में अम्ल तक्र सैन्धव लवण के साथ पीना चाहिए। पित्त की अधिकता में मधुर (खट्टेपन से रहित) तक्र शर्करा के साथ पीना चाहिए। कफ की अधिकता में तक्र को त्रिकटु व क्षार के साथ पीना चाहिए।

नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले।
न मूर्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके।। (आ.म. ६.१८)

चोट लगने पर छाछ न दें और न ही ग्रीष्मकाल में छाछ दें। दुर्बल को भी छाछ न दें। मूर्च्छा, भ्रम, दाह व रक्तपित्तरोग में भी छाछ नहीं देनी चाहिए।

आमातिसारे च विषूचिकायां वातज्वरे पाण्डुषु कामलायाम्।
प्रमेहगुल्मोदरवातशूले नित्यं पिबेत्तक्रमरोचके च।।

(रा.नि. १५.५७) (उपजाति छन्द)

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफे पाण्ड्वामयेषु च।
मार्गोपरोधे कुष्ठादिव्याधौ तक्रं प्रशस्यते।। (रा.नि. १५.५८)

आमातिसार में, विषूचिका (हैजा) में, वातज्वर में, पीलिया व कामला में, प्रमेह, गुल्म, उदररोग, वातशूल तथा अरुचि में नित्य तक्र पीना चाहिए। शीतकाल में, अग्निमान्द्य में, कफ में व पीलिया आदि रोगों में तथा मार्गोपरोध (रसवहा सिराओं व अन्य स्रोतों का अवरोध) होने पर एवं कुष्ठ आदि रोगों में तक्र बहुत प्रशस्त माना जाता है।

वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम्।
शर्करामरिचोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत्।। (रा.नि. १५.५९)

वातोदरी (वात की बहुलता से युक्त उदर वाला) व्यक्ति पिप्पली व नमक से युक्त तक्र पिए तथा पित्तोदरी व्यक्ति अम्लता रहित मधुर तक्र को शक्कर व काली मिर्च मिलाकर पिए। इससे इन दोनों के विकार शान्त हो जाते हैं।

तक्रं देयं न क्षते नोष्णकाले नो दौर्बल्ये नो तृषामूर्च्छिते च।
नैव भ्रान्तौ नैव पित्तास्रदोषे नो दद्यात्तत् सूतिकायां विशेषात्।।

(रा.नि. १५.६०) (शालिनी छन्द)

घाव होने पर, उष्णकाल में, दुर्बलता में और प्यास से मूर्च्छित होने पर तक्र न दें। चक्कर आने पर, पित्तरक्तदोष में तक्र नहीं देना चाहिए। प्रसूता स्त्री को तो कभी भी तक्र नहीं देना चाहिए, यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए।

नवनीत वर्ग

नवनीत (मक्खन) के गुण

नवनीतं नवं वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत्।। (अ.हृ.सू. ५.३५)

सङ्ग्राहि वातपित्तासृक्क्षयार्शोऽर्दितकासजित्।
क्षीरोद्भवं तु संग्राहि रक्तपित्ताक्षिरोगजित्।। (अ.हृ.सू. ५.३६)

ताजा नवनीत (दही से निकाला गया ताजा मक्खन) वृष्य, शीतवीर्य, बल, वर्ण एवं जठराग्निवर्धक और संग्राही (मल को बाँधने वाला) होता है। यह वातज, पित्तज एवं रक्तज रोगों को शान्त करता है। यह क्षय, अर्श, अर्दित एवं कास रोगों को भी नष्ट करता है। क्षीरोद्भव नवनीत (दूध से निकाला गया ताजा मक्खन) संग्राही, रक्तपित्तशामक और नेत्ररोगहर होता है।

नवनीत के प्रकार एवं प्रयोगविधि

शीतं वर्णबलावहं सुमधुरं वृष्यं च पित्तापहम्
वातघ्नं कफकारकं रुचिकरं सर्वाङ्गशूलापहम्।
कासघ्नं श्रमनाशनं स्वरकरं कान्तिप्रदं पुष्टिदं
चक्षुष्यं नवनीतमुद्धृतनवं गोस्सर्वदोषापहम्।। (रा.नि. १५.६३)

गाय का नवनीत (मक्खन) शीतल, वर्ण व बल को बढ़ाने वाला, सुमधुर, वृष्य, पित्तहर, वात-नाशक, कफ-कारक, रुचिकर एवं सभी अंगों की पीड़ा को दूर करने वाला होता है। यह खांसी को नष्ट करने वाला,

थकान को दूर करने वाला, स्वर (ध्वनि) को ठीक करने वाला, कान्तिप्रद, पुष्टिप्रद, नेत्रहितकारी तथा सभी दोषों को नष्ट करने वाला कहा गया है।

माहिषं नवनीतं तु कषायमधुरं रसे।
शीतं वृष्यं च बल्यं च ग्राहि पित्तघ्नमुत्तमम्।। (रा.नि. १५.६५)

भैंस का मक्खन कषाय-मधुर रस वाला होता है। यह शीतल, वृष्य, बल्य, ग्राही व उत्तम पित्तनाशक कहा गया है।

गव्यं वा माहिषं वापि नवनीतं नवोद्धवम्।
शस्यते बालवृद्धानां बलकृद् धातुवर्धनम्।। (भो.कु.)

गाय या भैंस का ताजा मक्खन बालक व वृद्ध के लिए प्रशस्त माना जाता है। यह बलकारक व धातु-वर्धक होता है।

घृत-वर्ग

घृत के गुण

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायु:शुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्।। (अ.हृ.सू. ५.३७)
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। (अ.हृ.सू. ५.३८)

घृत बुद्धि, स्मृति, मेधा (प्रज्ञा), जठराग्नि, बल, आयु और शुक्र को बढ़ाने वाला, नेत्रों के लिए हितकर, बालक एवं वृद्ध के लिए पथ्य, सन्तान, कान्ति एवं सुकुमारता (कोमलांगता) को देने वाला और स्वर को उत्तम बनाने वाला होता है। यह उर:क्षत, क्षीण, विसर्प, आघात और अग्निदग्ध से पीड़ित व्यक्तियों के लिए हितकर होता है। घृत वातज-पित्तज विकारों को और उन्माद, शोष (राजयक्ष्मा), अलक्ष्मी (अशोभा/कान्तिहीनता) तथा जीर्णज्वर को नष्ट करता है।

स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्।। (अ.हृ.सू. ५.३९)
मदापस्मारमूर्च्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान्।
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम्।। (अ.हृ.सू. ५.४०)

यह सभी स्नेहों में श्रेष्ठ, शीतवीर्य, वयःस्थापन और अनेक प्रकार की शक्तियों को देने वाला तथा अनेक प्रकार से प्रयोग करने पर अनेक कार्य करने वाला होता है। पुराना घृत मद, मूर्छा, अपस्मार, शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग और योनिरोग का नाशक तथा व्रणशोधक एवं व्रणरोपक होता है।

घृत के प्रकार एवं प्रयोगविधि

धीकान्तिस्मृतिदायकं बलकरं मेधाप्रदं पुष्टिकृद्
वातश्लेष्महरं श्रमोपशमनं पित्तापहं शुद्धिकृत्।
वह्नेर्वृद्धिकरं विपाकमधुरं वृष्यं वपुःस्थैर्यदं
गव्यं हव्यतमं घृतं बहुगुणं सद्यः समावर्तितम्।।
(रा.नि. १५.७७) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

गाय का घी बुद्धि, कान्ति व स्मृति का दाता, बलकारक, मेधाप्रद, पुष्टिकर, वातकफ को नष्ट करने वाला, थकान को दूर करने वाला तथा पित्तहर व शुद्धिकर होता है। यह जठराग्नि को बढ़ाने वाला, विपाक में मधुर, वृष्य, शरीर को स्थिर (दृढ़) करने वाला तथा होम करने के लिए उपयोगी होता है। ये गुण नवनीत को बिना बासी किए ही सद्यः (शीघ्र) तपाकर तैयार किए गये गोघृत के हैं। पद्य के चतुर्थ चरण के अन्तिम भाग- **'सद्यः समावर्तितम्'** के स्थान पर राजनिघण्टु में **'भोग्यं भवेद् भाग्यतः'** पाठ मिलता है। इसका भाव है कि गाय के घी के उपभोग का अवसर भाग्य से ही मिलता है। इस पद्य के द्वितीय चरण में घृत को कफहर भी बताया है। घृत मूलतः कफहर नहीं है परन्तु अदरक आदि से संस्कारित होने पर कफहर हो जाता है, जैसा कि कहा है- **'वातं जयेज्जयेत् पित्तं संस्कारेण**

जयेत् कफम्' अर्थात् घृत वातपित्त का निवारक होता है तथा संस्कार से कफहर भी बन जाता है। इसी भाव से यहाँ घृत को श्लेष्महर कहा प्रतीत होता है। यह श्लोक 'सुषेणनिघण्टु' में भी मिलता है, परन्तु वहाँ पाठ कुछ भिन्न है, उसमें श्लेष्महर विशेषण नहीं दिया है।

धीकान्तिस्मृतिकारकं बलकरं मेधाकरं बुद्धिकृत्
वातघ्नं श्रमनाशनं स्थितिकरं पित्तापहं पुष्टिदम्।
वह्नेर्वृद्धिकरं विपाकमधुरं वृष्यं च शीतं सदा
सेव्यं गव्यमिदं घृतं बहुगुणं सद्यः समावर्तितम्।। (भो.कु.)

यह पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है।

सर्पिर्माहिषमुत्तमं धृतिकरं सौख्यप्रदं कान्तिकृद्
वातश्लेष्मनिबर्हणं बलकरं वर्णप्रदानक्षमम्।
दुर्नामग्रहणीविकारशमनं मन्दानलोद्दीपनं
चक्षुष्यं नवगव्यतः परमिदं हृद्यं मनोहारि च।।

(रा.नि. १५.७८) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

भैंस का घी उत्तम, धैर्यकारक, सुखप्रद, कान्तिकर, वातकफहर, बलकारक व रंग निखारने वाला होता है। यह बवासीर व ग्रहणी-विकारों को शान्त करने वाला, मन्दाग्नि को दीप्त करने वाला एवं नेत्रहितकारी, होता है। यह गाय के ताजा घी की अपेक्षा अधिक चक्षुष्य (नेत्र-हितकारी), हृद्य व मनोहारी होता है।

आयुर्वृद्धिं वपुरपि दृढं सौकुमार्यं करोति
व्यायामस्त्रीनिधुवनकृतश्रान्तिविच्छेदनं च।
पथ्यं बाल्ये वयसि तरुणे वार्धके चापि पथ्यं
नान्यत् किञ्चिद् भवति पुरुषे सर्पिषः स्थौल्यकारि।।

(आ.म. ८.१३) (रा.नि. ५.८८) (मन्दाक्रान्ता छन्द)

घी आयुवृद्धि, शरीर की दृढ़ता तथा सुकुमारता को करता है। यह व्यायाम व स्त्रीप्रसङ्ग से हुई श्रान्ति को दूर करता है। यह बाल्य, यौवन व वृद्धावस्था में पथ्य होता है। पुरुष के लिए घी से बढ़कर कोई अन्य वस्तु स्थौल्यकारी (मोटा करने वाली) नहीं होती है।

यद्वेदागमवेदिभिर्निगदितं साक्षादिहायुर्नृणां
यद्वैद्यैस्तु रसायनाय कथितं सद्यो जरानाशनम्।
यत्सारस्वतकं च कान्तिमतिमत् प्रोक्तं धियः सिद्धये
तत्पूर्वार्जितपुण्यसञ्चयवता लभ्यं घृतं नूतनम्।।
(आ.म. ८.१४) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

वेद व आगम (शास्त्र) को जानने वालों ने जिसे मनुष्य के लिए साक्षात् आयु कहा है- **आयुर्वै घृतम्** तथा जिसे वैद्यों ने रसायन के लिए उपयोगी कहा है, जो शीघ्र वृद्धावस्था को नष्ट कर देता है, जो सारस्वतक, कान्ति व मति देने वाला है एवं बुद्धिसिद्धि-प्रदाता है, वह नया घृत पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य वाले व्यक्ति को ही मिलता है।

आयुर्वै घृतम्- इसका भाव है कि घी साक्षात् आयु है अर्थात् आयु बढ़ाने का मुख्य कारण है, परन्तु श्रम व व्यायाम करने वाले के लिए। ऐसा न करने वाले के लिए यह हानिकर हो जाता है। जैसे जीवन देने वाली अग्नि अनुचित प्रयोग से मारक हो जाती है। यही बात घी खाकर श्रम न करने वाले लोगों के लिए लागू होती है।

इक्षु-वर्ग

इक्षुरस के गुण

इक्षोः रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत्।। (अ.हृ.सू. ५.४२)
वृष्यः शीतोऽस्रपित्तघ्नः स्वादुपाकरसः सरः।
सोऽग्रे सलवणो, दन्तपीडितः शर्करासमः।। (अ.हृ.सू. ५.४३)

मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङ्करात्।
किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः।।
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ - (अ.हृ.सू.५.४४)

गन्ने का रस सर, गुरु, स्निग्ध, रस एवं विपाक में मधुर, शीतवीर्य, बृंहण, कफवर्धक, मूत्रकारक, वृष्य और रक्तपित्तशामक होता है। गन्ने के अग्रभाग को दाँतों से चूसने पर वह किञ्चित् लवणरसयुक्त और मीठे रस वाला होता है। कीड़ों द्वारा खाये गये गन्ने के मूलभाग का रस मशीन द्वारा निकालने पर मैलयुक्त होता है तथा थोड़े समय तक रखने पर खराब हो जाता है। यह विदाही, गुरु और विष्टम्भी होता है।

इक्षु-विकार के गुण

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।
नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृद् गुडः।। (अ.हृ.सू. ५.४७)

फाणित (राब) गुरु, अभिष्यन्दी (कफवर्धक/स्रोतोरोधक), त्रिदोषकारक, मूत्रशोधक और मूत्रल होता है। **धौत** (स्वच्छ किया गया) गुड़ किंचित् कफवर्धक और मल-मूत्रप्रवर्तक होता है।

इक्षु के प्रकार एवं प्रयोगविधि

वृष्यो रक्तास्रपित्तश्रमशमनपटुः शीतलः श्लेष्मदोऽल्प-
स्निग्धो हृद्यश्च रुच्यो रचयति च मुदं मूत्रशुद्धिं विधत्ते।
कान्तिं देहस्य दत्ते बलमतिकुरुते बृंहणस्तृप्तिदायी
दन्तैर्निष्पीड्य काण्डे मृदुरतिरसितो मोहनश्चेक्षुदण्डः।।
(रा.नि. १४.९६) (स्रग्धरा छन्द)

दाँतों से दबाकर चूसे ईंख के गुण– दाँतों से दबाकर चूसा गया ईंख का काण्ड वृष्य, रक्तविकार, रक्तपित्त व थकान को नष्ट करने वाला,

शीतल, कफवर्धक, थोड़ा स्निग्ध, हृद्य, रुचिकर, प्रसन्नता देने वाला तथा मूत्रशुद्धिकारक होता है। यह देह-कान्तिवर्धक, बलदायक, बृंहण, तृप्तिप्रद, मृदु, अति रस वाला तथा मोहन (चूसते समय आनन्दमग्न करने वाला) होता है।

पीयूषोपमितं त्रिदोषशमनं स्याद्दन्तनिष्पीडितं
तद्वच्चेद्ग्रहयन्त्रजं तदपरं विष्टम्भि गुर्वग्निकृत्।
किञ्चित्कालधृतं च वातजननं जाड्यप्रतिश्यायदं
प्रोक्तं पर्युषितं कफानिलकरं पानीयमिक्षूद्भवम्।।

(रा.नि. १४.९७) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

दाँतों से दबाकर चूसा हुआ अमृत जैसा ईंख का रस त्रिदोषशामक होता है। यदि यह कोल्हू आदि से निकाला हो तो विष्टम्भी, गुरु व अग्निकृत् (जलन करने वाला) होता है। यन्त्र से निकाला यह रस कुछ समय तक रखने पर वातजनक, जाड्यकर (शीतलताजनक) व जुकाम करने वाला होता है। यही अधिक बासी होने पर यह कफवातकर हो जाता है।

गुड़

गुडः सुमधुरः क्षारो गुरूष्णः कफवातनुत्।
अहितः पित्तरक्ते च जीर्णश्चैव रसायनः।।

(ध.नि. ४.११३, रा.नि. १४.१००)

अन्यत्र (धन्वन्तरि-निघण्टु) में गुड़ के गुण इस प्रकार बताए गए हैं- गुड़ सुमधुर, कुछ खारा, गुरु, उष्ण व कफवात-नाशक होता है। यह पित्तरक्त में अहितकर माना जाता है। जीर्ण (पुराना) गुड़ रसायन होता है।

पित्तघ्नः पवनार्तिजिद् रुचिकरो हृद्यस्त्रिदोषापहः
संयोगेन विशेषतो ज्वरहरः सन्तापशान्तिप्रदः।

विण्मूत्रामयशोधनोऽग्निजननः पाण्डुप्रमेहान्तकः
स्निग्धः स्वादुतरो लघुः श्रमहरः पथ्यः पुराणो गुडः।।
(रा.नि. १४.१०१) (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

पुराने गुड़ के विषय में कहा है- पुराना गुड़ पित्तहर, वातरोगनाशक, रुचिकर, हृद्य तथा त्रिदोषहर होता है, अन्य द्रव्यों के संयोगविशेष से गुड़ ज्वरहर व सन्तापशान्तिप्रद (जलन का शमन करने वाला) बन जाता है। पुराना गुड़ मल-मूत्र सम्बन्धी रोगों का निवारक, जठराग्निवर्धक, पीलिया व प्रमेह का नाशक होता है। यह स्निग्ध, स्वादुतर, लघु, श्रमहर व पथ्य माना जाता है।

शर्करा (शक्कर)

शुद्धस्फटिकसङ्काशा निर्मला सितशर्करा।
शर्करा ज्वरपित्तासृङ्मूर्च्छाच्छर्दिविषापहा।। (भो.कु.)
श्वासाङ्गमर्दहृल्लासशैत्यशूलहराग्निकृत्।

शर्करा (शक्कर) के गुण- शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल श्वेत शर्करा ज्वर, पित्त, असृक्, मूर्च्छा, वमन व विष को दूर करती है। यह दमा, अंगपीड़ा, हृल्लास (जी मचलाना), शैत्य (सर्दी लगना) व शूल को नष्ट करने वाली तथा जठराग्निवर्धक होती है।

मधु-वर्ग

मधु के गुण

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत्।। (अ.हृ.सू. ५.५१)
मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित्।
व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मधु।। (अ.हृ.सू. ५.५२)
रूक्षं कषायमधुरं, तत्तुल्या मधुशर्करा।

मधु चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकारी), छेदि (पिण्डीभूत कफादि दोषों को छिन्न-भिन्न करने वाला) तथा तृष्णा, कफ, विष, हिक्का, रक्तपित्त, कुष्ठ, प्रमेह, कृमि, छर्दि, श्वास, कास एवं अतिसारनाशक होता है। मधु व्रणशोधक, संधानकारक, रोपण, वातवर्धक, रूक्ष तथा कषाय-मधुर रस वाला होता है। **मधुशर्करा** अर्थात् मधु के सूखने से बनी शर्करा मधु के समान गुणों वाली होती है।

मधु के प्रकार एवं प्रयोगविधि

नवं मधु भवेत् स्थौल्यं नातिश्लेष्महरं परम्।
देहस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणं मधु लेखनम्।। (रा.नि. १४.१३१)

नया मधु स्थूलता-कारक होता है, यह अधिक कफहर नहीं होता है। पुराना मधु देह की स्थूलता को कम करने वाला, ग्राही व लेखन (शरीर को कृश करने वाला) होता है।

पक्वं दोषत्रयघ्नं मधु विविधरुजाजाड्यहिक्कामयादि-
ध्वंसं धत्ते च रुच्यं बलमतिधृतिदं वीर्यवृद्धिं विधत्ते।
आमं चेदामगुल्मामयपवनरुजापित्तदाहास्रदोष-
ध्वंसं धत्ते विशोषं जनयति नयति स्वाङ्गवृद्धिं विशेषात्।।
(रा.नि. १४.१३२) (स्रग्धरा छन्द)

परिपक्व मधु त्रिदोषनाशक होता है। यह जड़ता, हिक्का (हिचकी) आदि अनेक रोगों का निवारक, रुचिकर, बलप्रद, विशेष रूप से धृतिदायक (मन की आश्वस्तता/शान्ति करने वाला) तथा वीर्यवर्धक होता है। कच्चा शहद आम (आँव), गुल्म, वात आदि रोगों को, पित्त, दाह व अस्रदोष को नष्ट करने वाला होता है। यह विशेषरूप से स्वांगवृद्धिकारक (अंगों की वृद्धि व पुष्टि करने वाला) होता है।

व्रणशोधन-सन्धान-व्रणसंरोपणादिषु।
साधारण्यान्मधु हितं तत्तुल्या मधुशर्करा।। (रा.नि. १४.१३३)

घाव की शुद्धि, सन्धान (हड्डियों को जोड़ना) व व्रणसंरोपण (घाव भरना) आदि में मधु समान रूप से हितकर होता है तथा उसी के तुल्य गुण वाली मधुशर्करा होती है। मधु के सूख जाने से मधुशर्करा बनती है।

उष्णैः सहोष्णकाले वा स्वयमुष्णमथापि वा।
आर्तं मधु मनुष्याणां विषवत्तापदायकम्।।
(भो.कु.) (रा.नि. १४.१३४)

उष्ण पदार्थों के साथ मधु का सेवन नहीं करना चाहिए। उष्णकाल (गर्मी) में भी मधु का सेवन वर्जित है। आर्त (गर्म) मधु का सेवन भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह मनुष्यों के लिए विष के समान तापदायक (कष्टदायक) होता है।

गुरुशीतकषायत्वाद्रौक्ष्याच्चाल्पं हितं मधु।
न हि कष्टतमं किञ्चित् तदजीर्णाद्यतो नरम्।। (भो.कु.)

गुरु, शीतल, कषाय व रूक्ष होने से मधु अल्प मात्रा में ही हितकारी होता है। यदि अधिक मात्रा में मधु का सेवन किया जाए व उसका अजीर्ण हो जाए तो इससे बढ़कर कष्टप्रद कोई अन्य रोग नहीं होता।

उपक्रमविरोधित्वात् सद्यो हन्याद्यथा विषम्।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि[1] परं मधु।। (भो.कु.)
वृष्ययोगैरतो युक्तं वृष्यतामनुवर्तते। (भो.कु.)

मधु के अजीर्ण में अर्थात् इसका आँव बनने पर उसे पचाने के लिए उष्ण क्रिया करनी पड़ती है और वह मध्वाम (मधु से हुए आँव रोग) में

१. स्वीयगुणोदासीनत्वे सति संयोगिगुणोत्कर्षकत्वं योगवाहित्वम्।

विरोधी हो जाती है। अत: उपक्रमविरोधी होने से यह रोग विष के समान मनुष्य को शीघ्र ही नष्ट कर देता है अत: विशेष ध्यान रखें कि मधु को अल्प मात्रा में ही खाएं, जिससे उसका अजीर्ण न हो पाए। यदि यह रोग (मध्वाम) हो गया तो समझो इससे भयंकर अन्य कोई रोग नहीं है।

मधु का निर्माण अनेक प्रकार के पुष्परसों के मिश्रण से होता है, अत: यह परम योगवाही होता है। योगवाही वह कहलाता है जो जिस पदार्थ से मिलता है, उसी के गुणों को बढ़ा देता है। अर्थात् अपने गुणों की उपेक्षा कर जो स्वसंयोगी औषधद्रव्य के गुण बढ़ा देता है वह योगवाही होता है। अपने इसी योगवाहिता गुण के कारण मधु वृष्ययोगों से मिलकर वृष्यताकारक बन जाता है।

उष्ण मधु की मारकता

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत्।। (अ.हृ.सू. ५.५३)
प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते।
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते।। (अ.हृ.सू. ५.५४)

अग्नि पर गर्म किया हुआ, धूप आदि से पीड़ित मनुष्य द्वारा सेवित, उष्ण देश एवं उष्ण काल में लिया गया और उष्ण द्रव्यों के साथ सेवित मधु विष के समान मारक होता है। वमन और निरूहवस्ति में मधु के बिना पचे ही शरीर से बाहर निकल जाने के कारण उष्ण मधु का प्रयोग निषिद्ध नहीं होता है।

तैल-वर्ग

तेल के गुण

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च।।

कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च।
बहुविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात् सर्वदोषजित्।।

(अ.हृ.सू. ५.५५-५६)

वाग्भट ने तेल के गुण इस प्रकार कहे हैं- तेल स्वयोनिवत् अर्थात् जिस बीज का हो, उसी के समान गुणों वाला समझना चाहिए। मुख्यरूप से यह तीक्ष्ण व व्यवायी होता है। दाल-शाक आदि भोज्य पदार्थों में सेवन करने से यह चर्मरोगकारक, नेत्रों के लिए अहितकर, सूक्ष्म गुण युक्त होने से स्रोतों में प्रविष्ट हो जाने वाला व उष्णवीर्य होता है। यह कफकारक नहीं होता है। तेल व्यवायी अर्थात् व्याप्तिशील है, जो पहले शरीर में फैलता है और बाद में पचता है।

तेल कृश व्यक्तियों का बृंहण करता है और स्थूल व्यक्तियों का कर्शन। यह बहुत मलकारक कृमिनाशक तथा संस्कार से सब दोषों को दूर करने वाला होता है।

तिलतैलमलङ्करोति केशान् मधुरं तिक्तकषायमुष्णतीक्ष्णम्।
बलकृत् कफवातजन्तुखर्जुव्रणकण्डूतिहरं च कान्तिदायि।।

(रा.नि. १५.१०९)

अन्यत्र तिल के तेल का वर्णन इस प्रकार से किया है- तिल का तेल बालों को शोभित करने वाला, मधुर, तिक्तकषाय व उष्णतीक्ष्ण होता है। यह बलकारक, कफ, वात, कृमि, खर्जु, घाव व खुजली को नष्ट करने वाला तथा कान्तिदायक होता है।

तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितक्लमाः।
आसन्नतिबला युद्धे दैत्याधिपतयः पुरा।। (भो.कु.)

तेल के प्रयोग का महत्त्व- प्राचीन काल में दैत्याधिपति तेल के प्रयोग से अजर (जरा अर्थात् वृद्धावस्था के प्रभाव से रहित), निर्विकार, थकान रहित तथा युद्ध में अति बलशाली होते थे।

तैलं न सेवयेद् धीमान् यस्य कस्य च यद् भवेत्।
विषसाम्यगुणत्वाच्च योगयोग्यं न वर्जयेत्।। (रा.नि. १५.१२७)

राजनिघण्टु में कहा है– बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वैद्य से बिना पूछे स्वेच्छया जिस किसी भी पदार्थ का तेल उपयोग में न लावे; क्योंकि तेल में विष के समान गुण होते हैं। अत: आयुर्वेद के विधानानुसार जहाँ जिस तेल के प्रयोग का निर्देश है, वहाँ उसी का प्रयोग करना चाहिए, अन्य का नहीं।

विषस्य तैलस्य न किञ्चिदन्तरं मृतस्य सुप्तस्य तथा न किञ्चित्।
ऋणस्य दासस्य न किञ्चिदन्तरं मूर्खस्य काष्ठस्य च नैव किञ्चित्।।
(रा.नि. १५.१२८)

तेल में विषसदृश प्रभाव भी होता है, इस विषय में कहा है– जैसे मरे हुए व सोए हुए में, ऋणी व दास में, मूर्ख व काष्ठ में कुछ अन्तर नहीं होता है, वैसे ही विष व तेल में अन्तर नहीं होता है अर्थात् तेल विष सदृश होता है अत: इसका प्रयोग सावधानी से यथाविधि ही करना चाहिए।

एरण्ड-तैल का गुण

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरु।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम्।। (अ.हृ.सू. ५.५७)
रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत्।
तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं रक्तैरण्डोद्भवं त्वति।। (अ.हृ.सू. ५.५८)

एरण्ड का तैल किञ्चित् तिक्त, उष्ण, मधुर, सर (रेचक) और गुरु होता है। यह अण्डकोषवृद्धि, गुल्मरोग, वातरोग, कफरोग, उदररोग एवं विषमज्वरनाशक, कटि, गुह्य प्रदेश (गुदा-लिङ्ग-योनि), कोष्ठ (उदर) और पृष्ठगत शूल (रुक्) और शोथ का नाशक होता है। रक्त एरण्ड का

तैल अत्यधिक तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पिच्छिल और विस्र (आमगन्धी=कच्चे मांस के समान गंध वाला) होता है।

सर्षप-तैल का गुण

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्।
लघु पित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित्।। (अ.हृ.सू. ५.५९)

सरसों का तैल कटुरस, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, लघु, वात, कफ एवं शुक्रनाशक, रक्तपित्तवर्धक, कोठ (त्वक् विकार), कुष्ठ, अर्श, व्रण और कृमिनाशक होता है।

मूत्र-वर्ग

मूत्र का गुण

मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम्।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु।। (अ.हृ.सू. ५.८२)
कृमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान्।
गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु।। (अ.हृ.सू. ५.८३)

गाय, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, घोड़े, ऊँट तथा गधे का मूत्र पित्तवर्धक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, लवणानुरस एवं कटु रस वाला होता है। इन आठों प्राणियों के मूत्र कृमि, शोफ, उदररोग, आनाह, शूल, पाण्डु, वात-कफ विकार, गुल्म, अरुचि, विष, श्वित्र, कुष्ठ और अर्शरोग के नाशक तथा लघु होते हैं।

अन्यद्रव्य-वर्ग

फलों के सामान्य गुण

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्।
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणाधिकम्।। (भा.प्र.नि. ७.१५१)

फलतुल्यगुणं सर्वं मज्जानमपि निर्दिशेत्। (भा.प्र.नि. ७.१५२)
फलं हिमादिदुर्वातव्यालकीटादिदूषितम्।
अकालजं कुभूजं च पाकातीतं न भक्षयेत्।। (भा.प्र.नि. ७.१५३)

फलों में जो पका हुआ हो, वही श्रेष्ठ कहा गया है। यह बात बिल्वफल को छोड़कर समझनी चाहिए क्योंकि बिल्व फल कच्चा ही अधिक गुणों वाला होता है। जिस फल के जो गुण होते हैं, वही उसकी मज्जा (गिरी) के भी समझने चाहिएं। जो फल हिमपात आदि से अथवा दुर्वात (आँधी) आदि से दूषित हो तथा सर्प, कीटादि से दूषित हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अकालज (बिना मौसम के पैदा हुए), निन्दित भूमि पर उत्पन्न तथा पाकातीत (पकने के बाद बहुत समय तक रखे, बासी, गले-सड़े) फल का भी सेवन नहीं करना चाहिए।

मद्य विचार

मद्यं न पेयं वा पेयं स्वल्पं सुबहुवारि वा।
अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्।। (भो.कु.)

जैसा कि वैद्य लोग कहते आए हैं- मद्य कभी न पिएं, पिएं तो बहुत थोड़ी मात्रा में पिएं व उसमें पर्याप्त जल मिलाएं। इसके विपरीत प्रकार से पिया हुआ मद्य क्षयरोग, शिथिलता, दाह व मोह (नशा) उत्पन्न करता है।

मद्यप्रयोगं कुर्वीत शूद्रादिषु महार्तिषु।
द्विजैः स्त्रीभिस्तु न ग्राह्यं यद्यप्युज्जीवयेन्मृतम्।। (रा.नि.१४.१५६)

चिकित्सा के लिए मद्यप्रयोग के विषय में वैद्यों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शूद्र आदि के महारोगों में मद्य का औषध के रूप में प्रयोग करें। द्विजों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों) व स्त्रियों को औषध रूप में भी मद्य नहीं लेना चाहिए, भले ही वह मरे को जिला दे।

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेय: श्रेयो मोक्षे च यत् परम् ।
मन: समाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ।।
मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभ: क्रियते महान्।
महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिन:।।
मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा महादोषं महागदम्।
सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिता:।।
मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ता: सात्विकैर्गुणै:।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसा:।।

(च.चि.२४.५२-५५)

परलोक और इहलोक में जो कल्याणकारक है तथा मोक्ष में भी जो परम श्रेय: है वह सब मनुष्यों को मन की समाधि=एकाग्रता के द्वारा ही प्राप्त होता है परन्तु मद्य के द्वारा मन वैसे ही अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है जैसे तीव्र वायु के वेग से नदी पर स्थित वृक्ष क्षुभित हो जाता है। रजो गुण व तमो गुण से पराजित अज्ञ जन महान् दोषकारक व महान् रोगकारक उस मद्यप्रसंग को सुखदायक मानते हैं परन्तु मद्यपान से नष्टबुद्धि, सात्विक गुणों से वियुक्त, मदान्ध और मद्य की लालसा वाले वे लोग परम श्रेय: से वियुक्त हो जाते हैं।

द्रव्य एवं गुण

द्रव्य, वीर्य एवं विपाक के भेद

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा।। (अ.हृ.सू. १.१६)
उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।
त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मक:।। (अ.हृ.सू. १.१७)

प्रभावभेद से द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं- १. दोषशामक २. दोषप्रकोपक एवं ३. स्वस्थ-हितकर। द्रव्यों में उष्ण एवं शीत गुणों की

अधिकता से वीर्य दो प्रकार के होते हैं- १. शीतवीर्य एवं २. उष्णवीर्य और विपाक तीन प्रकार के होते हैं- १. मधुर विपाक २. अम्ल विपाक एवं ३. कटु विपाक।

गुर्वादि गुण

गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः।
गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः।। (अ.हृ.सू. १.१८)

गुरु (भारी), मन्द (चिरकारी), हिम (शीत), स्निग्ध, श्लक्ष्ण (चिकना), सान्द्र (गाढ़ा), मृदु, स्थिर (गतिहीन), सूक्ष्म (स्रोतोगामी) एवं विशद (स्वच्छ) और इनके विपरीत क्रमशः लघु (हल्का), तीक्ष्ण (शीघ्र कार्य करने वाला), उष्ण, रूक्ष (रूखा), खर (खुरदरा), द्रव, कठिन, सर (प्रसरणशील), स्थूल एवं पिच्छिल (चिपचिपा), ये बीस गुण '**गुर्वादि गुण**' कहलाते हैं।

द्रव्यादिविज्ञानीय

द्रव्य का प्राधान्य एवं पाञ्चभौतिकत्व

द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं, ते हि तदाश्रयाः।
पञ्चभूतात्मकं तत्तु क्ष्मामधिष्ठाय जायते।। (अ.हृ.सू. ९.१)
अम्बुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः।
तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा।। (अ.हृ.सू. ९.२)

द्रव्य, रस, गुण, विपाक, वीर्य एवं प्रभाव में द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रस आदि सभी भाव पदार्थ द्रव्य में ही स्थित होते हैं। संसार का प्रत्येक द्रव्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- इन पाँच महाभूतों के समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है अर्थात् संसार का प्रत्येक द्रव्य पंचभूतात्मक होता है। द्रव्य का अधिष्ठान (आश्रय) पृथ्वी महाभूत है अर्थात् सभी द्रव्य पृथ्वी महाभूत का ही आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं, जैसे- मिट्टी से घड़े की

उत्पत्ति। द्रव्य की योनि जल महाभूत है अर्थात् सभी द्रव्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण जल होता है। द्रव्यों में सम्पूर्णता एवं विभिन्नता अग्नि, वायु एवं आकाश महाभूतों के समवाय सम्बन्ध से आती है। जो महाभूत जिस द्रव्य में भूयसा (अधिकता से) होता है, उस महाभूत के नाम से उस द्रव्य को पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य अथवा नाभस कहा जाता है।

रस, अनुरस एवं गुर्वादि गुण

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसम्भवात्।
नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।। (अ.हृ.सू. ९.३)
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते।

पंच-महाभूतों के समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण कोई भी द्रव्य केवल एक रस वाला नहीं होता है अर्थात् सभी द्रव्य एक से अधिक रस वाले होते हैं। यही कारण है कि किसी भी द्रव्य के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोग भी एक से अधिक दोष वाले होते हैं। जिस द्रव्य में जो रस व्यक्त (स्पष्ट) होता है, वही रस उस द्रव्य का 'प्रधान रस' होता है और जो रस प्रधान रस की अनुभूति के बाद व्यक्त होता है अथवा जिसका कालान्तर में अनुभव होता है, उसे 'अनुरस' कहते हैं।

अध्याय-८

चिकित्सा चतुष्पाद

रोग

रोग एवं आरोग्य का आश्रय

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः।। (च.सू. १.५५)

समस्त व्याधियों का आश्रय स्थान (आधार) शरीर और मन को बताया गया है और आरोग्य[१] के आश्रय स्थान भी यही दोनों हैं तथा काल (शिशिर आदि ऋतुएँ), बुद्धि (प्रज्ञा) और इन्द्रियार्थ (शब्दादि विषय) का समयोग सुख (स्वास्थ्य) का हेतु है।

रोग के तीन कारण

त्रीण्यायतनानीति- अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोग-मिथ्यायोगाः।। (च.सू. ११.३७)

रोगों के तीन कारण होते हैं- अर्थों (शब्द, स्पर्शादि इन्द्रियों के विषयों) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग, कर्म (वाणी, शरीर और मन की प्रवृति) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग तथा काल (शीत, उष्णादि) का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग।

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकाराणां, समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति।। (च.सू. ११.४३)

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम- ये तीनों अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग इन तीन प्रकारों में विभाजित होकर सभी (विकारों)

---

१. सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च। (च.सू. ९.४)

रोगों के कारणस्वरूप होते हैं और जब ये तीनों इन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञा और काल समयोग[१] वाले होते हैं, तब प्रकृति (स्वास्थ्य) के हेतु होते हैं।

सर्वेषामेव भावानां भावाभावौ नान्तरेण योगायोगातियोगमिथ्यायोगान्समुपलभ्येते यथास्वयुक्त्यपेक्षिणौ[२] हि भावाभावौ।।

(च.सू. ११.४४)

जैसे सम्यग्योग व अयोग धातुसाम्य और वैषम्य के हेतु होते हैं, वैसे ही सभी वृक्ष, घट, पट आदि बाह्य पदार्थों के भी सम्यक् स्थिति व विनाश में सम्यग् योग व अयोग ही कारण बनते हैं। सूत्रगत भाव-अभाव पद का क्रमशः अर्थ है-सम्यग् अवस्था, असम्यग् अवस्था या विनाश। योग अर्थात् सम्यग् योग से भाव होता है और अयोग, अतियोग व मिथ्यायोग से अभाव। ये भाव और अभाव अपने-अपने कारण की योजना पर आश्रित रहते हैं। जैसे वृक्ष की विद्यमानता में सम्यक् जल, सूर्य का प्रकाश आदि कारणों की योजना का होना और वृक्ष के अभाव में वज्रपातादि की युक्ति होती है।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः।। (च.सू. १.५४)

काल[३] (शिशिर आदि ऋतुएँ), बुद्धि (प्रज्ञा) तथा इन्द्रियार्थ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और इन्द्रियों द्वारा उपसेव्य द्रव्य-गुण-कर्म) इनका 'मिथ्यायोग', 'अयोग' एवं 'अतियोग' होना ही शरीर या मन में उत्पन्न होने वाली सभी व्याधियों के त्रिविध कारण बताये गये हैं (इसे आयुर्वेदशास्त्र में 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' कहा जाता है)।

---

१. समयोगयुक्ताः सम्यग्योगयुक्ताः। (चक्रपाणिः)

२. यथास्वं युक्तिर्या यस्य भावस्याभावस्य वा युक्तिः स्वकारणयुक्तिः, तदपेक्षिणौ भवतः। (चक्रपाणिः)

३. शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः। (च.सू.११.४२)

इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्रिविधम्- असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति। (च.नि. १.३)

यहाँ हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान[१] ये एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्द हैं। यह (निदान) तीन प्रकार का है- १. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग[२] २. प्रज्ञापराध[३] और ३. परिणाम।

अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति- आग्नेयाः, सौम्याः, वायव्याश्च; द्विविधाश्चापरे- राजसाः तामसाश्च। (च.नि. १.४)

अतः उपर्युक्त तीन कारणों से तीन प्रकार की व्याधियाँ भी उत्पन्न होती हैं- आग्नेय, सौम्य तथा वायव्य[४]। इनसे अन्य दो प्रकार की मानस व्याधियाँ भी उत्पन्न होती हैं- राजस तथा तामस।

रोग-आरोग्य के कारण एवं लक्षण

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्।। (अ.हृ.सू. १.१९)
रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता।

काल (शीत, उष्ण एवं वर्षा काल), अर्थ (पञ्चज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध) और कर्म (शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक कर्म) का हीनयोग, मिथ्यायोग एवं अतियोग रोगोत्पत्ति का कारण

---

१. सेतिकर्तव्यताकः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्। (मा.नि. मधुकोष १.४)
२. कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः।। (च.सू. १.५४)
३. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।। (च.सू. १.१०२)
४. आग्नेयाः पैत्तिकाः, सौम्याः कफजा, वायव्याः वातजाः।

है तथा समयोग आरोग्य का कारण है। वात आदि दोषों की विषमता रोग है और समता आरोग्य है।

साध्यासाध्यता से रोग-भेद (अष्टाङ्गहृदय)

साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा, तौ तु पुनर्द्विधा।
सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च, याप्यो यश्चानुपक्रमः।।(अ.हृ.सू. १.३०)

साध्यता एवं असाध्यता भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं- १. साध्य एवं २. असाध्य। साध्य रोग पुनः दो प्रकार के होते हैं- १. सुखसाध्य एवं २. कृच्छ्रसाध्य (कष्टसाध्य)। असाध्य रोग भी दो प्रकार के होते हैं- १. याप्य (चिकित्सा किये जाने तक सुखकर) एवं २. अनुपक्रम्य (प्रत्याख्येय= चिकित्सा के पूर्णतः अयोग्य)।

साध्य असाध्य का विवेचन (चरक)

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत्साधयति ध्रुवम्।। (च.सू. १०.७)
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्।। (च.सू. १०.८)

साध्य और असाध्य रोगों को जो वैद्य भेषजादिज्ञानपूर्वक पृथक् रूप से जानता है और सही समय आने पर 'यह रोग साध्य है' ऐसा जानकर चिकित्सा करता है, वह अवश्य ही उसे नीरोगी बनाने में सफलता प्राप्त करता है। जो वैद्य असाध्य रोगों की चिकित्सा करता है उसके जीवन में निश्चित रूप से अर्थ, विद्या और यश की हानि, लोक में निन्दा और लोकप्रियता का ह्रास होता है।

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च।
द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम्।। (च.सू. १०.९)

साध्य रोगों के दो भेद हैं– १.सुखसाध्य और २.कृच्छ्रसाध्य। असाध्य रोगों के भी दो भेद हैं– १.याप्य और २.अनुपक्रम।

सुखसाध्य रोग (अष्टाङ्गहृदय)

सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपो[1]ऽनुपद्रवः।। (अ.हृ.सू. १.३०)
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः।। (अ.हृ.सू. १.३१)

युवा, जितेन्द्रिय पुरुष के सभी ओषधियों को सहन करने में समर्थ शरीर में वह रोग सुखसाध्य होता है जो मर्मगामी न हो, उपद्रवरहित एवं अल्पहेतुक हो तथा अल्प पूर्वरूप वाला हो। इसी प्रकार दूष्य, देश, ऋतु एवं रोगी की प्रकृति से विपरीत रोग, एक दोष से उत्पन्न एवं एक मार्ग में स्थित रोग, कोई भी नया रोग चिकित्सा के चार पादों की उत्तमता की स्थिति में, ग्रहों के अनुकूल होने पर सुखसाध्य होता है।

सुखसाध्य रोग के लक्षण (चरक)

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।। (च.सू. १०.११)
न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः।
गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च।। (च.सू. १०.१२)
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम्।। (च.सू. १०.१३)

जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप और लक्षण अल्पमात्रा में हों, जिसके रस-रक्तादि धातु तुल्यगुण वाले न हों और रोगोत्पादक दोष रोगी की प्रकृति न हो, रोग या दोष कालगुण के तुल्य न हों, देश अर्थात् रोगी का

१. अल्पो हेतुरग्ररूपश्चैव रूपं यस्य स तथोक्तः। अग्ररूपः= पूर्वरूपः। (चक्रपाणिः)

शरीर या निवास स्थान चिकित्सा में बाधा उत्पन्न करने वाला न हो, रोग एकमार्गी हो अर्थात् ऊर्ध्व या अधोमार्गी, रोग नवीन हो तथा उस में उपद्रव न हो, रोगोत्पत्ति का कारण एक ही दोष हो, रोगी का शरीर सभी प्रकार के औषधसेवन में समर्थ हो। चिकित्सा के गुणवान् चतुष्पाद के उपस्थित होने पर रोग सुखसाध्य होता है।

कृच्छ्रसाध्य एवं याप्य रोग

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः सङ्करे च ततो गदः।
शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्यये।। (अ.हृ.सू. १.३२)

जो रोग शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कर्मों से साध्य हो और सुखसाध्य के लक्षणों से मिश्रित लक्षण वाला हो, वह रोग 'कृच्छ्रसाध्य' कहलाता है। जो रोग साध्य रोगों के लक्षणों से विपरीत लक्षण वाला होने पर भी रोगी की आयु के शेष रहने पर और हितकर आहार-विहार के निरन्तर अभ्यास से साध्य प्रतीत होने वाला है, वह रोग 'याप्य' कहलाता है।

असाध्य (अनुपक्रम) रोग

अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये।
औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः।। (अ.हृ.सू. १.३३)

जो रोग साध्य रोगों के लक्षणों से पूर्णतः भिन्न लक्षण वाला हो, जो उत्सुकता, मोह, अरति (बेचैनी) आदि जैसे लक्षणों स युक्त हो, जिसमें अरिष्ट (मृत्यु-सूचक पूर्व-चिह्न) दिखाई पड़ते हों और जो इन्द्रियों का नाश करने वाला हो, वह असाध्य (अनुपक्रम/प्रत्याख्येय) होता है।

त्रिविध रोग

त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्य लाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते।। (च.सू. ११.४५)

आयुर्वेद में तीन प्रकार के रोगों का वर्णन किया गया है, वे निजरोग, आगन्तुकरोग और मानसरोग हैं। (१) निज रोग वे होते हैं जो शरीर के त्रिदोष (वात, पित्त और कफ) के विकृत होने से उत्पन्न होते हैं। (२) आगन्तुकरोग वे होते हैं जो भूत-प्रेतादि के आवेश से, विषयुक्त वायु-जलादि के प्रभाव से, अग्नि के जलने से अथवा किसी शस्त्रादि के आघात से उत्पन्न होते हैं। (३) मानसिक रोग वे हैं, जो इष्ट की प्राप्ति से हर्षादि और अनिष्ट, अप्रिय के प्राप्त होने से शोकादि होते हैं।

निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः।। (अ.हृ.सू. १.२०)
तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।
रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ।। (अ.हृ.सू. १.२१)

निज एवं आगन्तुक भेद से रोग दो प्रकार के कहे गये हैं और शरीर तथा मन भेद से रोगाश्रय भी दो प्रकार के कहे गये हैं। रज एवं तम भेद से मानसिक दोष दो प्रकार के होते हैं।

आगन्तुक-रोग (अष्टाङ्गहृदय)

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः।
रागद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः।। (अ.हृ.सू. ४.३१)

भूत (विषाणु, जीवाणु आदि), विष, वायु, अग्नि आदि के स्पर्श से और क्षत (आघात/चोट), अस्थिभंग, काम, क्रोध, भय आदि से उत्पन्न होने वाले रोगों को 'आगन्तुक रोग' कहते हैं।

निज-आगन्तुक रोगों की चिकित्सा

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्।।
(अ.हृ.सू. ४.३२) (च.सू. ७.५२)

अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्।
भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्।। (अ.हृ.सू. ४.३३)
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये।। (अ.हृ.सू. ४.३४)

निज एवं आगन्तुक रोगों को उत्पन्न होने से रोकने में और उत्पन्न हुए रोगों की शांति के लिए प्रज्ञापराध (निषिद्ध आचारणों) का परित्याग, इन्द्रिय-संयम, हितोपदेशों का सर्वदा स्मरण, देश, काल, शरीर एवं मन का ठीक-ठीक ज्ञान, सद्वृत्त (सदाचार) का पालन, अथर्ववेदानुसार शांतिपाठ, प्रतिकूल ग्रहों का पूजन और भूत-निवारक उपाय संक्षेप में अलग-अलग कह दिये गये हैं।

निज और आगन्तुक रोगों में पार्थक्य

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः।।
(च.सू. १९.६)

शरीर में स्वधातु की विषमता से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे वात, पित्त, कफ से पृथक् नहीं होते अर्थात् उनका हेतु दोषों की विकृति ही होती है। केवल आगन्तुक रोग ही, जिनमें बाह्य आघातादि कारणों की प्रधानता होती है, निज[१] रोगों की श्रेणी से भिन्न होते हैं।

निज और आगन्तुक रोगों में सम्बन्ध

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत।।
(च.सू. १९.७)

१. दोषों की विकृति से उत्पन्न रोग निज रोग कहाते हैं।

आघातादि से उत्पन्न होने वाले आगन्तुक रोग प्रारम्भ में तो बिना दोष के ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु बाद में वात, पित्त, कफ से होने वाले विकारों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। इस अवस्था में बढ़ा हुआ निज विकार भी आगन्तुक विकारों से संलग्न हो जाता है, जिससे निज और आगन्तुक विकारों के परस्पर मिल जाने से उनमें पार्थक्य करना कठिन हो जाता है। अतः मतिप्रवृद्ध वैद्य को चाहिए कि वह पहले विकारों का ठीक प्रकार से बोध कर ले, पश्चात् चिकित्साकर्म प्रारम्भ करे।

प्रज्ञापराधजन्य आगन्तुक रोग (चरक)

ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसम्भवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति।। (च.सू. ७.५१)
ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः।। (च.सू. ७.५२)

जो भूत, विषभक्षण, वायु, अग्नि, संप्रहार आदि कारणों से उत्पन्न आगन्तुक रोग होते हैं, उन सभी का मूल कारण 'प्रज्ञापराध' कहा गया है तथा ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान-अपमान, द्वेष आदि मानस विकार भी प्रज्ञापराधजन्य[१] ही है।

प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः।। (च.सू. ७.५४)

बुद्धिमान् व्यक्ति को रोग उत्पत्ति से पहले ही इस प्रकार आचरण करना चाहिए, जिससे उसका सर्वविध हित होता रहे।

व्याधियाँ (सुश्रुत)

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते।। (सु.सू. १.२३)

पुरुष के दुःखसंयोग की हेतुभूत व्याधियाँ कहलाती हैं।

---

१. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।। (च.शा. १.१०२)

ते चतुर्विधाः- आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति।। (सु.सू. १.२४)

व्याधियाँ चार प्रकार की हैं- आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक, स्वाभाविक।

तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्त-कफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्ष-विषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्य्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः।। (सु.सू. १.२५)

शस्त्रादि के प्रहार/अभिघात से होने वाली व्याधियाँ आगन्तुक कही जाती हैं। विरुद्ध अन्नपान के कारण एवं वात-पित्त-कफ और रक्त की विषमता एवं इनके समूह की विषमता से 'शारीरिक' व्याधियाँ होती हैं। विभिन्न इच्छाओं व द्वेषों से होने वाली क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभादि 'मानसिक' व्याधियाँ होती हैं। भूख, प्यास, वार्धक्य, मृत्यु, निद्रा आदि 'स्वाभाविक' व्याधियाँ हैं।

विशेष- वस्तुतस्तु रोगोत्पत्ति में तीन ही दोष कारण माने गए हैं- 'सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्'। (सु.सू. २४.८) पुनरपि शल्यचिकित्सा में प्रधानभूत व्रणों की दृष्टि से दूष्य होने पर भी रक्त को दोष ही मान लिया गया है।

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः।। (सु.सू. १.२६)

ये सभी व्याधियाँ मन और शरीर के आश्रय से होती हैं।

तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः।। (सु.सू. १.२७)

उचित रीति से प्रयुक्त संशोधन, संशमन, आहार और आचार से इन रोगों का निग्रह होता है।

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः; रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः; द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः- स्थावरा जङ्गमाश्च।। (सु.सू. १.२८)

आहार ही प्राणियों के शरीर धारण का तथा बल, वर्ण और ओज का मूल आधार है। वह आहार षड्रसों पर आश्रित है और रस द्रव्यों पर आश्रित हैं। ओषधियाँ द्रव्य हैं और स्थावर-जङ्गम के भेद से दो प्रकार की हैं।

विशेष- तुलनीय- 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि'। (गीता ३.१४)
अन्नाद् वै प्रजाः प्रजायन्ते.....अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। (तैत्तिरीय., ब्रह्मानन्द., २ अनु.)

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते।
निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः।। (सु.सू. १९.४)

उत्तम वास्तुविद्या के आधार पर बने हुए, पवित्र, सूर्य की सीधी पड़ने वाली किरणों से रहित तथा अधिक वायुरहित घर में शारीरिक, आगन्तुक और मानसिक व्याधियाँ नहीं होतीं।

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति।
विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवान्नरः।। (सु.सू. २०.१९)

रस और वीर्य से विरुद्ध पदार्थों का सेवन करता हुआ निर्बुद्धि मनुष्य व्याधि, इन्द्रियों की दुर्बलता और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

विशेष- आत्मा बुद्धिस्तद्रहितोऽनात्मवान्। अत्रानात्मेति वाच्ये मत्वर्थीयो निन्दितत्वमाविष्कर्तुम्, तेन मूर्ख इति निष्कर्षः। (श्रीहाराणचन्द्र)

त्रिविध रोगमार्ग

त्रयो रोगमार्गा इति- शाखा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि, अस्थिसन्धयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः, कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः।। (च.सू. ११.४८)

आयुर्वेद में तीन प्रकार के रोगमार्गों का वर्णन है- १. शाखा २. मर्म तथा अस्थियों की सन्धियाँ और ३. कोष्ठ। (१) शाखा[1] अर्थात् रक्तादि धातुएँ और त्वचा[2], उन्हें 'बाह्यमार्ग' भी कहा जाता है। (२) मर्मस्थान शरीर के नाजुक स्थान होते हैं जिनमें चोट लगने से मृत्यु भी हो सकती है, जैसे बस्तिप्रदेश, हृदय और मूर्धादि। अस्थिसन्धियाँ अर्थात् अस्थियों के संयोग तथा उनसे जुड़ी हुई स्नायु और कण्डरायें[3]-ये स्थान रोगों के 'मध्यम मार्ग' हैं। (३) इस आयुर्वेद शास्त्र में कोष्ठ[4] को महास्रोत, शरीर का मध्यप्रदेश, महानिम्न[5], आमाशय और पक्वाशय आदि पर्यायशब्दों द्वारा कहा गया है, यह रोगों का 'अन्तःमार्ग' है।

उपेक्षित रोग का परिणाम

अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विवर्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः।। (च.सू. ११.५८)

१. अत्र शाखेति संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं, तथा रक्तादीनां धातूनां शाखाभिधेयानां वृक्षशाखातुल्यत्वेन बाह्यत्वज्ञापनार्थम्। (चक्रपाणिः)
२. त्वचेति त्वक्शब्देन तदाश्रयो रसोऽपि गृह्यते। (चक्रपाणिः)
३. कण्डरा इह तन्त्रे स्थूलस्नायुः। (चक्रपाणिः)
४. उक्तं च कोष्ठविवरणे-

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकःफुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते। (सु.चि.अ.२)

५. उदर का सबसे नीचे वाला स्थान 'महानिम्न' कहा जाता है।

प्रथम अवस्था में कोई भी रोग सूक्ष्म रूप में ही रहता है, परन्तु धीरे-धीरे ध्यान न देने पर बढ़ता जाता है। वह रोग दृढमूल होकर रोगी की आयु और बल का नाश कर देता है।

शरीरक्षय के सामान्य कारण

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः।। (च.सू. १७.७६)
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः।। (च.सू. १७.७७)

अधिक व्यायाम, अनशन (भूखा रहना), चिन्ता, रूक्ष (अस्निग्ध) आहार, अल्प भोजन, प्रमितभोजन (एक ही रस का आहरण), तीव्र वायु एवं धूप का सेवन, भय, शोक, रूक्ष मद्यपान, रात्रिजागरण, कफ, रक्त, शुक्र और मल का अधिक मात्रा में निकलना, काल (वृद्धावस्था), भूतोपघात (भूत-प्रेत आदि की बाधा) - इन कारणों से मानव शरीर क्षीण हो जाता है।

रोगशान्ति एवं रोगानुत्पत्ति के साधन

आप्तोपदेशप्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम्।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये।। (च.सू. ७.५५)

आप्त[१] पुरुषों द्वारा उपदिष्ट प्रकृष्ट ज्ञान तथा उस श्रुतज्ञान का यथावत् आचरण- ये दोनों उपाय समस्त उत्पन्न व अनुत्पन्न रोगों से मनुष्य की रक्षा करते हैं।

जनपद-विध्वंस

दृश्यन्ते हि खलु सौम्य! नक्षत्रग्रहगणचन्द्रसूर्यानिलानलानां दिशां चाप्रकृतिभूतानामृतुवैकारिका भावाः, अचिरादितो भूरपि

१.(क) रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।
(ख) आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।। (च.सू. ११.१९)

च न यथावद्रसवीर्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगाच्चातङ्कप्रायता नियता। तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं सौम्य! भैषज्यानि यावन्नोपहतरसवीर्य-विपाकप्रभावाणि भवन्ति। वयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानु-पयोक्ष्यामहे ये चास्माननुकांक्षन्ति, यांश्च वयमनुकांक्षामः। न हि सम्यगुद्धृतेषु सौम्य! भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यक् चावचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किञ्चित् प्रतीकारगौरवं भवति।

(च.वि. ३.४)

हे सौम्य! (अग्निवेश!) नक्षत्र (अश्विनी-भरणी आदि २७), ग्रहगण (मंगल, बुध आदि), चन्द्र, आदित्य, वात, वह्नि तथा दिशाओं के प्रकृति के अनुरूप न होने के कारण ऋतुवैकारिक भाव अर्थात् ऋतुओं में विषमता उत्पन्न हो गयी है। अतः भूमि शीघ्र ही रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव आदि को ओषधियों में नहीं बना पायेगी और यदि रसादिगुणों का अभाव ओषधियों में होता है तो फिर रोग उत्पत्ति को रोकना असम्भव है। इसलिए हे वत्स! जनपद-विध्वंस से पहले तथा भूमि के विरस होने से पहले ही हमें अनुपहत रस, वीर्य, विपाक व प्रभाव वाली ओषधियों को संगृहीत कर लेना चाहिए ताकि इन ओषधियों के रसवीर्यविपाकादि का प्रयोग हम उन लोगों पर कर सकें, जो हमें चाहते हैं या फिर हम जिन्हें चाहते हैं। इसलिए हे सौम्य! संगृहीत की गई ओषधियों को यदि हम विधिपूर्वक निर्माण करके सेवन योग्य बना देते हैं तो जनपद-विध्वंसकारी रोगों से बचाना कोई बड़ी समस्या नहीं होगी।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच-उद्धृतानि खलु भगवन्! भैषज्यानि, सम्यग्विहितानि, सम्यगवचारितानि च; अपि तु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहार-देहबलसात्म्यसत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद् भवतीति। (च.वि. ३.५)

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले कि भगवन्! ओषधियाँ अच्छे से संगृहीत हैं, सम्यक् प्रकार से निर्मित हैं, विधिपूर्वक सेवन कराई गई हैं फिर भी एक ही जाति के रोग से भिन्न प्रकृति, भिन्न आहार, भिन्न शरीर, भिन्न बल, भिन्न सात्म्य, भिन्न मन तथा भिन्न आयु वाले मनुष्यों की मृत्यु (जनपदविध्वंसनम्) एक साथ कैसे सम्भव है?

संक्रामक रोगों का कारण

वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम्।
गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत् संप्रवक्ष्यते।।
वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः।
विद्याद्दुष्परिहार्यत्वाद् गरीयस्तरमर्थवित्।।
वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित्।
प्रतीकारस्य सौकर्ये विद्याल्लाघवलक्षणम्।। (च.वि. ३.९-११)

विगुणता अर्थात् विषमता को प्राप्त देश, काल, वायु और जल में जो अधिक गरीय (भारी) है, उसे हेतुसहित कहेंगे। विशेषज्ञ भिषक् को स्वभावतः अपरिहार्यता के चलते वायु से जल, जल से देश और देश से काल को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट (भारी) जानना चाहिए। चिकित्सक इन वायु-जल–देश-काल के विकृत होने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनके प्रतीकार (दोष-निवारण) के सौकर्य लिए लघुता के लक्षणों को जाने अर्थात् पूर्व-पूर्व के त्याग को सुकर समझे।

चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः।
भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा।।
येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्।
कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते।। (च.वि. ३.१२-१३)

वायु जलादि के दूषित होने पर इनके प्रभाव में वे जन नहीं आते जिनकी चिकित्सा उचित ओषधियों से की जाती है। जिन मनुष्यों की रोग उत्पन्न होते हुए भी सांझे तौर पर मृत्यु (मारक व्याधि) नहीं होती तथा जिनके वर्त्तमान मारकव्याधिजनक सांझे कर्म भी नहीं हैं, उनके लिए पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, बस्ति (निरूह, अनुवासन), नस्य और रक्तमोक्षण) श्रेष्ठ चिकित्सा है। स्नेहन, अभ्यंग, स्वेदनादि पंचकर्म के पूर्व कर्म हैं।

जनपद-विध्वंस से बचाव

रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते।
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः।।
सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः।।
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्।।
सङ्कथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः।।
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे।। (च.वि. ३.१४-१८)

(जनपद-विध्वंस के समय) रसायनों का उचित प्रयोग करना श्रेष्ठ माना है और जनपद-विध्वंस से पूर्व संगृहीत की गई औषधियाँ शरीर सुरक्षा के लिए उत्तम हैं। सत्याचरण, जीवदया, दान, बलि (भेंट), देवार्चना, सद्वृत्त का अनुवर्त्तन, शान्ति से रहना तथा मन्त्रादि से अपनी रक्षा, कल्याणकारी जनपदों में रहना, ब्रह्मचर्यमय जीवनयापन तथा ब्रह्मचारियों की संगति, आत्मसंयमी ऋषियों के धर्मशास्त्रों का श्रवण तथा सात्त्विक,

धार्मिक व ज्ञानवृद्ध पुरुषों के द्वारा पूजित मानवों की संगति करना, ये सब आयुरक्षक उपाय हैं। जिनकी मृत्यु उस कठिन समय (विध्वंसकाल) में अनियत है, उनके लिए भेषजरूप ये सब उपाय आवश्यक हैं।

जनपद-विध्वंस के विविध कारण

इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्वंसने कारणानि पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच- अथ खलु भगवन्! कुतोमूलमेषां[१] वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते? येनोपपन्ना जनपदमुद्ध्वंसयन्तीति।।

(च.वि. ३.१९)

इस प्रकार जनपद-विध्वंसन के कारणों को सुनकर पुनः भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने पूछा कि इन वायु, जलादि के विगुण होने में कारण क्या है? जिस वैगुण्य से युक्त हुए वायु आदि सम्पूर्ण जनपद को ही नष्ट कर देते हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः- सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतं, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा- यदा वै देशनगरनिगम-जनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजानपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते; तेषां तथान्तर्हितधर्मणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते, तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति, विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्।। (च.वि. ३.२०)

---

१. कुतोमूलं किंमूलमित्यर्थः। (चक्रपाणिः)

तब पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश को कहा कि वायु, जल, देश, काल में जो विकृति आती है, उसका मूल हेतु अधर्म है तथा उसका मूल पूर्वकृत असत्कर्म है। उन दोनों का ही मूल कारण प्रज्ञापराध है। जब किन्हीं देश, नगर और जनपद के प्रधान व्यक्ति अधर्माक्रान्त होकर अधर्म से प्रजा पर शासन करते हैं तब उस प्रधान के आश्रित और उनके उपाश्रित पुरवासी या जनपदवासी व्यापारी आदि, सभी उस प्रधान की संगति से अधर्माचरण करने लगते हैं। अधर्म, धर्म को पराभूत कर देता है। ऐसी स्थिति में उन अधर्मियों को देवता भी छोड़ देते हैं। धर्म का पराभव, अधर्म का अनुवर्त्तन और देवों का अपकार करने वाले जन जहाँ निवास करते है, वहाँ की ऋतुएँ विषम हो जाती हैं। उस विषमता से इन्द्रदेव यथाकाल वर्षा नहीं करते या करते ही नहीं अथवा कभी बहुत अधिक करते हैं, कभी बहुत विकृत वर्षा करते हैं। वायु भी अच्छे से नहीं चलती, विषम रूप से बहती है, भूमि भी विकृत हो जाती है, सूखा पड़ जाता है और ओषधियाँ भी अपने गुण-धर्म को छोड़कर नष्ट हो जाती हैं। तत्पश्चात् स्पर्श (एक दूसरे के सम्पर्क) में आने तथा आहार के दूषित हो जाने से संक्रामक रोग द्वारा जनपदविध्वंस होता है।

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभक्रोधमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान् वाभिक्रामन्ति, परैर्वाभिक्राम्यन्ते। (च.वि. ३.२१)

इसी प्रकार युद्धादि में अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा जो जनपद का नाश होता है, उसमें भी अधर्म को ही हेतु मानना चाहिए। जो अति लोभी, क्रोधी, मोहयुक्त तथा अभिमानी होते हैं, वे दुर्बलों का अपमान करके अतिलोभादि के कारण अपने स्वजनों या परजनों को मारने के लिए शस्त्र से परस्पर

एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं, दूसरों को मारते हैं या दूसरों के द्वारा स्वयं मारे जाते हैं, इससे जनपद नष्ट हो जाते हैं।

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते।। (च.वि. ३.२२)

उस अधर्म को प्राप्तकर या अन्य अपवित्र व्यवहार एवं विकृत कर्म को पाकर राक्षसादि या अन्य भूत-प्रेतों समूह के द्वारा जनपद के जनपद नष्ट कर दिये जाते हैं।

तथाभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति; ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे।। (च.वि. ३.२३)

जपनद विध्वंस के क्रम में **अभिशाप** भी एक कारण है, जिसका हेतु अधर्म ही है। जो धर्म से विचलित हो गये हैं, ऐसे वे धर्म से पृथक् हुए-हुए गुरुओं, वृद्धजनों, सिद्धजनों, ऋषियों तथा पूज्यजनों का अपमान कर उनके प्रति कदाचार (कुत्सिताचरण) करने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में उन गुरु आदि के द्वारा अनेक पुरुषों वाले कुलों के विनाश के लिए अभिशप्त वे प्रजाएं झटिति भस्म (नष्ट) हो जाती हैं। यह अभिशाप प्रतिव्यक्ति के लिए नियत (निश्चित) कारण वाला होता है, अतः दूसरे बचे हुए लोग अनियत कारण वाले होते हैं अर्थात् शाप की सीमा में नहीं आते हैं।

रोगोत्पत्ति में मूल कारण अधर्म

प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्। आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः [1]शैलेन्द्रसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः

१. 'शैलसार' इति मुद्रिते चरके।

पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः।

तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां सत्त्वानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुरासीत् कृते।। (च.वि. ३.२४)

आचार्य कहते हैं कि प्राचीन समय में भी अशुभ को उत्पन्न करने में **अधर्म** को छोड़कर अन्य कोई दूसरा कारण नहीं था। आदिकाल (कृतयुग) में मनुष्य अदितिपुत्रों के समान तेजस्वी, अति विमल व विपुल प्रभाव वाले तथा देवों, देव-ऋषियों, धर्म, यज्ञ (यज्ञदेवता) विधि (यज्ञविधायक वेद) तथा विधान (यज्ञकर्म) को प्रत्यक्ष करने वाले होते थे। उनका शरीर पर्वत के सदृश सुदृढ़ तथा स्थिर होता था। उनका वर्ण सुन्दर व इन्द्रियाँ पवित्र होती थी। वे वायु के समान बलशाली, वेगवान् व पराक्रमी थे। सुन्दर स्फिक् (HIPS), उपयुक्त परिमाण (लम्बाई-चौड़ाई) एवं सुन्दर आकृति वाले प्रसन्नवदन और हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले थे। सत्यवादी, सरल, दयालु, दानी एवं जितेन्द्रिय होते थे तथा नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन किया करते थे। वे भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, अभिमान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम (ग्लानि) आलस्य और परिग्रह (ममता) से मुक्त व दीर्घ आयु वाले थे। उन उदार मन एवं गुण-कर्म वाले पुरुषों के लिए उस कृतयुग में फल-फसल, औषधियाँ भी

अचिन्त्य रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव व गुणों से युक्त हुआ करती थीं। पर ऐसा क्यों था? क्योंकि कृतयुग (सतयुग) में पृथिव्यादि (पञ्च महाभूत) सर्वगुणसम्पन्न होते थे। जैसे ही धीरे-धीरे कृतयुग बीतने लगा तो कुछ सम्पन्न मनुष्यों के शरीर में अत्यधिक भोग करने से गुरुता आ गई, इससे श्रम (थकावट), श्रम से आलस्य एवं आलस्य से संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ गई। संग्रह से परिग्रह (ममत्व) और परिग्रह से लोभ उत्पन्न हुआ[१], यह लोभ पाप का मूल है और इसी से रोगों का उद्भव शुरू हो गया।

युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते।।(च.वि. ३.२५)
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते।। (च.वि. ३.२६)

इसी क्रम से प्रत्येक युग में धर्म का एकपाद (चतुर्थांश) तथा पञ्चमहाभूतों के गुणों का एकपाद क्रमशः क्षीण हो जाता है और इसी प्रकार गुण-धर्म का नाश होते हुए लोक का नाश हो जाता है। जिस युग में मनुष्य की जितनी आयु बतलायी गयी है, उस युग का शतांश (सौवाँ भाग) समाप्त होने पर उस युग में मनुष्य की आयु एक वर्ष घट जाती है।

एवंवादिनं भगवन्तमग्निवेश उवाच- किन्नु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति।। (च.वि. ३.२८)

इस प्रकार उपदेश देते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने पूछा हे भगवन्! क्या सभी मनुष्यों की आयु निश्चित कालप्रमाण वाली है या नहीं?

---

१. लोभमूलानि पापानि व्याधयो रसमूलकाः।
स्नेहमूलानि दुःखानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्।। (सुभाषितवचन)

आयु में प्रारब्ध व पुरुषार्थ

तं भगवानुवाच-
इहाग्निवेश! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।। (च.वि. ३.२९)

भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को कहा कि अग्निवेश! इस जगत् में प्राणियों की आयु युक्ति (दैव व पुरुषकार के योग) की अपेक्षा करती है। आयु का दीर्घकालिक होना या अल्पकालिक होना तो हमारे दैव और पुरुषकार (प्रारब्ध और पुरुषार्थ) पर निर्भर है।

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्।। (च.वि. ३.३०)

दैव और पुरुषकार का स्वरूप यह है कि पूर्वजन्म में अपने द्वारा किया गया कर्म 'दैव' और दूसरा इस जन्म में किया गया कर्म 'पुरुषकार' शब्द से कहा गया है।

बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः।
दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम्।। (च.वि. ३.३१)

तीन प्रकार के कर्म- उन दोनों दैव और पुरुषकार में कर्मों की प्रधानता और अप्रधानता होती है, इस कारण कर्म तीन प्रकार से देखे गये हैं- १. हीनकर्म २. मध्यकर्म ३. उत्तमकर्म।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा।। (च.वि. ३.३२)
मध्यमां मध्यमस्येष्टा कारणं शृणु चापरम्।
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।। (च.वि. ३.३३)
दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते।
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः।। (च.वि. ३.३४)

उन दैव और पुरुषकार के उदार, प्रशस्त (भद्र, श्रेष्ठ) होने से आयु दीर्घ, सुखमय व निश्चित होती है और जब वे दोनों (दैव, पुरुषकार) निकृष्ट होते हैं तो हमारी आयु भी विपरीत अर्थात् अल्प, दुःखमय व अनियत होती है। जब ये मध्यम कोटि के होते हैं तो हमारी आयु भी सामान्य अवधि, सुख-दुःख मिश्रित तथा अनिश्चित होती है। इसका दूसरा कारण भी सुनो- हीन भाग्य को प्रबल पुरुषार्थ दबा लेता है और प्रबल भाग्य पुरुषकार का पराभव कर देता है, ऐसा देखकर कुछ आचार्य आयु को नियत ही मानते हैं।

कर्म किञ्चित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत्।
किञ्चित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते।। (च.वि. ३.३५)

कुछ महान् कर्म ऐसे होते हैं, जिनका विपाककाल (फल देने का समय) निश्चित होता है, पर कुछ अनियत होते हैं जिनका फल हमें किन्हीं कारण या परिस्थितियों में सहसा ही मिलता है।

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः- यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदायुष्कामाणां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन्; नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः[1] तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयः, न प्रवृद्धोऽग्निः, न विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः, न साहसं, नादेशकालचर्या, न नरेन्द्रप्रकोप इति; एवमादयो हि भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात्।

१. अपरिहार्याः स्युरिति सर्वत्रान्वेति ।

इस प्रकार जब दोनों बातें देखने को मिलती हैं कि कहीं दैव का पुरुषकार के द्वारा और कहीं पुरुषकार का दैव के द्वारा बाध देखा जाता है तो एक पक्ष को ही मान लेना कि आयुमात्र नियत ही होती है या अनियत ही होती है, युक्त नहीं है इसलिए हम यहाँ अनैकान्तिक पक्ष में उदाहरण भी प्रदर्शित करते हैं- यदि आयु का प्रमाण नियत ही हो तो आयुष्य की कामना करने वाले जन मन्त्रपाठ, ओषधियों का प्रयोग, मणिधारण, माङ्गलिककर्म, बलिप्रदान, अपने इष्ट देवता को उपहार देना, यज्ञ-यागादि करना, नियमों का पालन, किये हुए अनिष्ट कर्मों के लिए प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्ति-पाठ, देव-गुरु व सिद्ध-महर्षियों की चरण-वन्दना, तीर्थभ्रमण इत्यादि क्रियाएं और आयुवर्धक यज्ञादि कर्म नहीं करते तथा मनुष्य दुष्टस्वभाव वाले उत्पाती, क्रोधी, चंचल, सांड, हाथी, ऊँट, गधा, अश्व, भैंस, आँधी-तूफान एवं आग से अपनी रक्षा करने में सजग नहीं होते और न ही जलप्रपात, पर्वतों के दुर्गम स्थानों या तेज नदियों की धाराओं से अपनी रक्षा करते तथा न ही मदयुक्त (शराबी), पागल, उद्दण्ड, क्रोधी, चञ्चल, मोहग्रस्त व लोभियों से अपने आपको बचाते, न शत्रुओं से, न अग्नि से या विषैले सर्प-बिच्छुओं आदि से बचने का प्रयत्न करते एवं आयु के नियत होने से दुस्साहस कर्म से भी पीछे न हटते, देशकाल के विपरीत आचरण भी कर देते, राजा के प्रकोप से (मृत्युदण्ड आदि से) नहीं डरते। आयु के नियत परिमाण होने से उपर्युक्त जो मृत्युकारक भाव कहे हैं वे अभाव (नाश) का कारण नहीं बन सकते।

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमा-गच्छेत् प्राणिनां, व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे, नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावार्तं भेषजेनोपपादयेतां, न महर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुः, न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक्

पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा। अपि च सर्वचक्षुषामेतत् परं यदैन्द्रं चक्षुः, इदं चाप्यस्माकं तेन प्रत्यक्षं; यथा पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च[1], अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वमेव, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतां[2]; तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितम्, अतो विपर्यासान्मृत्युः। अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणां च क्रमोपयोगः सम्यक्, त्यागः सर्वेषां चातियोगायोगमिथ्यायोगानां, सर्वातियोगसन्धारणम्, असन्धारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनम्, आरोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति। (च.वि. ३.३६)

इसके साथ जिन्होंने अकालमृत्यु के भय–निवारण का अभ्यास नहीं किया, उन्हें भी अकालमृत्यु से डरना नहीं होगा एवं महर्षियों के द्वारा जो रसायनाधिकार में प्रयोगारम्भ, दीर्घायु के लिये उपदेश व अन्य प्रयोग बतलाए गये हैं, वे सभी व्यर्थ हो जायेंगे। इन्द्र भी अपने वज्र से नियत आयु वाले शत्रु को नहीं मार सकेंगे, अश्विनीकुमार वैद्यों को भी रोगियों को ओषधि देने की आवश्यकता नहीं होगी, महर्षि भी तपस्या के द्वारा यथेष्ट (इच्छानुसार) आयु प्राप्त नहीं कर सकेंगे, सब कुछ जान लिया है जिन्होंने ऐसे इन्द्रसहित ज्ञानी ऋषिगण ओषधियों का अवलोकन, अन्वेषण, उपदेश या प्रयोग भी क्यों करेंगे और भी सुनो- सभी इन्द्रियप्रमाणों में श्रेष्ठ ऐन्द्र चक्षुः (प्रत्यक्ष) प्रमाण से भी हमें प्रत्यक्ष है कि हजारों पुरुषों में जो उठ-उठ कर युद्ध करने वाले हैं या नहीं हैं, उनकी आयु समान नहीं होती। रोग उत्पत्ति होने के बाद चिकित्सा मिलने व न मिलने से आयु में समानता नहीं देखी जाती अर्थात् उपयुक्त समय पर जिन्हें चिकित्सा मिल जाती है

१. अतुल्यायुष्ट्वमिति शेषः । (चक्रपाणिः)

२. उत्सादं (नाशं) प्राप्नुवतामुदपानघटानां चित्रघटानाञ्च। (चक्रपाणिः)

वे ही जीवित रह पाते हैं, अन्य नहीं। विष खाने वाले व न खाने वाले की आयु समान नहीं होती। इसी प्रकार प्रतिदिन जलादि कार्य के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला घट एवं चित्रयुक्त प्रदर्शन मात्र के लिये रखा हुआ घट- ये दोनों समान योगक्षेम[१] वाले नहीं होते अतः हित उपचार, आहार-विहारादि दीर्घ आयु के मूल कारण हैं और इसके विपरीत (अहित आहार-विहारादि) मृत्यु के कारण हैं। देशकाल व अपने गुणों के विरोधी सात्म्य कर्मों और आहार-विहारादि का शास्त्रानुसार सही प्रयोग करना एवं सभी अतियोग, अयोग व मिथ्यायोगों का त्याग, सभी अतियोगों को प्रारम्भ होने से पहले ही रोक देना, गतिमान् व उठते हुए मल-मूत्रादि वेगों का धारण न करना, दुस्साहस कार्यों का वर्जन आरोग्य प्राप्ति में कारण हैं, ऐसा हम देखते हैं तथा अन्यों को उपदेश भी करते हैं।

कालमृत्यु व अकालमृत्यु

तमुवाच भगवानात्रेयः- श्रूयतामग्निवेश! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् तथायुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युः काले। यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद् वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गात् पर्यसनाच्चान्तरावसनमापद्यते तथायुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद् विषमाभ्यवहरणाद् विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद्विधार्यवेगाविधारणाद् भूतविषवाय्वग्निकृतोपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तरावसानमापद्यते, स मृत्युरकाले;

१. किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना 'योग' तथा उसकी रक्षा करना 'क्षेम' कहलाता है।

तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान् मिथ्योपचरितानकालमृत्यून्[1] पश्याम इति।
(च.वि. ३.३८)

भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को कहा कि सुनो अग्निवेश! जैसे यान में लगा हुआ धुरा स्वभाव से ही अक्ष के गुणों से युक्त होता है, वह उस रथयान को लगातार वहन करते हुए अपने प्रमाण से घटते-घटते समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार शरीर को प्राप्त आयु भी स्वभाव से बलवान् होती है और यथावत् (आयुर्वेद के अनुसार) उपचार करते हुए जब वह शनैः शनैः अपने प्रमाण से घटती हुई समाप्त हो जाती है, तो उसे कालमृत्यु कहते हैं। अब पूर्व उदाहरण को लेकर ही कहते हैं कि जैसे उसी धुरे पर अधिक भार देने, विषम मार्ग या अमार्ग में चलाने, अक्षयुक्त चक्र के टूट जाने, सारथी की असावधानी, धुरे की कील निकल जाने, यथासमय स्नेहन (Oiling/Greasing) न करने तथा पलटने से धुरा अपनी आयु से पहले ही घिसकर नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी बलानुसार कार्य न करने, अपनी जठराग्नि के अनुसार आहार न करने या विरुद्ध आहार करने, शरीर को विषमन्यास अर्थात् टेढ़े-मेढ़े विषमरूप में रखने, अति मैथुन करने, कुसङ्गत करने, उदीर्ण अर्थात् उभरे हुए वेगों को रोकने तथा काम-क्रोधादि वेगों को धारण न करने से आयु क्षीण हो जाती है। इसी प्रकार भूत (पञ्च महाभूत के प्रकोप या प्रेतादि, सूक्ष्मजीवों) व विष के प्रकोप से, दूषित-वायु व अग्नि के उपताप से, चोट लगने से, समय पर आहार न लेने तथा चिकित्सा को छोड़ने से निश्चितकाल से पहले शीघ्र ही आयु नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार ज्वरादि रोगों के होने पर गलत चिकित्सा मिलने या चिकित्सा न मिलने वाले ज्वरादि रोगों को अकालमृत्यु के हेतु के रूप में हम देखते हैं।

---

१. अकालमृत्यूनिति अकालमृत्युकरान्। (चक्रपाणिः)

रोगशमन

शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ्छमयन्ति भिषग्विदः[१]।
ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्[२]।। (च.वि. ३.४१)

वैद्यजन उष्ण पदार्थ से होने वाले रोगों की चिकित्सा शीतल द्रव्यों से तथा शीत (ठण्डे) आहार से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा उष्ण पदार्थों से करते हैं।

एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतं भेषजं भवति; यथा- अपतर्पणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः तथा पूरणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेणापतर्पणम्। (च.वि. ३.४२)

इसी प्रकार अन्य रोगों में भी निदान[३] (कारण) से विपरीत औषध करनी चाहिए। जैसे- अपतर्पण के कारण उत्पन्न हुए रोगों का शमन पूरण (तर्पण) के बिना नहीं होता, वैसे ही तर्पण के कारण उत्पन्न हुए रोगों का शमन अपतर्पण के बिना नहीं होता है।

अपतर्पणमपि च त्रिविधं- लङ्घनं, लङ्घनपाचनं, दोषावसेचनं चेति। (च.वि. ३.४३)

अपतर्पण के तीन भेद- लंघन, लंघनपाचन, दोषावसेचन (दोषों का निकालना)।

तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां, लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते; लङ्घनपाचने तु मध्यबलदोषाणां, लङ्घनपाचनाभ्यां हि सूर्यसन्तापमारुताभ्यां

१. भिषजश्च ते ज्ञानवन्तश्च भिषग्विदः। (चक्रपाणिः)
२. भिषग्जितं चिकित्सितं चिकित्सा वा इत्यर्थः। (चक्रपाणिः)
३. इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्। (च.नि.१.३)

पांशुभस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदकं मध्यबलो दोष: प्रशोषमापद्यते; बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति, तद्वद्दोषावसेचनम्। (च.वि. ३.४४)

अल्पदोष वाले मनुष्यों को लंघन करना चाहिए। लंघन से अग्नि व वायु की वृद्धि होती है और उससे अल्पदोष उसी प्रकार सूख जाते हैं जैसे वायु और धूप के योग से अल्पजल सूख जाता है। यदि दोष मध्यबल का हो तो लंघन-पाचन करना चाहिए। लंघन और पाचन से मध्यबल वाले दोष उसी प्रकार शुष्कता को प्राप्त होते हैं जैसे सूर्यताप, वायु तथा धूल-मिट्टी आदि बिखेरने से मध्यम मात्रा का जल सूख जाता है। बढ़े हुए दोषों में दोषावसेचन करना चाहिए। जैसे- धान के खेत में जल एकत्रित हो तो एक ओर से खेत की सीमा तोड़ देने से वह जल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार वमन, विरेचन आदि से दोषावसेचन (दोषों का बाहर निकालना) हो जाता है।

दोषावसेचनमन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवंविधस्य कुर्यात्। तद्यथा- अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयकस्य तीव्राधर्मारुचेरतिक्षीणबलमांसशोणि-तस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसायशसा योगमृच्छतीति।(च.वि.३.४५)

परन्तु दोषावसेचन अथवा अन्य भेषज या शीघ्रकारी ओषधियों का प्रयोग करके ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, जिसकी चिकित्सा में अपयश का भय हो, जो निर्धन हो, जिसकी सेवा करने वाला न हो, जो अज्ञानी होकर भी स्वयं को वैद्य मानता हो, उग्रस्वभाव वाला हो, निंदक हो, जिसकी अधर्म के प्रति अत्यधिक रुचि हो, जिसके शरीर में बल, मांस,

रक्तादि सब क्षीण हो गये हों, जो असाध्य रोग से ग्रस्त हो तथा मुमूर्षुलिङ्ग (अरिष्टों) से युक्त हो। ऐसे रोगी का उपचार करता हुआ वैद्य पापजनक अपयश से लिप्त हो जाता है।

रोगविशेष का त्रिविध ज्ञान

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा- आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति।(च.वि. ४.३)

रोगविशेष का विशेषज्ञान तीन प्रकार से होता है - आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।

तत्राप्तोपदेशो नामाप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृति-विभागविदो[1] निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति; प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते। अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः। (च.वि. ४.४)

आप्तपुरुषों के वचन आप्तोपदेश होते हैं, जो तर्काधारित, स्मृत्याधारित एवं एकांगी नहीं, अपितु निश्चित, अनुभूत एवं सम्पूर्ण ज्ञान वाले होते हैं। जो प्रीति एवं द्वेष (उपताप) रहित दृष्टि रखते हैं, वे 'आप्त' होते हैं। ऐसे गुण वाले उन आप्तों के वचन ही 'प्रमाण' होते हैं, किन्तु मत्त, उन्मत्त, मूर्ख अनुरक्त व दोषयुक्त का अदुष्ट (दोषरहित) वचन भी प्रामाणिक नहीं होता। जो ज्ञान स्वयं इन्द्रियों और मन के संयोग से उपलब्ध किया जाता है, वह 'प्रत्यक्ष' है। युक्ति की अपेक्षा रखने वाला तर्क ही 'अनुमान' है।

---

१. वितर्कः कथंता अनिश्चितज्ञानमिति यावत्, स्मृतिः स्मरणज्ञानं, विभाग एकदेशः, एतद्विपर्ययान्निश्चयेनानुमानेन च कात्स्न्र्येन च ये भावान् जानते, तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः। (चक्रपाणिः)

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति, न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम्, अनुमानं च; त्रिविधा वा सहोपदेशेन। (च.वि.४.५)

इस तीन प्रकार के ज्ञानसमुदाय (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान) के द्वारा पहले सम्पूर्ण रोग की सब प्रकार से परीक्षा कर उत्तर काल में जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह निर्दोष होता है। किसी सम्पूर्णता से जानने योग्य विषय में उसके एकदेश के ज्ञान के द्वारा ठीक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

इस त्रिविध ज्ञानसमुदाय में पहले आप्तोपदेश से ज्ञान होता है, तत्पश्चात् प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा परीक्षा होती है। यदि पहले किसी विषय में उपदेश प्राप्त नहीं है तो परीक्षा करता हुआ कोई प्रत्यक्ष और अनुमान से क्या परीक्षा करेगा? अर्थात् कुछ नहीं, परन्तु आप्तोपदेश से सम्पन्न परीक्षकों की प्रत्यक्ष एवं अनुमान से दो प्रकार की परीक्षा होती है। आप्तोपदेश के साथ यह परीक्षा तीन प्रकार की हो जाती है।

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः- रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात्; तस्मिन्निियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते। (च.वि. ४.६)

मनीषी लोग यहाँ यह उपदेश करते हैं- एक-एक रोग को इस प्रकार जानना चाहिए कि उस रोग का प्रकोप इस प्रकार है, वातादि कारण इस

प्रकार के हैं, रोग का उत्थान (बढ़ना) इस प्रकार से होता है, रोग का स्वभाव इस प्रकार का है, रोग का उत्पत्ति स्थान (मन, शरीर आदि) ऐसा है, इस प्रकार की वेदना वाला है, इस प्रकार की संरचना वाला है, इस प्रकार के शब्द (ध्वनि), स्पर्श (छूने पर ऐसे-ऐसे अनुभव वाला) रूप, रस व गन्ध वाला है, इस प्रकार के उपद्रव वाला, रोग इस प्रकार बढ़ता है, स्थिर रहता है, घटता है, ऐसा उस रोग का भावी फल है, इस नाम वाला (ऐसा उस रोग का नाम है), इस प्रकार के योग वाला है अर्थात् रोग किन-किन औषधयोगों से सम्बन्ध रखने वाला है, उसमें प्रतिकार के लिए यह प्रवृत्ति (पथ्य) है और यह निवृत्ति (अपथ्य) है- ये सब आप्तोपदेश से जाना जाता है।

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा- अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत; वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः, शरीरप्रकृतिविकारौ, चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत; रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादेवावगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्, एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत; गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत; स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृति युक्तम्। इति प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च परीक्षणमुक्तम्।

(च.वि. ४.७)

प्रत्यक्ष से रोग के तत्त्व को जानने का इच्छुक वैद्य, रसनेन्द्रिय को छोड़कर सभी इन्द्रियों से रोगी के शरीरगत सभी इन्द्रियविषयों की परीक्षा इस प्रकार करे-

आँतों में कूजन (शब्द), सन्धियों का स्फोटन, अंगुली-पर्वों में स्फोटन, रोगी के स्वरविशेष तथा अन्य भी शरीर में जो कास, हिक्कादि के शब्द हों, उन सबकी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुनकर परीक्षा करे।

वर्ण (रंग), संस्थान (डीलडौल/आकार), (शरीर के सभी अंगों का) प्रमाण, छाया (मुखकान्ति या म्लानता), शरीर की प्राकृतिक और विकृत अवस्था तथा इनके अतिरिक्त जो अन्य भी चक्षुर्विषय यहाँ नहीं कहे गये हैं, उनकी भी आँखों से देखकर परीक्षा करे। रोगी के शरीर में स्थित रस की रसनेन्द्रिय का विषय होने पर भी अनुमान से ही परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्यक्ष से इस रस का ग्रहण सम्भव नहीं अत: रोगी से पूछकर उसके मुख का रस जानना चाहिए। जुंए, लीख आदि के शरीर से दूर हट जाने से शरीर में विरसता का अनुमान करना चाहिए। मक्खियों के पास जाने से शरीर में मधुर रस का अनुमान करना चाहिए। रक्तपित्त का सन्देह होने पर क्या रक्त शुद्ध (धारिलोहित) है या अशुद्ध (लोहितपित्त), इसकी परीक्षा कुत्ते और कौए को खिलाकर करनी चाहिए। यदि ये रक्त को खा लें तो शुद्ध अन्यथा अशुद्ध जानना चाहिए। इसी प्रकार रोगी के शरीरगत अन्य रसों का अनुमान करें। रोगी के सम्पूर्णशरीरगत प्राकृतिक और वैकारिक गन्धों की घ्राणेन्द्रिय द्वारा परीक्षा करें। शरीर के समस्त प्राकृतिक, वैकारिक स्पर्शों (उष्णता, शीतता आदि) की हाथ से परीक्षा करें। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और उपदेश से परीक्षा कही गयी है।

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावा:। तद्यथा- अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि

शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थान-मविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, सञ्ज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्ति-सात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण[१], गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेण इति, ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति।। (च.वि. ४.८)

निश्चित ही अन्य भी अनेक भाव इसी प्रकार से अनुमान द्वारा जानने योग्य होते हैं। जैसे- अग्नि (जठराग्नि) की परीक्षा पाचनशक्ति से करें, बल की व्यायामशक्ति से, श्रोत्रादि इन्द्रियों की शब्दादि विषयों के ग्रहण करने से, मन की उसके चिन्त्यादि विषयों के प्रति अव्यभिचारिता (अभग्नता) से, विज्ञान की व्यवसाय (निश्चयात्मक बुद्धि) से, रजोगुण की आसक्ति से, मोह की अविज्ञान से, क्रोध की अभिद्रोह से, शोक की दैन्य से, हर्ष की आमोद (प्रसन्नता) से, प्रीति की तुष्टि से, भय की विषाद से, धैर्य की अविषाद से, वीर्य (उत्साह) की उत्थान (उद्योग) से, अवस्थान (स्थिरता) की अविभ्रम (भ्रान्तिरहितता) से, श्रद्धा की अभिप्राय से(मानसी प्रीति/लगाव), मेधा की विषयग्रहण से, चेतनता की किसी का नाम पुकारने से, स्मृति की स्मरण से, लज्जा की संकोच से, शील (स्वभाव) की व्यवहार से, द्वेष की प्रतिषेध (मना करने) से, उपधि

१. वयो-भक्ति-सात्म्य-व्यधिसमुत्थानानां काल-देश-उपशय-वेदनाविशेषेण यथासंख्यमभिसम्बन्धः। (चक्रपाणिः)

(छल,कपट) की अनुबन्ध (परिणाम) से, धृति की अलौल्यता (लालच न करने) से, वश्यता की आज्ञापालन से, अवस्था की कालविशेष से, भक्ति (खान-पान की इच्छा) की देशविशेष में जन्म लेने से, सात्म्य की अनुकूलता से, व्याधिकारणों की वेदना-विशेष से, गूढलक्षण वाले रोगों की उपशय[1] (सात्म्य अनुकूल) और अनुपशय (असात्म्य) से, दोषमात्राविशेष की अपचारविशेष (अपथ्यविशेष) से, आयुक्षय की अरिष्टों से, श्रेय (शुभ) की कल्याणाभिनिवेश से, निर्मल मन की विकाररहितता से परीक्षा करनी चाहिए। ग्रहणी की मृदुता या दारुणता से एवं दु:स्वप्नदर्शन, अभिप्राय (मानसी प्रीति), द्वेष, इष्ट, सुख और दु:ख की परीक्षा रोगी से प्रश्न करके करनी चाहिए।

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्।। (च.शा. ४.१०)

विषय को जानने वाला वैद्य, सभी विषयों का सब प्रकार से विचार कर यथासम्भव यथार्थता का निश्चय करे, उसके पश्चात् कार्य (चिकित्सा) में प्रवृत्त हो।

रोगोत्पत्ति के कारण

रोगा: कुत: संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम्।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकारा: कथं न शान्ता: पुनरापतेयु:।।
(च.शा. २.३९)

पाँच प्रश्न - (१) रोग किस कारण उत्पन्न होते हैं? (२) इन रोगों को शान्त करने वाले साधन कौन-से हैं? (३) हर्ष का क्या कारण है? (४) शोक का क्या कारण है? (५) शारीरिक व मानसिक विकार शान्त होकर किस प्रकार पुन: उत्पन्न नहीं होते?

---

१. यस्माच्चेदमस्योपशेते तेनेदमस्य सात्म्यमिति जायते।

प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः।।

(च.शा. २.४०)

रोग के कारण- रोगों के उत्पन्न होने के तीन कारण हैं- १. प्रज्ञापराध, २. इन्द्रियार्थों का विषमयोग (अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग) तथा ३. काल का परिणाम।

रोगों का संशमन- सभी रोगों का शमन (चिकित्सा) तीन प्रकार के साधनों से होता है- (१) समयोगयुक्त ज्ञान (२) इन्द्रियार्थों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध) का समयोग और (३) काल का समयोग से युक्त होना। प्रकृत में ध्यातव्य यह है कि प्रज्ञापराध से बचना ही रोगों के शमन में प्रमुख है जोकि पूर्ण रूप से मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र में है। इन्द्रियों के विषम योग को भी मनुष्य कुछ सीमा तक नियन्त्रित कर सकता है,पूर्णरूप से नहीं। परिणाम काल तो मनुष्य के अधिकार-क्षेत्र से बहिर्भूत है।

धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
शरीरसत्त्वप्रभवास्तु रोगास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः।।

(च.शा. २.४१)

हर्ष एवं शोक का कारण- धर्म से युक्त सभी क्रियाएँ हर्ष (प्रसन्नता, निरोगता) का कारण बतायी गयी हैं। इससे विपरीत (अधर्मयुक्त क्रियाएँ) पुरुष को शोक के वश में कर देती हैं।

रोगों के पुनरुद्भव न होने में कारण- जब आत्मा से शरीर और मन का सम्बन्ध सदा के लिए छूट जाता है अर्थात् मुक्ति हो जाती है, तब रोगों का पुनरुद्भव नहीं होता।

रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च।।

(च.शा. २.४२)

शरीर और मन की परम्परा का अन्त- रूप (शरीर) की और सत्त्व (मन) की जो सन्तति (परम्परा) है, उसका आदि (प्रारम्भ) नहीं कहा गया है; क्योंकि उसका कोई कालनिर्धारण नहीं है। उत्कृष्ट धैर्य और उत्तमस्मरणशक्ति तथा सात्त्विक बुद्धि से शरीर और मन की सन्तति का विच्छेद (उन्मूलन) होता है।

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्।।
(च.शा. २.४३)

शारीर-मानस रोगों की व्यावहारिक चिकित्सा- शरीर तथा मन को आश्रय बनाकर उत्पन्न रोगों से बचने के लिए पूर्व में ही अनागत चिकित्सा करनी चाहिए। इसके लिये रोगोत्पादक कारणों से बचना तथा स्वस्थवृत्त-सम्बन्धी नियमों का पालन करना चाहिए। इन्द्रियों को वश में रखने वाले पुरुष को रोग कष्ट नहीं पहुँचाते, यदि उसका दैव (पूर्वजन्म कृतकर्म) उस काल में रोगजनक न हो तो।

दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् तत् पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुर्हि समः स एव।। (च.शा.२.४४)

रोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का कारण- पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को 'दैव' (भाग्य) कहा जाता है तथा इस जन्म में किये गये कर्मों को 'पौरुष' (पुरुषार्थ) कहा जाता है। जब दैव और पौरुष कर्म विषम (प्रतिकूल) होते हैं, तब वे रोगों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) के कारण होते हैं और जब दैव एवं पौरुष कर्म सम (अनुकूल) होते हैं, तब रोगों की निवृत्ति (विनाश) के कारण होते हैं।

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।।
(च.शा. २.४५)

रोगोत्पत्ति से पहले प्रतिकार- जो मनुष्य हेमन्त ऋतु में संचित दोष (कफ) को वसन्त ऋतु (चैत्र) में शोधनविधि द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है, इसी प्रकार जो ग्रीष्म में संचित दोष (वायु) को वर्षा ऋतु में तथा वर्षा ऋतु में संचित (पित्त) को शरद् ऋतु में शोधनविधि द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है, वह कभी ऋतुजन्य रोगों से आक्रान्त नहीं होता है।

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः।।

(च.शा. २.४६-४७)

नीरोगी कौन रहता है?- जिस मनुष्य की मति, कर्म एवं वचन सुखानुबन्धी (सुखद परिणाम वाले) होते हैं, जिसका मन अपने वश में है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो ज्ञानी, तपस्वी और योगपरायण होता है, उसे रोग नहीं सताते हैं।

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः। (च.शा. ६.३)

शरीरविचय की उपयोगिता- शरीरविचय[१] अर्थात् शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग व रस-रक्तादि का विभागशः ज्ञान शरीर के आरोग्य[२] के लिए अभीष्ट है, क्योंकि शरीरतत्त्व को जानकर ही शरीर के लिए उपकारक भावों में ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिए कुशल चिकित्सक शरीरविचय की प्रशंसा करते हैं।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकार-समुदायात्मकं समयोगवाहि। यदा ह्यस्मिञ् शरीरे धातवो

---

१. शरीरस्य विचयनं विचयः शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः।
२. शरीरोपकारार्थमिति शरीरारोग्यार्थम्। (च.शा. ६.३, चक्रपाणिः)

वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च। (च.शा. ६.४)

शरीर की परिभाषा- आत्मा (चेतना[1]) का अधिष्ठान, पञ्चमहाभूतों (पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश) के विकारों का समुदायस्वरूप और उचित प्रमाण में धातुओं के मेल से सम्यक् नीरोगसम्पन्न (समयोगवाहि[2]) 'शरीर' कहलाता है। जब इस शरीर में धातुएँ विषमता को प्राप्त होती हैं तब यह (शरीर) दु:ख (क्लेश) तथा मृत्यु (विनाश) को प्राप्त होता है। धातुओं का वैषम्यगमन धातुओं के वृद्धिह्रास[3] से है, यह वृद्धिह्रास धातुओं के एकांश व सम्पूर्णता से होता है।

अलसक एवं विसूचिका की सम्प्राप्ति (अष्टांगहृदय)

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिता:।। (अ.हृ.सू. ८.४)
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते।
विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विसूचिकाम्।। (अ.हृ.सू. ८.५)
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मन:।

असंयमी पुरुषों में आहार की अति मात्रा से प्रकुपित वात आदि दोष आम और दूषित आहार द्वारा एक साथ कुपित होकर और उसी आम अन्न में मिलकर आमाशय की गति को रोकते हुए 'अलसक' नामक रोग उत्पन्न करते हैं अथवा आम से दूषित आहार को ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग से वेगपूर्वक निकालते हुए 'विसूचिका' (हैजा/Cholera) नामक रोग उत्पन्न करते हैं।

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते।। (अ.हृ.सू. ८.६)
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसक: स्मृत:।

---

१. चेतनाशब्देन ज्ञानकारणमात्मोच्यते।
२. समेन उचितप्रमाणेन धातूनां मेलकेन सम्यङ्नीरोगतया वहतीति समयोगवाहि।
३. वृद्धिह्रासगमनं चेह व्यस्तं समस्तं च वैषम्यं ज्ञेयम्। (च.शा. १.४, चक्रपाणि:)

अलसक की परिभाषा - जिस रोग में आहार न तो ऊर्ध्वमार्ग से और न ही अधोमार्ग से निकलता है, बल्कि समुचित रूप से बिना पचे आमाशय में ही निष्क्रिय होकर पड़ा रहता है, उसे 'अलसक' रोग कहते हैं।

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः।। (अ.हृ.सू. ८.७)
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका।

विसूचिका की निरुक्ति- अत्यधिक प्रकुपित वात आदि दोष शरीर में विविध प्रकार की वेदनाओं और सुई चुभने जैसी पीड़ा को उत्पन्न करते हैं इसलिए इसे 'विसूचिका' रोग कहते हैं।

आमदोष (आमविष) के निदान एवं लक्षण

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम्।। (अ.हृ.सू. ८.१३)
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम्।
विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः।।

विरुद्धाहार एवं अध्यशन का सेवन करने वाले और अजीर्णावस्था में आहार करने वाले व्यक्ति के विष के लक्षणों वाले विषसंज्ञक अत्यन्त कष्टदायक (महाघोरम्) 'आमदोष' की चिकित्सा का त्याग कर देना चाहिए। विष के लक्षणों से युक्त होने के कारण आमदोष को 'आमविष' भी कहा जाता है। विष के तुल्य आशुकारी होने एवं विरुद्धोपक्रम (आमदोष में उष्ण उपचार एवं विष में शीतोपचार) होने के कारण आमविष के रोगी की चिकित्सा न करने की सलाह दी गई है।

स्वतन्त्र-परतन्त्र भेद से द्विविध रोग

द्विधा स्वपरतन्त्रत्वाद्व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या, जाताः पश्चादुपद्रवाः।। (अ.हृ.सू. १२.६०)

रोग स्वतन्त्र एवं परतन्त्र होने के कारण पुनः दो प्रकार के होते हैं। परतन्त्र रोग भी दो प्रकार के होते हैं- १. पूर्वजरोग (पूर्वरूप)- मुख्य रोग से पूर्व होने वाले रोग 'पूर्वरूप' कहलाते हैं तथा २. पश्चाज्जरोग (उपद्रव)- मुख्य रोग के पश्चात् उत्पन्न होने वाले रोग 'उपद्रव' कहलाते हैं।

स्वतन्त्र एवं परतन्त्र रोग के लक्षण

यथास्वजन्मोपशयाः स्वतन्त्राः स्पष्टलक्षणाः।
विपरीतास्ततोऽन्ये तु विद्यादेवं मलानपि।। (अ.हृ.सू. १२.६१)
तांल्लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान् प्रतिज्वरम्।

अपने निदानों से उत्पन्न एवं अपनी ही चिकित्सा से शान्त होने वाले और स्पष्ट लक्षणों वाले रोग 'स्वतन्त्र रोग' कहलाते हैं। स्वतन्त्र रोगों के विपरीत होने वाले रोग 'परतन्त्र रोग' कहलाते हैं। इसी प्रकार सावधान होकर प्रत्येक ज्वर में विकार पैदा करने वाले कुपित दोषों (मलों) को भी स्वतन्त्र एवं परतन्त्र रूप में जानना चाहिए।

चिकित्सा में रोग की प्रकृति आदि के ज्ञान का महत्त्व

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानान्तराणि च प्राप्य विकारान् कुरुते बहून्।।(अ.हृ.सू.१२.६५)
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
बुद्ध्वा हेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम्।। (अ.हृ.सू. १२.६६)

वही वातादि दोष हेतुभेद (समुत्थानविशेष) से कुपित होकर और स्वस्थान को छोड़ अन्य स्थानों में जाकर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं इसलिए रोग की प्रकृति (स्वभाव), अधिष्ठान-भेद और कारण-विशेष को जानकर तदनुसार शीघ्र ही चिकित्सा-कार्य करना चाहिए।

विविध रोगों के नामकरण का मूल

एतानि लिङ्गानि च तत्कृतानां सर्वामयानामपि नैकनाम्नाम्।
कश्चिद् भवेत् प्राप्तिविशेष एषां सञ्ज्ञान्तरं येन तु सम्प्रयाति।।

(यो.श. ९३)

उन (वात, पित्त एवं कफ) के असन्तुलन से उत्पन्न हुए अनेक नामों वाले नाना रोगों के मुख्यत: ये ही लिङ्ग (लक्षण) होते हैं, जो पूर्व श्लोकों में बतलाए गए हैं। इन्हीं लक्षणों में से जिस किसी की विशेष प्राप्ति हो, उसके आधार पर ही नामान्तर (संज्ञान्तर/अलग नाम) हो जाते हैं।

साम व्याधि के लक्षण

आलस्यतन्द्राहृदयाविशुद्धि-दोषाप्रवृत्त्याकुलमूत्रताभि:।
गुरूदरत्वारुचिसुप्तताभिरामान्वितं व्याधिमुदाहरन्ति।।

(यो.श. ९४)

आलस्य, तन्द्रा (ऊंघना), हृदय की अशुद्धि (हृदय का अवरुद्ध सा होना), दोषाप्रवृत्ति (दोष अर्थात् मल की अप्रवृत्ति= विसर्जन न होना), मूत्र का गाढ़ापन व गन्दलापन, पेट का भारीपन, अरुचि (भोजन के प्रति अनिच्छा) एवं सुप्तता (अंगों में सुन्नपन)- इन लक्षणों से आमयुक्त रोग पहचाना जाता है अर्थात् उक्त लक्षण हों तो जानना चाहिए कि यह रोग आमसहित है। 'दोषाप्रवृत्ति' में दोष शब्द मल का वाचक है। आयुर्वेद में मल के लिए अन्यत्र भी दोष शब्द प्रयुक्त हुआ है, यथा- 'न घृतं बहुदोषाय देयं यत्र विरेचनम्'।

आम-निवारक उपाय

आमं जयेल्लङ्घनकोलपेयालघ्वल्पान्नसूपौदनतिक्तयूषै:।
विरूक्षण-स्वेदन-पाचनैश्च संशोधनैरूर्ध्वमधस्तथा च।।

(यो.श. ९५)

लङ्घन (उपवास), कोलपेया (पिप्पली आदि कटु रस वाले द्रव्यों के साथ साधित पेया अथवा कोष्ण थोड़ी-थोड़ी गर्म पेया), संस्कार द्वारा लघु (हल्के) बने तथा अल्प मात्रा वाले सूपौदन (दाल-भात), तिक्तरस वाले यूष, विरूक्षण (शरीर में रूखापन पैदा करने वाले द्रव्य), स्वेदन एवं पाचन (आम का पाचन करने वाले सोंठ, कालीमिर्च आदि) द्रव्यों से आम का निवारण करना चाहिए। इसी प्रकार ऊर्ध्वशोधन (शिरोविरेचन/नस्य) तथा अध:शोधन (विरेचन/दस्त) से भी आम का निवारण करना चाहिए।

रोगी तथा परिचारक

परिचारक एवं रोगी के गुण (चरक)

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुण: परिचरे जने।। (च.सू.९.८)

१.उपचार अर्थात् रोगी की सेवा में दक्षता जैसे कि पैर दबाना, मालिश करना तथा पथ्य का ध्यान रखना आदि २.पटुत्व गुणयुक्त ३.मालिक के प्रति अनुराग ४.शरीर, मन और वचन की शुद्धि- ये चार गुण परिचारक के बताए गए हैं।

त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुरा:, ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा- वातल:, पित्तल: श्लेष्मलश्चेति। तेषामिदं विशेषविज्ञानं वातलस्य वातनिमित्ता:, पित्तलस्य पित्तनिमित्ता:, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधय: प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति।
(च.वि. ६.१५)

तीन प्रकार के मनुष्य सदैव आतुर (रोगी) होते हैं, परन्तु अन्य शास्त्रों को मानने वाले वैद्य इनको आतुर नहीं मानते हैं। ये तीन इस प्रकार हैं वातल, पित्तल एवं श्लेष्मल। उनके विशेष लक्षण इस प्रकार हैं- वातल मनुष्यों को

वातजन्य, पित्तल मनुष्यों को पित्तजन्य व श्लेष्मल मनुष्यों को श्लेष्मजन्य व्याधियाँ प्राय: होती रहती हैं और वे उनमें प्रधानता से रहती हैं।

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः।। (च.सू. ९.९)

१.स्मृति (रोग के कारणों की स्मृति, वैद्य के आदेश की स्मृति) का अच्छा होना २.वैद्य के निर्देशों को अच्छे प्रकार से सुनकर उनका यथावत् पालन करना ३.भयरहित होना ४.वैद्य को रोग के विषय में आवश्यक जानकारी देना- ये चार गुण रोगी के लिए बताए गए हैं।

परिचारक- गुण (अष्टांगहृदय)

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि॥(अ.हृ.सू.१.२९)

परिचारक के गुण- १. परिचारक रोगी के प्रति स्नेह रखने वाला हो २. शरीर एवं मन से पवित्र हो ३. सेवा-कार्य में कुशल हो और ४. बुद्धिमान् हो।

रोगी के गुण- १. रोगी धनवान् हो २. वैद्य की बात को मानने वाला हो ३. अपने रोग के लक्षणों को बताने में समर्थ हो ४. सत्त्वबल (धैर्य) वाला हो।

बुद्धिमान् रोगी का लक्षण

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाऽभ्यन्तरेण वा।
कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा।। (च.सू. ११.५६)

रोग के उत्पन्न होने पर बुद्धिमान् रोगी बाह्य शोधन, अन्त:शोधन और शस्त्र-चिकित्सा (Surgery) द्वारा शीघ्र ही आरोग्य और सुख अर्थात् शर्म[1]

१. शर्म सुखमारोग्यमिति यावत्। (चक्रपाणि:)

की प्राप्ति करता है। भाव यह है कि बुद्धिमान् रोगी बिना देर किये शीघ्र ही रोग की चिकित्सा करवा कर कष्ट से मुक्त हो जाता है।

मूर्ख रोगी का लक्षण

बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते।
उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः।। (च.सू. ११.५७)

बाल[१] (नासमझ) रोगी तो स्वयं मोहवशाद् अथवा प्रमाद[२] के कारण से रोगों को समझ नहीं पाता, परन्तु वह मूर्ख प्रथम उत्पन्न होने वाले रोग को शत्रु के समान न देखकर अथवा अनदेखा करके दुःख को प्राप्त करता है।

न मूढो लभते संज्ञां तावद्यावन्न पीड्यते।
पीडितस्तु मतिं पश्चात्कुरुते व्याधिनिग्रहे।। (च.सू. ११.५९)

मूर्ख रोगी को जब तक रोग पीड़ा नहीं देता तब तक वह संज्ञा[३] (चेत) में नहीं आता, परन्तु पीड़ित होने पर चिकित्सा के विषय में विचार करता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है और रोग बढ़ जाता है।

रोग-परीक्षा

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः।। (अ.हृ.सू. १.२२)

वैद्य को रोगी की परीक्षा दर्शन (देखकर), स्पर्शन (स्पर्श कर) एवं प्रश्न से करनी चाहिए; ये रोगी की परीक्षा की तीन विधियाँ हैं। रोग की परीक्षा निदान, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय एवं सम्प्राप्ति- इन पञ्च निदानों द्वारा करनी चाहिए।

---

१. बाल: अज्ञः। (चक्रपाणिः)
२. प्रमाद: बुद्ध्वापि रोगमप्रतीकारः। (चक्रपाणिः)
३. संज्ञा सम्यग्ज्ञानं व्याधिरयं त्वरया प्रतिकर्तव्य एवमाकारम्। (चक्रपाणिः)

त्याज्य रोगी

त्यजेदार्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषं द्विषम्।
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम्।। (अ.हृ.सू. १.३४)
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम्।

जिससे राजा आदि महाजन लोग द्वेष करते हों, जो राजाओं एवं वैद्यों का शत्रु हो, जिसके पास चिकित्सोपयोगी साधन न हों, जो व्यग्र (अस्थिर चित्त वाला) हो, जो वैद्य की आज्ञा को न मानता हो, जिसकी आयु शेष न हो, जो अत्यधिक क्रोधी हो, शोक से अत्यन्त दुःखी हो, अल्पसत्त्व (डरपोक) हो, दूसरों के उपकार को न मानता हो और वैद्यकीय ज्ञान के न होते हुए भी स्वयं को वैद्य समझता हो- ऐसे रोगी की चिकित्सा बुद्धिमान् वैद्य को नहीं करनी चाहिए।

रोगी की दशविध-परीक्षा

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः।।
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्।।

(अ.हृ.सू. १२.६७-६८)

१. दूष्य (रस आदि धातुएँ तथा पुरीष आदि मल) २. देश (जांगल आदि देश तथा शरीर) ३. बल (सहज, कालज एवं युक्तिकृत) ४. काल (शीत-उष्ण-वर्षा आदि) ५. अग्नि (सम, विषम, तीक्ष्ण एवं मन्द) ६. प्रकृति (सप्तविध शारीरिक प्रकृतियाँ) ७. वय (बाल, युवा एवं वृद्ध) ८. सत्त्व (सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक मन) ९. सात्म्य (प्रवर, अवर एवं मध्य) १०. आहार (हित-अहित आहार) आदि का और रोगों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थाओं का विचार करते हुए चिकित्सा-कार्य करने वाला वैद्य कभी भी असफल नहीं होता है।

वैद्य

तत्त्ववित् वैद्य की परिभाषा

योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते।
किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक्।। (च.सू. १.१२२)

जो वैद्य ओषधि के नाम और रूप को अच्छी प्रकार जानता है, वह उन ओषधियों का तत्त्ववित् है। फिर उस वैद्य का क्या कहना जो ओषधि को सब प्रकार (नाम, रूप, गुण, कर्म, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि) से विशेषरूप से जानता है।

योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः।। (च.सू. १.१२३)

जो वैद्य प्रत्येक रोगी की विधिवत् परीक्षा[1] करके देश-काल आदि का विचार कर तदनुरूप ओषधियों की युक्ति को जानता है, उसे ही श्रेष्ठतम वैद्य[2] जानना चाहिए।

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकालौ च शरीरं च स नो भिषक्।। (च. वि. १.२६)

जो रसों, द्रव्यों, दोषों एवं विकारों को उनके प्रभावपूर्वक जानता है और देश, काल व शरीर को भी जानता है, वही वस्तुतः वैद्य है।

योग्य औषध एवं श्रेष्ठ वैद्य

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते।
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्।। (च.सू. १.१३४)

१. दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्। (अ.हृ.सू. १.२२)
२. दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्। (अ.हृ.सू. १.२८)

उसी औषध को उपयोगी व युक्त समझना चाहिए जो रोगी को आरोग्य दान देने में समर्थ हो और वही वैद्य श्रेष्ठ है जो रोगियों को रोगों से मुक्त कर सके।

सम्यक्प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम्।
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम्।। (च.सू. १.१३५)

सभी कर्मों की सफलता उन कर्मों के समुचित प्रयोग को द्योतित करती है। चिकित्सा कर्म की सफलता ही सभी गुणों से युक्त वैद्य का परिचय कराती है।

वैद्य के गुण

स्मृतिमान् हेतुयुक्तिज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान्।
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति।। (च.सू. २.३६)

स्मृतिमान् (मेधावी), रोगों के हेतु[१] और युक्ति (औषधयोजना) का जानकार जितात्मा (जितेन्द्रिय) तथा प्रतिपत्तिमान्[२] (यथासमय शीघ्र निर्णय करने वाला) चिकित्सक ओषधियों के संयोग से रोगी की चिकित्सा करने में सक्षम होता है।

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्।। (च.सू. ९.६)

१.शास्त्रज्ञान में निखार २.दृष्टकर्मता अर्थात् चिकित्सा कर्म का अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव ३. दक्षता एवं ४. शुचिता अर्थात् शरीर एवं मन की पवित्रता- ये वैद्य के चार आवश्यक गुण हैं।

---

१. निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति (च० नि० १.६)
२. प्रतिपत्तिरुत्पन्नायामापदि झटिति यथाकर्त्तव्यताज्ञानं, तद्वान् प्रतिपत्तिमान्।
(च.सू. २.३६ चक्रपाणिः)

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कात्स्न्र्येन वेद लोकसुखप्रदमिति।। (च.शा. ६.१९)

शरीर-ज्ञान का फल- जो चिकित्सक सम्पूर्ण शरीर को सब प्रकार से सब कालों में यथावत् जानता है, वही लोक-सुखदायक आयुर्वेद को पूर्णतया जानता है।

उत्तम वैद्य के गुण

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते।। (च.सू. ९.२१)
विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः।। (च.सू. ९.२२)
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन्प्राणिसुखप्रदः।। (च.सू. ९.२३)

जिस वैद्य में १.वैद्यक शास्त्र का ज्ञान २.शास्त्रसम्बन्धित तर्क-वितर्क ३.विज्ञान (विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान अथवा विशुद्ध ज्ञान) ४.अच्छी स्मरणशक्ति ५.रोगों की चिकित्सा करने में सदा प्रयत्नशील रहना ६.चिकित्सा करने का अभ्यास- ये छः गुण हैं उसकी चिकित्सा से साध्य रोग अवश्य ही दूर हो जाते हैं।

१. शास्त्रज्ञान २.निर्मलबुद्धि, ३.चिकित्सासम्बन्धित कर्मों में अच्छी दृष्टि ४.चिकित्सा कर्म का अभ्यास ५.रोगनिवारण में सफलता की प्राप्ति ६.सद्गुरु का आश्रय- इनमें से एक गुण भी व्यक्ति को वैद्यपद पर प्रतिष्ठित कर सकता है, परन्तु जिसमें ये सभी गुण विद्यमान होते हैं, वह सम्मानित वैद्यपद को प्राप्त कर सभी प्राणियों के लिए सुखदायक बन जाता है।

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति।। (च.सू. ९.२४)

शास्त्र ज्योतिस्वरूप है और अपनी बुद्धि नेत्रस्वरूप (दर्शन) है, जिसके द्वारा विषयों को प्रकाशित किया जाता है। उन दोनों (शास्त्र और बुद्धि) से समृद्ध होकर वैद्य कभी भी चिकित्सा में भूल नहीं करता अर्थात् उसे सफलता अवश्य ही मिलती है।

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्यव्यपाश्रयाः।
तस्मात्प्रयत्नमातिष्ठेद्भिषक्स्वगुणसंपदि।। (च.सू. ९.२५)

चिकित्सा में औषध, परिचारक और रोगी- ये तीनों चरण वैद्य के आश्रित रहते हैं अतः वैद्य को अपनी गुणसम्पदा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मैत्री[१] कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु[२] भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा।। (च.सू. ९.२६)

१.प्राणिमात्र के प्रति मित्रता का व्यवहार २.रोग से पीड़ित मनुष्यों के प्रति करुणा की भावना ३.साध्य रोगियों के प्रति स्नेहयुक्त व्यवहार और ४.असाध्य अथवा मरणोन्मुख रोगियों के प्रति उपेक्षा की भावना- यह चार प्रकार की वैद्यवृत्ति होनी चाहिए।

प्राणाभिसर (प्राणरक्षक) वैद्य के लक्षण

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषग्चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते।। (च.सू. ९.१८)

शास्त्र को धारण करने वाला, शास्त्र के अर्थ का ज्ञाता, स्वयं प्रेरित होकर चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त हुआ तथा चिकित्सासम्बन्धी

---

१. आर्तेषु कारुण्यमितिकृत्वा 'मैत्री अनार्तेषु' इति आक्षिप्यते। (चक्रपाणिः)
२. प्रकृतिरिह मरणं, प्रकृतिरुच्यते स्वभाव; तथा- "इदमस्मान्मुहूर्तात् ...... स्वभावमापत्स्यते" (च.अ. ३०), मरणमित्यर्थः। मरणसमीपगतत्वादुच्यते 'प्रकृतिस्थेषु' इति । (चक्रपाणिः)

कर्मों को बार-बार देखने वाला- ये प्राणाभिसर[1] (प्राणरक्षक) वैद्य के चार गुण होते हैं।

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः।। (च.सू. ९.१९)

रोगोत्पत्ति के कारण, रोगों को पहचानने के लक्षण, उद्भूत हुए रोगों के प्रशमन और रोग को पुनः न होने देने का उपाय- इन चारों तत्त्वों का ज्ञान जिसे है, वह राजा की चिकित्सा करने में सर्वोत्तम वैद्य होता है।

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्।। (च.सू. ९.२०)

शस्त्र, शास्त्र और जल यदि गुणवान् पात्र में जाते हैं तो उनमें गुणों की उत्पत्ति होती है और यदि वे दोषवान् पात्र में जाते हैं तो दोषों की उत्पत्ति होती है अतः आयुर्वेदशास्त्र का अध्ययन करने के लिए अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लेना चाहिए।

वैद्य एवं औषध के गुण (अष्टाङ्गहृदय)

दक्षस्तीर्थात्तशात्रार्थो[2] दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।
बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम्।। (अ.हृ.सू. १.२८)

१. चिकित्सा-कुशल २. गुरुमुख से शास्त्र के अर्थ को जानने वाला ३. चिकित्सा का प्रत्यक्ष कर्माभ्यासी और ४. मन, वाणी एवं कर्म से पवित्र- ये वैद्य के गुण हैं। १. औषध अनेक कल्पनाओं वाली हो २. व्याधिनाशक गुणों से सम्पन्न हो ३. रस-वीर्य आदि से परिपूर्ण हो और ४. देश, काल, रोग, रोगी आदि के अनुसार प्रयोग की जाने वाली हो- ये औषध के गुण हैं।

---

१. प्राणान् गच्छतो व्यावर्तयतीति प्राणाभिसरः। (चक्रपाणिः)
२. तीर्थादात्तः गृहीतः शास्त्रार्थो येन स तथोक्तः। (चक्रपाणिः)

वैद्य का कर्त्तव्य (चरक)

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।। (च.सू. २०.२०)

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व वैद्य पहले रोग की परीक्षा करे। तत्पश्चात् औषध का परीक्षण करे, उसके बाद ज्ञानपूर्वक[१] चिकित्सा कार्य करे।

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया।। (च.सू. २०.२१)

जो वैद्य रोग की सम्यक्तया पहचान किये बिना ही चिकित्सा कार्य करना प्रारम्भ करता है, यदि वह औषध के सही प्रयोग को भी जानता हो तब भी उसकी सफलता सन्दिग्ध रहती है अर्थात् उसे सफलता मिल भी सकती है, नहीं भी।

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः।
देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्।। (च.सू. २०.२२)

जो वैद्य रोग को सम्यक् जानने वाला होता है और सभी प्रकार की ओषधियों का वेत्ता होता है तथा देश, काल एवं औषध की मात्रा आदि का सम्यक् ज्ञाता होता है, उसकी चिकित्सा में सफलता निःसन्देह होती है।

भिषग्बुभूषुर्मतिमानतः स्वगुणसम्पदि।
परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नृणाम्।। (च.सू. १.१३३)

वैद्य बनने के इच्छुक बुद्धिमान् मनुष्य को अपने गुणों[२] व कुशलता की सम्पत्ति को अधिकाधिक बढ़ाने में तत्पर व प्रयत्नशील रहना चाहिए जिससे कि वह रोग-पीड़ितों के लिए प्राणदायक वैद्य बन सके।

---

१. ज्ञानपूर्वमिति कर्मदर्शनजनितज्ञानपूर्वम्। (च.सू. २०.२०, चक्रपाणिः)
२. श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्।। (च.सू. ९.५)

उत्तम-वैद्य के कर्त्तव्य (अष्टाङ्गहृदय)

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौ प्रयोजितम्।
उदीरयेत्तरां रोगान् संशोधनमयोगतः।। (अ.हृ.सू. १२.७१)
शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये।
क्षिणुयान्न मलानेव केवलं वपुरस्यति।। (अ.हृ.सू. १२.७२)
अतोऽभियुक्तः सततं सर्वमालोच्य सर्वथा।
तथा युञ्जीत भैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम्।। (अ.हृ.सू. १२.७३)

बड़े रोग में अल्पवीर्य एवं कम मात्रा वाली संशोधन ओषधि का प्रयोग करने से संशोधन का हीनयोग या अयोग हो जाता है जिससे रोगों की वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार छोटे रोगों में अतिवीर्य एवं अधिक मात्रा वाली संशोधन ओषधि का प्रयोग करने से संशोधन का अतियोग हो जाता है जिससे न केवल मल का अपितु शरीर का भी क्षय हो जाता है इसलिए चिकित्सा कर्म में लगे हुए चिकित्सक को निरन्तर सभी प्रकार से विचार कर सदा ही उस प्रकार की ओषधि का प्रयोग करना चाहिए, जो निश्चित रूप से स्वास्थ्य प्रदान करने वाली हो।

युक्तिज्ञ का महत्त्व

मात्राकालाश्रया युक्तिः, सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा।। (च.सू. २.१६)

सभी ओषधियों की युक्ति व योजना उनकी मात्रा एवं काल पर आधारित है तथा चिकित्सा की सिद्धि[१] युक्ति में प्रतिष्ठित होती है अत: द्रव्यों के गुण-धर्म का ज्ञान रखने वालों से भी 'युक्तिज्ञ' वैद्य श्रेष्ठ होता है।

ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।। (च.सू. १.१२०)

---

१. सिद्धिरिह विकारोपशमस्य साध्यस्य निष्पत्तिः। (चक्रपाणिः)

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः।
ओषधीनां परां प्राप्तिं[१] कश्चिद्वेदितुमर्हति।। (च.सू. १.१२१)

वन में बकरी, भेड़ या गाय चराने वाले तथा अन्य आदिवासी, वनवासी जन भी ओषधियों के नाम और रूप को जानते हैं, परन्तु इतने मात्र से कोई व्यक्ति ओषधियों के उत्कृष्ट सम्यग्योग को नहीं जान सकता कुशल वैद्य नहीं कहा जाता है अर्थात् जो व्यक्ति नाम और रूप ज्ञान के साथ-साथ ओषधियों के गुण-कर्मानुसार उनके परस्पर संयोग या रोगी पर सम्यक् प्रयोग को जानता है, वही कुशल वैद्य (भिषक्[२]) कहलाता है।

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वकार्यविशेषवित्।
सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेदिति। (च.वि. ६.१९)

सभी रोगों का विशेषज्ञ, सभी चिकित्सा कार्यों को विशेषता से जानने वाला तथा सर्वभेषजतत्त्वज्ञ (सभी भेषजतत्त्वों- औषध, उपक्रम, पथ्यापथ्य आदि को जानने वाला) वैद्य राजा का 'प्राणरक्षक' होता है।

प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन।। (च.वि. ७.७)

कुशल वैद्य रोगी के परीक्षायोग्य रोग की सब प्रकार से सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर औषधियों के प्रयोग में कभी भी भूल नहीं करते हैं।

तीन प्रकार के वैद्य

भिषक्छद्मचरा[३]ः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः।
सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि।। (च.सू. ११.५०)

---

१. परां प्राप्तिमिति उत्कृष्टं व्याधिशरीराद्यपेक्षं सम्यग्योगम् । (चक्रपाणिः)
२. भिषङ्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलो यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत्। (च.वि. ८.८६, चक्रपाणिः)
३. भिषक्छद्मचराःभिषग्वेशचराः। (चक्रपाणिः)

आयुर्वेद शास्त्र में तीन प्रकार के वैद्यों का विवरण मिलता है- १. छद्मचर अर्थात् वैद्य जैसी वेशभूषा धारण करके स्वयं को वैद्य बतलाने वाले २. सिद्धसाधित अर्थात् लोक में प्रसिद्ध पुरुषों द्वारा वैद्य उपाधि को प्राप्त हुए और ३.वैद्य के गुणों से युक्त।

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः।
लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः।। (च.सू. ११.५१)

वैद्यों के औषध-निर्माण में प्रयोग होने वाले पात्र (जैसे - बस्ति, नेत्र, शीशी, कड़ाहा इत्यादि), औषध, पुस्त अर्थात् शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों के चित्रों को रखकर, इधर-उधर से कोई श्लोक या कोई सूत्र पढ़कर अर्थात् किञ्चित्मात्र आयुर्वेद के अध्ययन के आधार पर ऐसे अपठित, अज्ञानी वैद्य जो मनुष्यमात्र को हानि पहुँचाने वाले वैद्य की वेशभूषा धारण करते हैं, वे छद्मचर वैद्य कहलाते हैं।

श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः[1]।
वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः।। (च.सू. ११.५२)

धनवान्, यशस्वी, आयुर्वेदशास्त्रों के विद्वान् वैद्यों के साथ अपना सम्बन्ध बताकर अज्ञानी होने पर भी अपने को वैद्य घोषित करने वाले 'सिद्धसाधित वैद्य' होते हैं।

प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः।
जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम्।। (च.सू. ११.५३)

जो वैद्य आयुर्वेद के अनुसार देश, काल, बल व दोषों का परीक्षण करके औषध का प्रयोग करना जानते हों, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, चिकित्सा क्षेत्र में प्रसिद्ध, जीवन को सुरक्षित करने वाले प्राणाभिसर अर्थात् प्राणरक्षक, सबको सुख देने वाले हों, ऐसे उन वैद्यों में वैद्यत्व विद्यमान होता है।

१. अतद्विधा:ज्ञानहीना:। (चक्रपाणि:)

रोगपरीक्षण में ज्ञान का विशेष महत्त्व

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ[1] न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्।। (च.वि. ४.११)
ज्ञानबुद्धि[2]प्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति।। (च.वि. ४.१२)

कार्य (निदान एवं चिकित्सा) के तत्त्वों को जानने वाला चिकित्सक रोग को जानने व उसकी चिकित्सा करने में विचलित नहीं होता और वह सजग वैद्य उस सफलता को प्राप्त करता है, जो अमोहनिमित्तज है अर्थात् ज्ञानपूर्वक कार्य करने से प्राप्त होती है। जो भिषक् शास्त्र से उत्पन्न बुद्धिरूपी प्रदीप की ज्योति से रोगी की अन्तरात्मा (देह, मन आदि) में प्रवेश नहीं कर सकता वह रोगी की चिकित्सा अच्छे से नहीं कर सकता।

आयुर्वेद ही वैद्य का शास्त्रार्थ विषय

वादस्तु खलु भिषजां प्रवर्तमानो प्रवर्तेतायुर्वेद एव, नान्यत्र। अत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयः सर्वाधिकरणेषु।

ताः सर्वाः समवेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमव्यापकं वा। सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्। हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूताः, प्रशस्तबुद्धिवर्धकत्वात्, सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता बुद्धिः।
(च.वि. ८.६७)

वैद्यों का वाद (शास्त्रार्थ, चिन्तन मननादि) हो तो आयुर्वेद के विषय में ही होना चाहिए, अन्य शास्त्रों के विषय में नहीं; क्योंकि यहाँ सभी प्रकरणों में कहे गये वचनों का अर्थात् सभी प्रश्नों का उत्तर विस्तारपूर्वक सभी युक्तियों के साथ कहा गया है। उन सभी युक्तियों को भलीभाँति

१. प्रतिपत्तिः कर्मणां यथार्हतयाऽनुष्ठानम्। (चक्रपाणिः)
२. ज्ञानं शास्त्रं तत्कृता बुद्धिः ज्ञानबुद्धिः। (चक्रपाणिः)

देखकर (मनन करके) सभी वाक्यों को बोलना चाहिए। ऐसे वाक्यों का कथन न करें जो अस्वाभाविक (अप्रासंगिक), शास्त्रविरुद्ध, अपरीक्षित (जिनकी परीक्षा न की गयी हो), असाधक (हेत्वाभास जैसे हों), कठिन अर्थों वाले (बुद्धि को असमंजस में डालने वाले) और अप्रसिद्ध हों। सब कुछ हेतुपूर्वक (युक्तिपूर्ण) कहे। हेतुयुक्त सभी वाद-विवाद दोषरहित होते हैं और वे सभी वाद-विवाद उत्तम बुद्धिवर्धक होने से चिकित्साकार्य की सफलता के कारण होते हैं; क्योंकि अनुपहता (दोषरहित) उत्तम बुद्धि प्रारम्भ किये गये सभी कार्यों में सफलता प्रदान करती है।

वैद्यों द्वारा ज्ञेय दशविध परीक्ष्य विषय

इमानि खलु तावदिह कानिचित् प्रकरणानि भिषजां ज्ञानार्थमुपदेक्ष्यामः। ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः। ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्ययोनि-कार्य-कार्यफलानुबन्ध-देश-काल-प्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्ता। (च.वि. ८.६८)

अब यहाँ पर वैद्यों के ज्ञान के लिए कुछ प्रकरणों का उपदेश करेंगे; क्योंकि शास्त्रज्ञान में कुशल व्यक्ति ज्ञानपूर्वक प्रारम्भ किये गये कर्मों की प्रशंसा करते हैं। १. कारण २. करण ३. कार्ययोनि ४. कार्य ५.कार्यफल, ६.अनुबन्ध ७. देश ८. काल ९. प्रवृत्ति और १०. उपाय। इनको जानकर वैद्य कार्य की निष्पत्ति के लिए सम्यक् रूप से प्रस्तुत होता हुआ अल्प प्रयास से ही तात्कालिक (इष्टफल) और उत्तरकालिक फल (अनुबंध) वाले कार्य को सम्पन्न करता है और उस कार्य का तात्कालिक और उत्तरकालिक फल प्राप्त करता है।

तत्र कारणं नाम तद् यत्[1] करोति, स एव हेतुः स कर्ता।

(च.वि. ८.६९)

---

१. यः इति पाठभेदः।

उनमें से **कारण** वह है जो करता है, वही 'हेतु' है और वही 'कर्ता' है।

करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य। (च.वि. ८.७०)

करण वह है जो कार्य की निष्पत्ति में प्रयत्नशील कर्ता के लिए उपकरण या साधन बनता है। पाणिनीय व्याकरण में भी कहा है- **साधकतमं करणम्** (अष्टाध्यायी १.४.४२) अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक विवक्षित है, वह 'करण' कहलाता है।

कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते। (च.वि. ८.७१)

कार्ययोनि वह है जो विकाररूप में परिणत होती हुई कार्यरूप को प्राप्त हो जाती है। जैसे मिट्टी का विकार घड़ा है, यहाँ पर मिट्टी विकार को प्राप्त कर घटरूप हो गयी तो यहाँ मिट्टी 'कार्ययोनि' है अर्थात् जो प्रकृति विकृत होकर कार्यरूप वाली हो जाती है, वह प्रकृति 'कार्ययोनि' कहलाती है। कार्ययोनि अर्थात् घट की योनि मिट्टी है, तो वह मिट्टी 'कार्ययोनि' कहलायेगी।

कार्यं[१] तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्ता प्रवर्तते। (च.वि. ८.७२)

कार्य वह है जिसकी कर्तव्यताबुद्धि को स्थिर करके कर्ता किसी निर्माण में प्रवृत्त होता है, वह निर्माण उस कर्ता का 'कार्य' होता है।

कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते। (च.वि. ८.७३)

कार्यफल वह है जिस प्रयोजन से कार्य की निष्पत्ति होती है, वह प्रयोजन 'कार्यफल' कहलाता है।

अनुबन्धः खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति[२] कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो भावः। (च.वि. ८.७४)

---

१. व्याकरण में जो कर्म है वह यहाँ पर 'कार्य' रूप में कहा है।

२. अनुबध्नातीति उत्तरकालं कर्त्तारमुपतिष्ठते। (चक्रपाणिः)

अनुबन्ध वह है जो कार्य के निमित्त से शुभ या अशुभ भाव होता है तथा कार्य के पश्चात् कर्ता को अवश्य प्राप्त होता है।

देशस्त्वधिष्ठानम्। (च.वि. ८.७५)

देश- रोग या औषध का आधार 'देश' कहलाता है।

कालः पुनः परिणामः[१] **।** (च.वि. ८.७६)

काल- जो परिवर्तनशील है, वह काल कहलाता है। जैसे- दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु एवं अयन आदि।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म, यत्नः, कार्यसमारम्भश्च। (च.वि. ८.७७)

प्रवृत्ति- कार्य करने के लिए जो चेष्टा होती है, वह 'प्रवृत्ति' कहलाती है। उसे ही क्रिया, कर्म, यत्न (प्रयत्न) और कार्यसमारम्भ भी कहते हैं।

उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवम्[२]**अभिविधानं**[३] **च सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां, कार्याणामभिनिर्वर्तक**[४]**इत्यतस्तूपायः, कृते नोपायार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलं फलाच्चानुबन्ध इति।** (च.वि. ८.७८)

उपाय- कार्य, कार्यफल और अनुबन्ध को छोड़कर कारण, करण और कार्ययोनि- इन तीनों का कार्यानुगुणयोगित्वपूर्वक जो कार्य के अनुकूल होकर रहना है, वह 'उपाय' कहलाता है। कार्य होने के पश्चात

१. परिणाम इति परिणामी ऋत्वयनादिरूपः कालः। (चक्रपाणिः)

२. सौष्ठवमिति सुष्ठुत्वं कर्त्रादीनां कार्यानुगुणयोगित्वमित्यर्थः। (चक्रपाणिः)

३. 'अभिसंधानं' इति पाठभेदः। अभिविधानं च सम्यगिति कारणादीनां कार्यानुगुण्येनावस्थानम्। (चक्रपाणिः)

४. कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां तेषां, तद्धि कार्याणामभिनिर्वर्तकमित्यतस्तूपायः। (चक्रपाणिः)

उपाय का कोई प्रयोजन नहीं होता है तथा कार्य करते समय भी उपाय का कोई अर्थ नहीं अर्थात् कार्य प्रारंभ करने से पूर्व ही उपाय का प्रयोजन होता है। कार्य करने के पश्चात् उपाय का फल होता है और फल के बाद में शुभ-अशुभ भावरूप अनुबन्ध होता है।

एतद्दशविधमग्रे परीक्ष्यं, ततोऽनन्तरं कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा। तस्माद् भिषक् कार्यं चिकीर्षुः प्राक् कार्यसमारम्भात् परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्य कर्म समारभेत कर्तुम्। (च.वि. ८.७९)

दशविध परीक्ष्य की प्राथमिकता- पूर्वोक्त दशविध परीक्ष्य विषय की पहले (अग्रे) परीक्षा करनी चाहिए फिर चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए अतः चिकित्साकार्य के इच्छुक वैद्य को चिकित्सारम्भ से पहले प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश से सभी परीक्ष्य विषयों की परीक्षा करके चिकित्साकर्म करने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां[१] प्रत्यक्षम् अनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन। (च.वि. ८.८३)

शास्त्र पढ़े हुए लोगों के लिए निश्चितरूप से परीक्षा दो प्रकार की होती है- १. प्रत्यक्ष और २. अनुमान। इस प्रकार ये दोनों और साथ में उपदेश यह परीक्षा होती है। इस प्रकार आप्तोपदेश को मिलाने पर यह परीक्षा तीन प्रकार की हो जाती है।

दशविधं तु परीक्ष्यं कारणादि यदुक्तमग्रे, तदिह भिषगादिषु संसार्य संदर्शयिष्यामः- इह कार्यप्राप्तौ कारणं भिषक्, करणं पुनर्भेषजं, कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, कार्यं धातुसाम्यं, कार्यफलं सुखावाप्तिः, अनुबन्धः खल्वायुः, देशो भूमिरातुरश्च, कालः पुनः

१. ज्ञानवतामित्याप्तोपदेशरूपशास्त्रजनितज्ञानवताम्। (चक्रपाणिः)

संवत्सरश्चातुरावस्था च, प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारम्भः, उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्। इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूर्वेणैवोपायविशेषेण व्याख्यातः। इति कारणादीनि दश दशसु भिषगादिषु संसार्य संदर्शितानि, तथैवानुपूर्व्यैतद्दशविधं परीक्ष्यमुक्तं च। (च.वि. ८.८४)

दशविध परीक्ष्य के उदाहरण- पूर्व में जो कारणादि दश परीक्ष्य विषय कहे गये हैं, उन्हें यहाँ चिकित्सक आदि के साथ सम्बद्ध कर प्रस्तुत करते हैं- १. यहाँ चिकित्साकार्य में वैद्य स्वयं 'कारण' है, २. ओषधि 'करण' है, ३. धातु का विकृत होना 'कार्ययोनि' है, ४. विकृत धातु को सम कर देना 'कार्य' है, ५. उससे रोगी को जो सुख मिलता है, वह फल है , ६. कार्यफल के बाद आयु लाभ 'अनुबन्ध' है, ७. भूमि और रोगी का शरीर 'देश' है, ८. संवत्सर और आतुरावस्था 'काल' है, ९. रोगियों की चिकित्सा से सम्बन्धित कार्य (प्रतिकर्म) का आरम्भ करना 'प्रवृत्ति' है, १०. वैद्य, औषध और कार्ययोनि के समन्वय से जो किया जाता है, वह 'उपाय' है। यहाँ पर जो उपाय का विषय है, वह पूर्व में जो उपाय (च.वि.७८) कहा गया है, उससे ही व्याख्यात समझना चाहिए। इस प्रकार कारण आदि दशविध परीक्ष्य विषय चिकित्सकादि के साथ सम्बद्ध कर पूर्व निर्दिष्ट क्रमानुसार ही यहाँ दिखाये गये हैं।

अयोग्य वैद्य एवं उसकी निन्दा

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्।। (सु.सू. ३.४८)

जो वैद्य केवल शास्त्रज्ञ होता है, कर्म-कुशल नहीं होता, वह रोगी व्यक्ति को पाकर वैसे ही किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, जैसे कायर व्यक्ति (भीरु) युद्ध (आहव) के समुपस्थित हो जाने पर मोहित हो जाता है।

अज्ञ वैद्य से हानि

कुर्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः।
सशेषमातुरं कुर्यान्न त्वज्ञमतमौषधम्।। (च.सू. १.१२८)

सिर पर इन्द्रवज्र के गिरने पर शायद कोई बच सकता है, किन्तु मूर्ख वैद्य द्वारा दी गई औषध के मारक प्रभाव से कोई रोगी नहीं बच सकता।

दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे।
यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति।। (च.सू. १.१२९)
त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मतेः।
नरो नरकपाती स्यात्तस्य संभाषणादपि।। (च.सू. १.१३०)

स्वयं को बुद्धिमान् मानने वाला जो वैद्य बिना किसी विशेष जानकारी के दुःखित, शैय्या पर पड़े हुए, श्रद्धालु रोगी को औषध देता है; ऐसे धर्मविहीन, पापी, मृत्युदूत वैद्य से बात करने पर भी मनुष्य नरकगामी होता है।

सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधिरूपमथातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले।।
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा।।

अल्पज्ञ वैद्य रोगियों में मन-शरीरादि की भिन्नता के कारण रोगों को देखकर उनके बल-अबल के निर्णय में भूल कर बैठते हैं तब वे अज्ञान से मोहित वैद्य रोगियों के विनाश के लिए या उनको महान् कष्ट देने के लिए अयुक्तिपूर्वक औषध का प्रयोग करने लगते हैं अर्थात् उनकी अनुचित चिकित्सा से रोगी को कष्ट होना स्वाभाविक है।

पशुः पशूनां दौर्बल्यात् कश्चिन्मध्ये वृकायते।
स सत्यं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः।। (च.सू. ३०.७५)

तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः।
स्थापयत्याप्तमात्मानमाप्तं त्वासाद्य भिद्यते।। (च.सू. ३०.७६)
बभ्रुर्गूढ इवोर्णाभिरबुद्धिरबहुश्रुतः।
किं वै वक्ष्यति सञ्जल्पे कुण्डभेदी जडो यथा।। (च.सू. ३०.७७)
सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद् भिषगल्पश्रुतैरपि।
हन्यात् प्रश्नाष्टकेनादावितरांस्त्वाप्तमानिनः।। (च.सू. ३०.७८)
दम्भिनो मुखरा ह्यज्ञाः प्रभूताबद्धभाषिणः।
प्रायः प्रायेण सुमुखाः सन्तो युक्ताल्पभाषिणः।। (च.सू. ३०.७९)

जैसे कोई पशु निर्बल पशुओं के बीच में किसी भेड़िये की तरह आचरण करता है परन्तु वास्तविक भेड़िये को सामने पाकर वह पशु अपने स्वभाव में लौट आता है, वैसे ही मूर्ख लोगों के मध्य में अज्ञ व्यक्ति (मूर्ख वैद्य) भी अपनी भाषा के आडम्बर से अपना प्रभुत्व दर्शाता है, परन्तु किसी आप्त (श्रेष्ठ वैद्य) को समक्ष पाकर उस (मूर्ख) की झूठी आप्तता छिन्न-भिन्न हो जाती है। जिस प्रकार कोई वृद्ध नेवला (शिकार करने में असमर्थ) ऊन के ढेर में (शिकार के प्रयोजन) से जाकर फंस जाता है और कुछ भी प्राप्त नहीं करता उसी प्रकार अनपढ़ (वैद्य) भी (शास्त्रसम्बन्धी) वादविवाद में पड़कर कुछ नहीं पाता अथवा बभ्रु अर्थात् कोई ऊन वाला पशु जिस प्रकार मेष को अपने जाति (समुदाय) वाला मानकर लड़ने हेतु समीप जाता है और अङ्ग-भङ्ग होकर मारा जाता है, उसी प्रकार अबहुश्रुत (शास्त्र से अनभिज्ञ) मनुष्य भी (विद्वानों के मध्य) संजल्प (वादविवाद) में वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे कोई कुण्डयोनि (भ्रष्टयोनि, नीचकुल वाला) सर्वथा अपने को शान्त रखता है। आचरणशील पुरुषों से वाद-विवाद की भाषा न बोलें फिर चाहे वो अल्पश्रुत (कम पढ़े लिखे) ही क्यों न हों, किन्तु ऐसे (मूर्ख वैद्य) जो स्वयं को प्रामाणिक बताने वाले हैं, उनको प्रश्नाष्टक के माध्यम से हराना चाहिए।

दम्भी, वाचाल, (शास्त्रविषयक) असम्बद्ध वार्ता करने वाले वैद्य अज्ञ (मूर्ख) होते हैं। इसके विपरीत विद्वान्[१] वैद्य प्राय: प्रियभाषी, सन्तस्वभाव तथा अल्पभाषी (विषयज्ञान के आधार पर बोलने वाले) होते हैं।

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमः।
भवन्त्यज्ञैरुपहृतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत्।। (सु.सू. ३.५१)

अमृत के समान प्रभावशाली ओषधियाँ भी शास्त्र और कर्म में अनभिज्ञ (अकुशल) वैद्य के द्वारा दी जाने पर शस्त्र, वज्र और विष के समान हो जाती हैं अत: अकुशल वैद्यों का परित्याग करना चाहिए।

अधिगतमप्यध्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति।। (सु.सू. ४.३)

अर्थानुसन्धानपूर्वक बार-बार अभ्यास न किया गया गुरुमुख से अधीत शास्त्र भी गधे की पीठ पर रखे गए चन्दनभार के समान केवल परिश्रमकर अर्थात् थका देने वाला होता है।

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति।।
(सु.सू. ४.४)

जैसे चन्दन के भार को ढ़ोने वाला गधा केवल उसके भार को जानता है, चन्दन की बहुमूल्यता को नहीं, उसी प्रकार बहुत से शास्त्रों को पढ़कर भी अर्थानभिज्ञ पुरुष गधे के समान केवल शास्त्र के भार को ही वहन करते हैं, शास्त्र का महत्त्व नहीं समझते।

---

१. दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् (अ.हृ.सू. १.२८)
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि। (अ.हृ.सू. १.२९)

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः।। (सु.सू. ४.७)

अकेले एक ही शास्त्र को पढ़ने वाला व्यक्ति उस शास्त्र के तत्त्व को नहीं जान सकता अत: चिकित्सक व्यक्ति को बहुश्रुत होना चाहिए, शास्त्रों के सहित आयुर्वेद को जानना चाहिए।

स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत्।
दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः।। (सु.सू. १०.९)

वैद्यों को स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठना, उनके साथ निवास तथा परिहास का त्याग कर देना चाहिए एवं अन्न के अतिरिक्त किसी भी दी गई वस्तु को उनसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

रोगी से शुल्क लेने का निषेध

वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा।
पीतमत्यग्निसन्तप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः।। (च.सू. १.१३१)
न तु श्रुतवतां वेशं बिभ्रता शरणागतात्।
गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात्।। (च.सू. १.१३२)

सर्प का विष खा लेना, उबले हुए ताम्र-द्रव को पीना अथवा अग्नि में तपाये लौहपिण्ड को निगल लेना अच्छा है, लेकिन विद्वान् वैद्य का वेश धारण कर शरण में आये पीड़ित रोगी से अन्न-पान या धन लेना अच्छी बात नहीं।

औषध

औषध के गुण

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते।। (च.सू. ९.७)

१. औषध की अधिक मात्रा में उपलब्धता २. रोग को नष्ट करने की क्षमता ३. स्वरस-कल्क-चूर्ण-वटी-अवलेह आदि विविध कल्पना के योग्य होना, ४. सड़ी-गली या खराब न होना और रस-गुण-वीर्य आदि से सम्पन्न होना- ये चार औषधीय गुण बताए जाते हैं।

त्रिविध औषध

त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोम-नियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः।। (च.सू. ११.५४)

आयुर्वेदशास्त्र में तीन प्रकार के औषध का वर्णन मिलता है, वे हैं- १.दैवव्यपाश्रय २.युक्तिव्यपाश्रय और ३.सत्त्वावजय। १.दैवव्यपाश्रय अर्थात् मन्त्र[१] द्वारा रोगों को ठीक करना (जैसे ओम्-जप, गायत्री-जप आदि द्वारा रोगों का निवारण), औषधि द्वारा, मणियों-रत्नों द्वारा, मङ्गलकामना, बलि, होम, नियमपालन, पापों का प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन अर्थात् दूसरों की कल्याणकामना, प्रणिपात[२] (नमस्कार) एवं तीर्थाटन आदि से रोगों की चिकित्सा हो सकती है। २. युक्तिव्यपाश्रय अर्थात् आहार और औषध-द्रव्यों की योजनाओं से चिकित्सा की जाती है। ३. सत्त्वावजय अर्थात् अहितकारी विषयों से मन को हटाकर रोगों की चिकित्सा करना, यह तृतीय औषध मानी जाती है।

ज्ञात एवं अज्ञात औषध प्रयोग का फल

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा।। (च.सू. १.१२४)

१. मन्त्रादयो हि देवप्रभावादेव व्याधिहराः। (चक्रपाणिः)
२. प्रणिपातो देवादीनां शारीरो नमस्कारः। (चक्रपाणिः)

औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः।
विज्ञातं चापि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते।। (च.सू. १.१२५)

अविज्ञात औषध विष, शस्त्र, अग्नि और विद्युत् के तुल्य प्राणघातक हो सकती है तथा ठीक प्रकार से विज्ञात औषध अमृत के समान प्राणदायक होती है। जिस औषध का नाम, रूप अथवा गुण ज्ञात न हो अथवा ज्ञात होने पर भी जिसका उपयोग अच्छी प्रकार से न किया जाये, वह अनर्थकारी हो सकती है।

सम्यग्योग एवं असम्यग्योग का फल

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्।। (च.सू. १.१२६)
तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्।
धीमता किंचिदादेयं जीवितारोग्यकांक्षिणा।। (च.सू. १.१२७)

देश-काल आदि का विचार कर उत्तम प्रक्रिया से प्रयोग में लाया गया तीक्ष्ण विष भी उत्तम औषध तुल्य हो जाता है (यथा- वत्सनाभ और संखिया आदि सम्यग्योग से गुणकारी हो जाते हैं), किन्तु औषध का भी यदि दुरुपयोग अर्थात् समुचित सम्मिश्रण न किया जाये तो वह तीक्ष्ण विष में परिणत हो सकता है इसलिए जीवन एवं स्वास्थ्य की अभिलाषा रखने वाले धीमान् व्यक्ति को आवश्यक है कि वह औषध की योजना को न जानने वाले वैद्य (प्रयोगज्ञान-शून्य) से कोई औषध न ले।

दस औषध-सेवन काल

युञ्ज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलान्तरे।
ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशि चौषधम्।।

(अ.हृ.सू. १३.३७)

१. **अभक्त-** औषध प्रातः काल खाली पेट ली जाती है।
२. **प्राग्भक्त-** औषध भोजन से पहले ली जाती है।
३. **मध्यभक्त-** औषध भोजन के मध्य में ली जाती है।
४. **अधोभक्त-** औषध भोजन के तुरन्त बाद ली जाती है।
५. **ग्रासान्तरे-** औषध दो ग्रासों के मध्य ली जाती है।
६. **सग्रासे-** औषध प्रत्येक या कुछ ग्रासों में ली जाती है।
७. **मुहुर्मुहु:-** औषध को बार-बार लिया जाता है।
८. **सभक्त-** औषध को अन्नमिश्रित या अन्नपक्व कर लिया जाता है।
९. **सामुद्ग-** औषध भोजन के आदि एवं अन्त में अथवा दो भोजन कालों के मध्य में लिया जाता है।
१०. **निशि-** औषध को रात्रि में सोते समय लिया जाता है।

रोगानुसार औषध-सेवन दस काल

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणो:।
अन्नादौ विगुणेऽपाने, समाने मध्य इष्यते।। (अ.हृ.सू. १३.३८)
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य सायमाशस्य तूत्तरे।
ग्रासग्रासान्तयो: प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि।। (अ.हृ.सू. १३.३९)
मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु।
योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके।। (अ.हृ.सू. १३.४०)
कम्पाक्षेपकहिध्मासु सामुद्गं लघुभोजिनाम्।
ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते।। (अ.हृ.सू. १३.४१)

१. **अनन्न (अभक्त) काल-** कफोद्रेक (कफ की वृद्धि) तथा बलवान् रोग एवं रोगी में खाली पेट अर्थात् बिना भोजन किये ही औषध देनी चाहिए।
२. **अन्नादौ (प्राग्भक्त) काल-** अपानवायु की विकृति में भोजन से पहले औषध देनी चाहिए।

३. **मध्ये (मध्यभक्त) काल-** समानवायु की विकृति में भोजन के बीच में औषध देनी चाहिए।

४. **अन्ते (अधोभक्त) काल-** व्यानवायु की विकृति में प्रातःकाल भोजन के बाद और उदानवायु की विकृति में सायंकाल भोजन के बाद में औषध देनी चाहिए।

५. **कवलान्तरे (ग्रासान्तर)-** प्राणवायु की विकृति में दो ग्रासों (निवालों) के बीच में औषध देनी चाहिए।

६. **ग्रासे ग्रासे (सग्रास)-** प्राणवायु की विकृति में ग्रास (निवाले) के साथ औषध देनी चाहिए।

७. **मुहुर्मुहः काल-** विषरोग, छर्दि, हिक्का, तृष्णा, श्वास एवं कास रोग में औषध को बार-बार देना चाहिए।

८. **सान्न (सभक्त)-** अरुचि रोग में औषध को भोजन में मिलाकर देना चाहिए।

९. **सामुद्ग काल-** कम्पवात, आक्षेपक एवं हिक्का रोग में औषध को दो भोजन कालों के बीच में देना चाहिए।

१०. **निशि काल-** ऊर्ध्वजत्रुगत-विकारों में रात्रि में सोते समय औषध देनी चाहिए।

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्।। (सु.चि. २९.१४)

ओषधियों के राजा सोम का उचित उपयोग करके बुद्धिमान् व्यक्ति दस हजार वर्षों तक नया शरीर धारण करता है।

गुडूच्यादिगण

गुडूचीपद्मकारिष्टधानकारक्तचन्दनम्।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत्।। (अ.हृ.सू. १५.१६)

गुडूची, पद्मकाष्ठ, नीम (अरिष्ट), धनिया, रक्तचन्दन आदि **गुडूच्यादि गण** की ओषधियाँ पित्त एवं कफविकार को शान्त करती हैं और ज्वर, छर्दि, दाह एवं तृष्णा का शमन कर अग्निवर्धक होती हैं।

हरीतकी महिमा

पीयूषं पिबतो विहंगमपतेर्ये बिन्दवो विच्युता-
स्तेभ्योऽभूदभया दिवाकरकरश्रेणीव दोषापहा।
कालिन्दीव बलप्रहर्षजननी गंगेव शूलिप्रिया
वह्नेर्दीप्तिकरी घृताहुतिरिव क्षोणीव नानारसा।।

(आ.म. १.२)

विहंगमपति (पक्षिराज गरुड) के अमृतपान करते हुए कुछ बिन्दु (बूंदें) भूमि पर गिर पड़ीं, उन्हीं से अभया (हरीतकी/हरड़) पैदा हुई। भाव यह है कि अमृत से उत्पन्न होने के कारण अभया अमृत जैसे गुणों वाली है।

श्लेषयुक्त उपमाओं द्वारा इसका गुणवर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि- अभया दिवाकर (सूर्य) की करश्रेणी (किरणसमूह) के समान दोषनिवारक होती है अर्थात् जैसे सूर्य अपने किरणसमूह से संसार के पूतिभाव (सड़न) आदि दोषों को दूर कर देता है, उसी प्रकार अभया भी अपने प्रभाव से सेवन करने वाले के मल का पाक व वात का अनुलोमन (अधोमार्ग से निस्सारण) करते हुए शरीरदोषों को दूर कर देती है। जैसे कालिन्दी (यमुना नदी) बलप्रहर्षजननी (बल/बलराम के प्रहर्ष की जननी है, उसे प्रसन्न करने वाली) है, उसी प्रकार अभया भी सेवन करने वाले के बल व प्रहर्ष की जननी है, उसे प्रसन्न करने वाली है अर्थात् उसे नीरोग कर बल व प्रसन्नता से युक्त कर देती है। जैसे गंगा शूलिप्रिया (शूली/त्रिशूली भगवान् शंकर को प्रिय) है, वैसे ही अभया भी शूलिप्रिया (शूल वाले/पेटदर्द वाले के लिए प्रिय) है; क्योंकि यह उदरशूल आदि को तुरन्त दूर कर देती है। जैसे घृताहुति (घी की आहुति) वह्निदीप्तिकरी (अग्नि को उद्दीप्त करने

वाली) होती है, उसी प्रकार अभया भी वह्निदीप्तिकरी (सेवन करने वाले की जठराग्नि को उद्दीप्त करने वाली) होती है। जैसे क्षोणी (पृथ्वी) नाना रसों वाली होती है, ऐसे ही अभया भी नाना रसों (मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय इन पाँच रसों) वाली होती है। इस प्रकार सुन्दर, सुललित व सटीक श्लिष्ट उपमाओं द्वारा ग्रन्थकार वैद्यशिरोमणि कविराज सुषेण देव ने यहाँ हरीतकी के दिव्य गुणों का वर्णन किया है।

श्रेष्ठा शालाक्यतन्त्रे कफपवनहरी दीपनी पाचनी या
शूलोदावर्त्तगुल्मज्वरगदगुदजान् कुष्ठपाण्डुप्रमेहान्।
श्वासातीसारकासाश्मरिजठररुजो नाशयत्याशु राजन् !
सेयं पायादपायात् सकलसुखकरी सर्वदा चारु पथ्या।।

(आ.म. १.३)

हे राजन्! जो शालाक्य तन्त्र अर्थात् ऊर्ध्वजत्रुगत (गले से ऊपर के आँख, नाक, कान आदि के) रोगों की चिकित्सा में श्रेष्ठ है, कफ व वात का हरण करने वाली तथा दीपनी व पाचनी है, शूल, उदावर्त्त, गुल्म, ज्वररोग, अर्श (बवासीर), कुष्ठ, पाण्डुरोग, सर्वविध प्रमेह, श्वास, अतिसार, कास (खाँसी), अश्मरी (पथरी) व उदररोगों को शीघ्र ही नष्ट करने वाली है एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी सकल सुख देने वाली, सदा उत्तम पथ्यरूप पथ्या (हरीतकी) नामक दिव्य ओषधि है, वह तुम्हें सर्वदा अपाय (रोग/कष्ट) से बचावे।

शश्वज्जीवितवृद्धिदा स्मृतिकरी निःशेषजाड्यापहा
रोगघ्नी च रसायनी हितकरी कृच्छ्राश्मरीच्छेदनी।
शस्ता स्तम्भनरेचनाग्निसदने प्रायेण या पाचनी
सा त्वां पातु हरीतकी क्षितितले हृद्यानवद्यानिशम्।।

(आ.म. १.४)

हे राजन्! जो सदा जीवनवृद्धि (आयुर्वृद्धि) करने वाली, सुखदायक, सर्वविध जड़ता (कफवात-जन्य स्तब्धता या निष्क्रियता) को हरने वाली, रोगनाशक, रसायनस्वरूप, हितकर, मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने वाली व अश्मरी (पथरी) को काटने वाली, स्तम्भन, विरेचन व अग्निमान्द्य में प्रशस्त, मुख्यरूप से पाचनी (आम का पाचन करने वाली) होती है तथा भूमि पर सदा सर्वदोषों से रहित एवं हितकर वैद्य से भी बढ़कर है, वह हृद्या (हृदय के लिए प्रिय व हितकर) हरीतकी सदा तुम्हारी रक्षा करे।

संहारिणी स्याद् गददानवानां संसेवकानां हितकारिणी स्यात्।
अनेकयोगैर्ऋषिभिः कृता सा शिवा शिवं वः प्रकरोतु नित्यम्।।
(आ.म. १.५)

जो गद (रोग) रूपी दानवों का संहार करने वाली है तथा संसेवा (सेवा/सेवन) करने वालों के लिए हितकारिणी होती है, जिसे ऋषियों ने अनेक योगों (ध्यानप्रकारों/नुस्खों) द्वारा सिद्ध किया है, वह शिवा (दुर्गा/हरीतकी) सदा तुम्हारा शिव (कल्याण) करे।

इस पद्य में ग्रन्थकार कविराज सुषेण ने दुर्गा व हरीतकी- इन दोनों का श्लिष्ट शब्दों द्वारा एक साथ वर्णन करते हुए मंगलकामना की है। इसमें शिवा शब्द व उसके विशेषणों से दुर्गा व हरीतकी- इन दोनों अर्थों के एक साथ प्रस्तुत होने से दोनों की प्राकरणिकता है, अतः यहाँ श्लेषालंकार है। **'नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयाश्रितः'** (कुवलयानन्दः ६४)

विशेष- वैद्यशिरोमणि कविवर सुषेणदेव ने अपने आयुर्वेद-महोदधि नामक ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए हरीतकी के इन विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है। इससे उनकी दृष्टि में आयुर्वेद की इस दिव्य ओषधि का सर्वातिशायी महत्त्व व्यञ्जित होता है।

उन्मूलिनी वातकफादिकानां सम्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणाम्।
विशोषिणी मूत्रमलादिकानां जाता जनित्रीव हरीतकी नृणाम्।।
(आ.म. १.६)

वात-कफ आदि का उन्मूलन करने वाली, बुद्धि, बल एवं इन्द्रियों का सम्मीलन करने वाली, मल-मूत्र का विशोषण करने वाली हरीतकी (हरड़) मनुष्यों की माता के समान है। अगले पद्य में अनुपानभेद से सब ऋतुओं में हरीतकी के सेवन का विधान करते हुए सुन्दर उपमालंकार के साथ उसे सर्वरोग-नाशक बतलाया है-

ग्रीष्मे तुल्यगुडां च सैन्धवयुतां मेघावनद्धाम्बरे
तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां
राजन् प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः।।
(आ.म. १.७)

ग्रीष्म में गुड़ के साथ, वर्षा में सैन्धव लवण (सेंधा नमक) के साथ, शरद् में निर्मल शर्करा के साथ, हेमन्त में शुण्ठी (सोंठ) के साथ, शिशिर में पिप्पली (पीपल) के साथ, वसन्त में क्षौद्र (मधु) के साथ सेवन की जाती हुई हरीतकी को पाकर जैसे सारे रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार हे राजन्! तुम्हें सामने पाकर तुम्हारे सभी शत्रु नष्ट हो जावें। वसन्त ऋतु में चैत्र व वैशाख मास होते हैं। ग्रीष्म में ज्येष्ठ-आषाढ़, वर्षा में श्रावण-भाद्रपद, शरद् में आश्विन-कार्तिक, हेमन्त में मार्गशीर्ष-पौष तथा शिशिर में माघ-फाल्गुन मास होते हैं। इस प्रकार वर्ष में दो-दो मास की ये छह ऋतुएँ होती हैं।

त्रिदोष-शामक हरीतकी

स्वाद्वम्लभावात् पवनं कटुतिक्ततया कफम्।
कषायमधुरत्वाच्च पित्तं हन्ति हरीतकी।। (कै.नि. १.२२७-२८)

हरीतकी मधुर व अम्ल होने से वात को तथा कटु व तिक्त होने से कफ को नष्ट करती है। यह कषाय-मधुर होने से पित्तदोष का नाश करती है।

हरति प्रसभं व्याधीन् भूयस्तकति यद्वपुः।
हरीतकीति सा प्रोक्ता तकतिर्दीप्तिवाचकः।। (रा.नि. ११.२२८)

हरीतकी का निर्वचन (व्याख्यान) इस प्रकार है– जो समग्र रोगों को हर लेती है तथा देह को तकति=चमका देती है, उसे 'हरीतकी' कहते हैं। इस प्रकार 'हर' व 'तक' से मिलकर हरीतकी पद बना है। यहाँ 'तक' यह अंश 'तकति' क्रिया से लिया गया है, जो दीप्तिवाचक है।

हरीतकी तु तृष्णायां हनुस्तम्भे गलग्रहे।
शोषे नवज्वरे क्षीणे गुर्विण्यां नैव शस्यते।। (रा.नि. ११.२२९)

हरीतकी किन अवस्थाओं में त्याज्य है– प्यास लगने पर, हनुस्तम्भ (जबड़े की जकड़न) में, गले के रोगों में, क्षयरोग व नए ज्वर में, दुर्बलता में तथा गर्भावस्था में हरड़ त्याज्य होती है।

अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च तनुकृशो लङ्घनकर्षितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्।।
(भा.प्र.नि.-१.१३५) (उपजाति छन्द)

जो व्यक्ति मार्ग चलने से अति खिन्न (बहुत थका हुआ) है तथा बलहीन, दुबला-पतला, उपवास से कृश है, जो पित्त की अधिकता वाला है एवं रक्तमोक्षण कर चुका है, उसे हरड़ नहीं खानी चााहिए। गर्भवती नारी के लिए भी हरड़ का सेवन वर्जित है।

अध्याय- ९

रोग एवं चिकित्सा

अजीर्ण

अजीर्ण का स्वरूप

अविपक्वोऽग्निमान्द्येन यो रसः स निगद्यते।
रोगाणां प्रथमो हेतुः सर्वेषामामसंज्ञया।। (यो.अ.नि. १)

जठराग्नि की मन्दता के कारण अपक्व (बिना पचा) आहार रस 'आम' कहलाता है, जो आमाशय में स्थित होता है। यह 'आम' ही सब रोगों का प्रथम कारण होता है।

ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न पाकं भजते नरस्य।।

(सु.सू. ४६.५०१)

ईर्ष्या (परसम्पत्ति अथवा परसुख की असहिष्णुता), भय व क्रोध से व्याप्त एवं लोभ, शोक, दैन्य (दीनता) तथा प्रद्वेष (मत्सरता) से आक्रान्त व्यक्ति के द्वारा सेवित किया जाता हुआ अन्न सम्यक् प्रकार से नहीं पचता है। व्यायाम व निद्रा का अभाव भी अजीर्ण का बड़ा कारण है। जैसा कि वैद्यराज सुषेण ने कहा है-

स्थाल्यां यथानावरणाननायां न घट्टितायां न च साधुपाकः।
अनाप्तनिद्रस्य तथा नरेन्द्र! व्यायामहीनस्य न चान्नपाकः।।

(आ.म. व्यायामोद्वर्त्तनाभ्यंगगुणवर्गः ७)

जैसे ढक्कनरहित स्थाली (देगची/बटलोई) में डाला गया अन्न करछी से बिना चलाये ठीक प्रकार से नहीं पकता है। हे राजन्! उसी प्रकार नींद

न लेने वाले तथा व्यायाम न करने वाले व्यक्ति का खाया हुआ अन्न भी नहीं पचता है।

अजीर्ण के भेद

अजीर्णप्रभवा रोगास्तदजीर्णं चतुर्विधम्।
आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषं चतुर्थकम्।। (आ.म.परि. ५.१)

प्रायः सभी रोग अजीर्णप्रभव (अजीर्ण से उत्पन्न होने वाले) होते हैं। अजीर्ण चार प्रकार का माना जाता है- आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण व रसशेषाजीर्ण।

आमाजीर्ण के लक्षण (माधव-निदान)

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोफो गण्डाक्षिकूटजः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते।। (मा.नि.अ. ९)

आमाजीर्ण में शरीर में भारीपन, उत्क्लेद (वमन की इच्छा), कपोल (गाल) व अक्षिकूट (आँखों के किनारों) पर सूजन होती है तथा जैसा भोजन किया हो वैसी ही खट्टेपन से रहित डकारें आती हैं। भाव यह है कि आमाशय में क्लेदक कफ की अधिकता होने से प्रारम्भ में खाए अन्न पर अम्लरस का प्रभाव नहीं पड़ता, अन्न में माधुर्य होने से डकारें खट्टी नहीं होती हैं।

विदग्धाजीर्ण का लक्षण

विदग्धे भ्रमतृण्मूर्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते।। (मा.नि.अ. १०)

विदग्धाजीर्ण पित्तजन्य होता है। इसमें भ्रम, प्यास, मूर्छा तथा अनेक प्रकार के पित्तज विकार होते हैं। खट्टी डकारों के साथ मुँह से धुंआ-सा निकलता है। स्वेद और दाह विशेषरूप से होते हैं।

विष्टब्धाजीर्ण का लक्षण

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम्।। (मा.नि.अ. ११)

यह वातजन्य होता है। इसमें शूल, आध्मान, तोद, भेद आदि विविध प्रकार की वातिक वेदनाएँ होती हैं। इसमें मल और अधोवायु की अप्रवृत्ति, स्तब्धता, मूर्छा तथा अंगों में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं।

रसशेषाजीर्ण का लक्षण

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः।। (सु.सू. ४६.४९९)

त्रिभिरित्येकैकशो न तु मिलितैः। रसशेषतो भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो द्रवः। स चापक्वो रसशेषः, तस्मात् चतुर्थमजीर्णं न त्वामाजीर्णम्। ननु आमाजीर्णाद् रसशेषस्य को भेदः? आमं मधुरतां गतम् अपक्वमन्नमेव। रसशेषस्तु भुक्तस्य पक्वस्य सारभूतो यो द्रवः, स च अपक्व इति भेदः। (आ.सा.प्रथमभाग: ९८६)

क्रमशः कफ, पित्त एवं वात से पृथक् पृथग्रूप से आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण एवं विष्टब्धाजीर्ण होते हैं। कुछ विद्वान् रसशेष के कारण होने वाले रसशेषाजीर्ण नामक चतुर्थ भेद को भी मानते हैं। रसशेषाजीर्ण आमाजीर्ण से भिन्न है। आमाजीर्ण में अपक्व अन्न ही मधुरतायुक्त होकर बिना पचे पड़ा रहता है, जबकि रसशेषाजीर्ण में पचे हुए अन्न का सारभूत रस अपक्व अवस्था में रहता है।

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे। (मा.नि.अ. १२)

रसशेषाजीर्ण होने पर हृदय में गुरुता, अशुद्धि और भोजन में अरुचि होती है।

अजीर्ण के भेदानुसार लक्षण एवं चिकित्सा (अष्टाङ्गहृदय)

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः।
सद्योभुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेशगौरवम्।। (अ.हृ.सू. ८.२५)
विष्टब्धमनिलाच्छूलविबन्धाध्मानसादकृत्।
पित्ताद्विदग्धं तृण्मोहभ्रमाम्लोद्गारदाहवत्।। (अ.हृ.सू. ८.२६)

आमाजीर्ण की परिभाषा एवं लक्षण- कफदोष के प्रकोप से होने वाले अजीर्ण को 'आमाजीर्ण' कहते हैं। आँखों एवं गण्डस्थल (कपोल) में शोफ, तुरन्त भोजन किये हुए के समान उद्गार, लालास्राव (प्रसेक), हृल्लास (उत्क्लेश/मिचली) और शरीर में भारीपन का होना आमाजीर्ण के लक्षण हैं।

विष्टब्धाजीर्ण की परिभाषा एवं लक्षण- वातदोष के प्रकोप से होने वाले अजीर्ण को 'विष्टब्धाजीर्ण' कहते हैं। उदरशूल, मल, मूत्र एवं अपानवायु का अवरोध, आध्मान (अफारा) और शरीर में शिथिलता का होना विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण हैं।

विदग्धाजीर्ण की परिभाषा एवं लक्षण- पित्तदोष के प्रकोप से होने वाले अजीर्ण को 'विदग्धाजीर्ण' कहते हैं। तृष्णा, मोह (मूर्च्छा), भ्रम (चक्कर आना), अम्लोद्गार और दाह विदग्धाजीर्ण के लक्षण हैं।

लङ्घनं कार्यमामे तु, विष्टब्धे स्वेदनं भृशम्।
विदग्धे वमनं, यद्वा यथावस्थं हितं भवेत्।। (अ.हृ.सू. ८.२७)

आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण एवं विदग्धाजीर्ण की चिकित्सा- आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण एवं विदग्धाजीर्ण में क्रमशः लंघन, स्वेदन और वमन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए अथवा अवस्थानुसार हितकर चिकित्सा करनी चाहिए।

रसशेषाजीर्ण की परिभाषा, लक्षण एवं चिकित्सा

अश्रद्धा हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः।
शयीत किञ्चिदेवात्र सर्वश्चानाशितो दिवा।। (अ.हृ.सू. ८.२९)
स्वप्यादजीर्णी, सञ्जातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु।

उद्गार के शुद्ध होने पर अर्थात् आहार के पच जाने पर भी अपक्व आहार रस के शेष रहने से अन्न में अरुचि तथा हृदय में पीड़ा बनी रहती है। अजीर्ण की इस अवस्था को 'रसशेषाजीर्ण' कहते हैं। रसशेषाजीर्ण में बिना भोजन किये दिन में थोड़ी देर सो लेना चाहिए अर्थात् रसशेषाजीर्ण की चिकित्सा दिवाशयन है। अन्य अजीर्णों में भी भोजन किये बिना थोड़ी मात्रा में दिवाशयन करना और भूख लगने पर अल्प एवं लघु आहार करना हितकर होता है।

सामान्य अजीर्ण के लक्षण

विबन्धोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता।। (अ.हृ.सू. ८.३०)
अजीर्णलिङ्गं सामान्यं विष्टम्भो गौरवं भ्रमः।

मल, मूत्र की अप्रवृत्ति अथवा अतिप्रवृत्ति, ग्लानि, अपान वायु का रुक जाना, विष्टम्भ (पेट का फूलना एवं स्तब्ध होना), शरीर में भारीपन और भ्रम सामान्य अजीर्ण के लक्षण हैं।

अजीर्ण का निदान/हेतु

न चातिमात्रमेवान्नमामदोषाय केवलम्।। (अ.हृ.सू. ८.३१)
द्विष्टविष्टम्भिदग्धामगुरुरूक्षहिमाशुचि।
विदाहि शुष्कमत्यम्बुप्लुतं चान्नं न जीर्यति।। (अ.हृ.सू. ८.३२)
उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः। (अ.हृ.सू. ८.३३)

केवल अधिक मात्रा में भोजन करना ही आमदोष का कारण नहीं होता है, बल्कि अप्रिय, विबन्धकारक, जला हुआ, कच्चा, पचने में भारी, रूखा, ठण्डा, गन्दा, दाहकारक, सूखा और अत्यम्बुप्लुत (अत्यधिक जलीयांश वाला) भोजन भी नहीं पचता है। शोक, क्रोध एवं भूख से पीड़ित होने पर भी खाया हुआ अन्न नहीं पचता है।

अजीर्ण-निवारण

जीर्णे भोजनमात्रेयः, लंघनं परमौषधम्।

आयुर्वेद-प्रणेता आत्रेय मुनि के मतानुसार पूर्वभोजन के जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिए। यह लाख की एक बात है। यदि कभी प्रमाद से अजीर्ण हो जाए तो लंघन (उपवास) उसकी परम औषध है। इस प्रसंग से आयुर्वेद के अनुसार जीर्णभोजिता व लंघन का सर्वातिशायी महत्त्व व्यंजित होता है।

हिताहारा मिताहारा अल्पाहाराश्च ये जनाः।
न तान् वैद्याश्चिकित्सन्ति आत्मनस्ते चिकित्सकाः।।

(अभियुक्तोक्ति)

जो व्यक्ति हिताहारी (हितकर आहार करने वाले), मिताहारी (परिमित, नपा तुला, न अधिक न कम आहार करने वाले) तथा कभी-कभी अल्पाहारी (कम भोजन या उपवास करने वाले) होते हैं, उनकी चिकित्सा वैद्य लोग नहीं करते, प्रत्युत वे अपने चिकित्सक स्वयं होते हैं। भाव यह है कि जैसे ही कभी प्रमादवश थोड़ा अजीर्ण हुआ, तो लंघन करके वे तुरन्त दोष को दूर कर देते हैं। इस प्रकार वे अपनी चिकित्सा स्वयं ही कर लेते हैं तथा जीवन में कभी रोगों से पीड़ित नहीं होते हैं।

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये।। (अ.हृ.चि. १०.९१)

जठराग्नि आहार को पचाती है, यदि उसे आहार नहीं मिले तो बढ़े हुए दोषों को पचाती है, नष्ट करती है। दोषों के क्षीण होने पर भी उपवास किया जाएगा तो जठराग्नि रस-रक्त आदि धातुओं को जलाने लगती है व शरीर कृश होने लगता है तथा अन्त में वह जीवन को नष्ट कर देती है अतः उतना उपवास या अल्पाहार करना चाहिए जिससे दोष तो नष्ट हो जाएँ, परन्तु शरीर की क्षीणता का अवसर न आए।

कार्तिकस्य दिनान्यष्टावष्टावाग्रायणस्य च।
यमदंष्ट्रा समाख्याता स्वल्पभुक्तो हि जीवति।। (शा.सं. १.२.२९)

कार्तिक के अन्तिम आठ दिन व मार्गशीर्ष (अगहन) के आदिम आठ दिन साक्षात् यमदंष्ट्रा (यमराज की दाढ़) के रूप में होते हैं। इस समयावधि में थोड़ा खाने वाला या उपवास करने वाला ही रोगों व यमराज की पकड़ से बच पाता है।

मितभोजनं स्वास्थ्यम्। (चाण.सू. २१८)

मित अर्थात् जितनी भूख हो उतना, न कम न अधिक मात्रा वाला भोजन साक्षात् स्वास्थ्य है अर्थात् स्वास्थ्य का विशिष्ट कारण है।

पथ्यमप्यपथ्याजीर्णे नाश्नीयात्। (चाण.सू. २१९)

अपथ्यजन्य अजीर्ण (अपच/बदहजमी) होने पर पथ्य भी नहीं खाना चाहिए अर्थात् अजीर्ण होने पर उपवास करना चाहिए।

जीर्णभोजिनं व्याधिर्नोपसर्पति। (चाण.सू. २२०)

जीर्णभोजी व्यक्ति के पास रोग कभी नहीं फटकते।

अजीर्णे भोजनं दुःखम्। (चाण.सू.२२२)

अजीर्ण में भोजन करना दुःख है अर्थात् दुःख का (रोग का) विशेष कारण है। चाणक्य ने इन सूत्रों में पूरे आयुर्वेद का सार समाहित कर दिया

है। यदि हम यहाँ उद्धृत चाणक्य के इन छोटे-छोटे चार सूत्रों को गम्भीरता से हृदयंगम कर लें तो जीवन भर के लिए अनावश्यक ओषधियों के चक्कर व व्यवसायी चिकित्सकों की दासता से मुक्त रहते हुए स्वस्थ जीवन जी सकते हैं।

अजीर्ण से बचने के लिए भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्रकारों ने दो काल के भोजन का ही विधान किया है। मनुजी का वचन है-

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः।।

पूर्वाह्ण व सायं दो ही समय भोजन करना वेदविहित है। इनके मध्य में कुछ नहीं खाना चाहिए। इस प्रकार भोजन का विधान अग्निहोत्र के विधान के समान ही है। जैसे अग्निहोत्र दो ही समय किया जाता है, ऐसे ही जठराग्निहोत्र भी दो ही समय करना चाहिए। आपस्तम्ब आदि के धर्मशास्त्रों में गृहस्थ के लिए बल देकर इस विधान की पुष्टि की है कि गृहस्थ केवल दो समय ही भोजन करे, तीसरे समय नहीं[१]।

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी स भवेद्यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः।। (महा.शा.२२७.१०)

प्रातराश (पूर्वाह्ण-भोजन) तथा सायमाश (सायंकालीन भोजन) के बीच में व्यक्ति यदि कुछ नहीं खाता है तो वह सदा उपवासी माना जाता है अर्थात् दो समय भोजन करते रहने के उपरान्त भी उपवास का पूर्ण फल

१.'कालयोर्भोजनम्'- कालयोरुभयोरपि भोजनं कर्तव्यं सायं प्रातश्च, नान्तरेति परिसंख्येयम्, भोजनस्य रागप्राप्तत्वात्। मानवे च स्पष्टमुक्तम्-
सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः।।
(आपस्तम्बधर्मसूत्रम्, हरदत्तमिश्र-कृत उज्ज्वलावृत्तिसहित- २.१.१.२)

प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उपवास का प्रयोजन है अजीर्ण दूर करना, जो व्यक्ति प्रात: व सायं मित भोजन करता है तथा मध्य में कुछ नहीं खाता, उसे कभी अजीर्ण नहीं होता है। इस प्रकार द्विकालभोजी व्यक्ति को सदा उपवास का फल मिलता रहता है। कहा भी है-

वामशायी द्विर्भुञ्जान: षण्मूत्री द्विपुरीषक:।
व्यायामी ब्रह्मचारी च शतं वर्षाणि जीवति।।

बांयी करवट सोने वाला, दो बार भोजन करने वाला, छह बार मूत्रत्याग करने वाला, दो बार मलत्याग करने वाला, व्यायामशील तथा ब्रह्मचारी (संयमी) व्यक्ति सौ वर्ष तक नीरोग रहते हुए सुखपूर्वक जीता है।

हृन्नाभिपद्मसङ्कोचश्चण्डरोचेरपायत:।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं वैद्यविद्याविदां वरै:।। (आ.म.भोजनविधि१२)

सूर्य के अस्त होने पर हृदय और नाभिकमल संकुचित हो जाते हैं अत: रात को खाए भोजन का समुचित पाचन नहीं हो पाता है इसलिए वैद्यविद्या (आयुर्वेद) को जानने वाले उत्तम विद्वानों को रात को भोजन नहीं करना चाहिए।

अजीर्ण का बड़ा कारण

अनात्मवन्त: पशुवद् भुञ्जते येऽप्रमाणत:।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि।। (मा.नि. अ. १३)

जो व्यक्ति जिह्वा-लोलुपता के कारण पशुओं की तरह मात्रा से अधिक खूब खा जाते हैं, वे रोगसमूह के मूलभूत अजीर्ण से त्रस्त रहते हैं। इस प्रकार स्वाद के चक्कर में अतिभोजन से नाना रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। ध्यान रहे स्वाद वस्तुत: भूख में है, भोज्य पदार्थों में नहीं। इस विषय में विदुरजी का यह वचन विशेषरूप से स्मरणीय है-

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चैवाढ्येषु दुर्लभा।। (विदुरनीति २.५१)

कठोर श्रम से जीविकोपार्जन करने वाले दरिद्र लोग सदा स्वादिष्ट भोजन करते हैं, क्योंकि भूख स्वाद पैदा कर देती है और वह धनी लोगों में प्राय: दुर्लभ होती है। चरकसंहिता में कहा है कि-

यथाग्नि अभ्यवहारोऽग्निसन्धुक्षणानाम् (च.सू. २५.४०)

जठराग्नि को दीप्त करने वाले, भूख बढ़ाने वाले उपायों में सबसे बड़ा उपाय यह है कि जितनी भूख हो उतना ही भोजन किया जाए, उससे अधिक नहीं। अतिभोजन की निन्दा करते हुए मनुस्मृति में कहा है-

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत् परिवर्जयेत्।। (मनु. २.५७)

अतिभोजन रोगकारक, उम्र घटाने वाला, रोगरूप दु:ख देने वाला होता है। यह अपुण्य का मूल है तथा अधिक खाने वाला व्यक्ति समाज का द्वेषपात्र बन जाता है, क्योंकि वह दूसरों का भाग भी खा जाता है अत: अतिभोजन से सदा बचना चाहिए। वैद्यराज सुषेण ने भी कहा है-

य: क्षुधालौल्यभावेन कुर्यादाकण्ठभोजनम्।
सुप्तव्यालानिव व्याधीन् सोऽनर्थाय प्रबोधयेत्।। (आ.म.भोजनविधि)

जो रसासक्ति से गले तक भोजन कर लेता है, मात्रा से बहुत अधिक खा लेता है, मानो वह शरीर में सोए रोगरूपी सर्पों को अपने अनर्थ के लिए जगा देता है।

अतिभोजन के अतिरिक्त अजीर्ण का एक बड़ा कारण अध्यशन है। इसका अभिप्राय है- खाए के ऊपर पुन: खाना अर्थात् पूर्वभोजन के पचे बिना ही असमय में कुछ न कुछ खाते रहना। यह स्वास्थ्य के लिए बहुत ही

घातक व हानिकारक प्रवृत्ति है। चरकसंहिता में इसे पाचनतन्त्र को विकृत करने वाले कारणों में सबसे बड़ा कारण माना है-

अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम्। (च.सू. २५.४०)

अत: हमें अपने बच्चों व अन्य परिवारजनों को आरम्भ से ही यह बात अच्छी तरह समझा देनी चाहिए कि बार-बार खाने की आदत स्वास्थ्य के लिए सबसे अधिक घातक है। बच्चों को विशेषरूप से बाल्यकाल से ही समय पर भोजन करने की आदत डालनी चाहिए जिससे वे इस सुनहरे नियम का पालन कर जीवन भर स्वस्थ रह सकें। खाए के ऊपर बार-बार खाते रहने के दोष को आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काश्यप-संहिता' में इस प्रकार समझाया है-

विरुद्धाध्यशनाजीर्णादामे चामे च पूरणात्। (का.खि. १६.७)
यत्किञ्चिदशितं पीतं देहिनस्तद्विदह्यति। (का.खि. १६.८)
विदग्धं शुक्ततां याति शुक्तमामाशये स्थितम्।
तदम्लपित्तमित्याहुर्भूयिष्ठं पित्तदूषणात्।। (का.खि. १६.९)

विरुद्ध (मात्राविरुद्ध तथा संयोगविरुद्ध) भोजन, अध्यशन (अजीर्ण-भोजन) तथा शरीर में आम रस (अपक्व आहार रस) के रहने पर पुन: पुन: भोजन करने से जो कुछ खाया-पिया जाता है, वह विदग्ध (खट्टा) हो जाता है। पुन: वह विदग्ध शुक्तता (तीक्ष्ण अम्लता) को प्राप्त होकर आमाशय में स्थित होता है। बहुत अधिक पित्तदोष हो जाने के कारण यह अम्लपित्त (एसिडिटी) की स्थिति कही जाती है।

अविशुष्के यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधिभाजने।
क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्चीभावं च गच्छति।। (का.खि. १६.१०)

इस पर भी नासमझ जिह्वालोलुप व्यक्ति अजीर्ण में खाता रहता है। जिस प्रकार अच्छी तरह बिना सूखे दही के पात्र में यदि दूध डाल दिया जाए

तो वह तुरन्त खट्टा हो जाता है तथा कूर्चीभाव (दधिरूपता) को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार रस धातु के अम्ल होने पर जो कुछ भी भोजन किया जाता है, वह उसमें मिलकर विदग्ध हो जाता है। इससे प्रबल अम्लपित्त अर्थात् हाइपर एसिडिटी बन जाती है। इस प्रकार अजीर्णाध्यशन ही पाचनतन्त्र को विकृत करने का सबसे बड़ा कारण बनता है। विदग्धाजीर्ण होने से उसकी रस-रक्त आदि धातुएँ नहीं बनती हैं। शरीर कृश व निस्तेज हो जाता है अतः अजीर्णाध्यशन के इस घातक व्यसन से बचना चाहिए।

चरकसंहिता में अजीर्ण के विषय में कहा गया है कि- उद्धार्य अर्थात् तुरन्त ही जागरूकतापूर्वक दूर किए जाने वाले दोषों में अजीर्ण सबसे प्रमुख है। इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए-

अजीर्णमुद्धार्याणाम् (च.सू. २५.४०)

इसके अतिरिक्त सुश्रुतसंहिता के रसायन-प्रकरण में जीर्णभोजिता को स्वास्थ्य के लिए अतीव हितकर बताया है-

आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम्।। (सु.चि. २८.२८)

अजीर्ण के उपद्रव

मूर्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः।। (सु.सू. ४६.५०४)

मूर्छा, प्रलाप, वमन, मुँह से पानी आना, अंगों में पीड़ा, दुर्बलता तथा भ्रम- ये अजीर्ण के उपद्रव हैं। अजीर्ण के बढ़ने पर मृत्यु तक हो सकती है।

अजीर्ण-निवारण के सरल उपाय

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति।। (वृ.मा. ६.२६)

आहार की विषमता अर्थात् अतिभोजन, अकालभोजन, अजीर्णभोजन, विरुद्धभोजन आदि से मनुष्यों को अजीर्ण हो जाता है। यह नाना रोगों का मूल है। इसके नष्ट होने से एतन्मूलक रोग भी नष्ट हो जाते हैं अत: अजीर्ण-निवारण के लिए हिताहार व मिताहार के प्रति विशेषरूप से जागरूक रहना चाहिए।

तत्रामे लंघनं कार्यं विदग्धे वमनं हितम्।
विष्टम्भे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे शयीत च।। (सु.सू. ४६.५०७)

आमाजीर्ण में लंघन, विदग्धाजीर्ण में वमन व विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन हितकर होता है। रसशेषाजीर्ण में उपवास के साथ शयन करना चाहिए। आमाजीर्ण को दूर करने वाला एक उत्तम योग (नुस्खा) प्रसिद्ध है-

धान्यनागरसिद्धं वा तोयं दद्याद् विचक्षण:।
आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं वस्तिशोधनम्।। (चि.ति. १८.२७)

धनिया व सोंठ से सिद्ध जल आमाजीर्ण को शान्त कर देता है। यह शूलहर व वस्तिशोधक भी होता है। विदग्धाजीर्ण को दूर करने का एक उत्तम उपाय मुनिवर सुश्रुत ने इस प्रकार बताया है-

अन्नं विदग्धं हि नरस्य शीघ्रं शीताम्बुना वै परिपाकमेति।
तद्ध्यस्य शैत्येन निहन्ति पित्तमाक्लेदिभावाच्च नयत्यधस्तात्।।
(सु.सू. ४६.५१०)

शीतल जल पीने से विदग्ध अर्थात् अम्लरूप में परिणत/एसिड से युक्त हुआ अन्न शीघ्र पच जाता है; क्योंकि जल की शीतलता से पित्त शान्त हो जाता है और जल के आक्लेदी भाव (आर्द्रता) के कारण वह पक्वाशय में जाकर निर्विघ्नरूप से पच जाता है। विष्टब्धाजीर्ण व रसशेषाजीर्ण को दूर करने का सरल उपाय इस प्रकार है-

स्वेदं कुर्याच्च विष्टब्धे पिबेद्वा लवणोदकम्।
रसशेषे दिवानिद्रां लंघनं वातवर्जनम्।। (आ.सा. १.१०१४)

विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन करना चाहिए तथा सैन्धव लवणयुक्त पानी पीना चाहिए। रसशेषाजीर्ण में लंघन (उपवास) करते हुए निवात स्थान में दिन में सोना चाहिए।

यदि व्यक्ति सदा जीर्णभोजिता को अपना ले, तो उसे अजीर्ण होने का भय नहीं रहता है अत: सदा पूर्वभोजन के जीर्ण होने पर ही अगला भोजन करना चाहिए, अन्यथा लंघन कर लेना चाहिए। इस विषय में प्रमाद करने से अजीर्ण व तज्जन्य रोगों को अवसर मिल जाता है। कहा भी है-

प्राग्भुक्ते त्वविविक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत्।
पूर्वभुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम्।। (सु.सू.४६.४९२)

पहले खाए अन्न के अच्छी तरह से पच जाने पर ही भोजन करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाएगा तो पूर्वभोजन के विदग्ध (बिना पचे व अम्लीभूत) रहने पर ऊपर से भोजन करने वाला अपनी जठराग्नि को क्षीण कर लेता है। पूर्वभोजन जीर्ण हो गया है, इसकी पहचान निम्न लक्षणों से की जा सकती है-

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचित:।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्।। (मा.नि. अ. १३)

शुद्ध डकार आना, मन में उत्साह होना, उचितरूप से मल-मूत्र का विसर्जन होना, शरीर में हल्कापन (स्फूर्ति) व भूख-प्यास लगना- ये जीर्ण आहार के लक्षण हैं। इनके होने पर ही भोजन करना चाहिए।

अजीर्णामृतमञ्जरी में कुछ द्रव्यों के अजीर्ण का निवारण इस प्रकार बताया गया है-

पनसे कदलं कदले च घृतं घृतपाकविधावपि जम्भरसः।
तदुपद्रवशान्तिकरं लवणं लवणेऽपि च तण्डुलवारि परम्।।

(अ.म. ४)

पनस (कटहल) के अजीर्ण में केला, केले के अजीर्ण में घी, घी के अजीर्ण में जम्भरस (जम्बीरी निम्बू का रस) उपयोगी होता है। जम्बीरी के रस से हुए उपद्रव को लवण शान्त कर देता है, लवण की अधिकता से हुए उपद्रव के शमन में तण्डुलजल (तण्डुलोदक) परम उपयोगी होता है।

उष्णेन शीतं शिशिरेण चोष्णमम्लेन च क्षारगुणो गुणाढ्यः।
स्नेहेन तीक्ष्णं वमनातियोगे सिता हिता स्यादिति काशिराजः।।

(अ.म. ४०)

शीतल गुण वाले भोज्य पदार्थ के खाने से हुए अजीर्ण को उष्ण गुण वाले भोज्य पदार्थ से तथा उष्ण गुण वाले पदार्थ के खाने से हुए अजीर्ण को शीतल गुण वाले पदार्थ के सेवन से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार खारे भोज्य से हुए अजीर्ण को अम्ल भोज्य से तथा अम्ल भोज्य के अजीर्ण को क्षार रस वाले भोज्य के सेवन से नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार तीक्ष्ण पदार्थ से हुए अजीर्ण को (घृत आदि) स्निग्ध पदार्थ के सेवन से दूर किया जा सकता है। अधिक वमन होने पर खाँड हितकारी होती है, ऐसा वैद्यशिरोमणि काशिराज (दिवोदास) का मत है।

काश्यपसंहिता में बताया गया है कि आरोग्य, आयु तथा बल को चाहने वाले व्यक्तियों को निम्न निर्देशों के अनुसार भोजन करना चाहिए-

१. उचित काल में भोजन करे।
२. सात्म्य भोजन करे।
३. उचित मात्रा में भोजन करे।
४. उष्ण भोजन करे।
५. स्निग्ध भोजन करे।

६. जो विरुद्ध न हो, ऐसा भोजन करे।
७. पवित्र स्थान में, पवित्र पात्रों (बर्तनों) में भोजन करे।
८. पवित्र परिचारक द्वारा लाया गया भोजन करे।
९. पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करे।
१०. शान्त होकर भोजन करे।
११. अच्छी प्रकार तन्मय होकर भोजन करे।
१२. स्वादपूर्वक भोजन करे।
१३. न अत्यन्त शीघ्रता से भोजन करे।
१४. न अत्यन्त धीरे-धीरे भोजन करे।
१५. न अत्यन्त उष्ण भोजन करे।
१६. न अत्यन्त शीत भोजन करे।
१७. न अत्यन्त रूक्ष भोजन करे।
१८. न अत्यन्त स्निग्ध भोजन करे।
१९. न बहुत अधिक परिमाण में भोजन करे।
२०. न बहुत स्वल्प परिमाण में भोजन करे।
२१. न अत्यन्त द्रव (तरल) भोजन करे।
२२. न अत्यन्त शुष्क भोजन करे।
२३. न भोजन के प्रति अनिच्छुक होने पर भोजन करे।
२४. न प्रतान्त (जलीय अंश की कमी) होने पर भोजन करे।
२५. न केवल एक रस वाला भोजन करे।

आरोग्यं दोषसमता सर्वाबाधनिवर्तनम्।
तदर्थमृषयः पुण्यमायुर्वेदमधीयते॥ (का.खि. ५.४)

दोषों का समावस्था में होना तथा सर्वविध रोगों की निवृत्ति 'आरोग्य' कहलाता है। इस आरोग्य के लिए ही ऋषि लोग पुण्य (पवित्र) आयुर्वेद का अध्ययन करते हैं।

रसायनानि विधिवत्तदर्थं चोपयुज्जते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवाप्तिश्च तदाश्रया।। (का.खि. ५.५)
तदात्मवांस्तदर्थाय प्रयतेत विचक्षणः।

उस आरोग्य के लिए ही विधिवत् रसायनों का प्रयोग किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष- इस चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति भी आरोग्य से ही होती है। चरकसंहिता के अनुसार आरोग्यदान के द्वारा वैद्य धर्म, अर्थ, काम तथा अभ्युदय एवं निःश्रेयस (मोक्ष) का दाता बन जाता है। निर्बल पुरुष जहाँ भौतिक अर्थ एवं काम की प्राप्ति में असमर्थ रहता है, वहाँ वह धर्म तथा मोक्ष से भी वञ्चित रहता है इसलिए बुद्धिमान् तथा आत्मवान् (जितेन्द्रिय मनुष्य) को आरोग्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

वेग

अधारणीय वेग

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः।
न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च।। (च.सू. ७.३)
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः।
न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च।। (च.सू. ७.४)

बुद्धिमान् व्यक्ति को मूत्र, पुरीष, शुक्र, अपानवायु, वमन, छींक, डकार, जम्भाई, भूख, प्यास, आँसू तथा निद्रा के वेग और श्रम के कारण उत्पन्न श्वासवेग को धारण नहीं करना चाहिए।

अधोवात-पुरीष-मूत्र-वेगावरोधजन्य रोगों की चिकित्सा

वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं वस्तिकर्म च।। (अ.हृ.सू. ४.५)
अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु।
मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्।। (अ.हृ.सू. ४.६)

जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्।
अवपीडकमेतच्च संज्ञितं-

अपानवायु, मल एवं मूत्र-वेगावरोधजन्य रोगों में सामान्य रूप से गुदवर्ति, अभ्यंग, अवगाहन, स्वेदन एवं बस्तिकर्म का प्रयोग करना चाहिए। मल-वेगावरोधजन्य रोगों में पूर्वोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त मलभेदक अन्नपान का विशेषरूप से प्रयोग करना चाहिए। मूत्र-वेगावरोधजन्य रोगों में पूर्वोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त अवपीड़क (घृत की उत्तम मात्रा) विशेषरूप से हितकर होती है। दिन में दो बार (अर्थात् भोजन से पहले एवं भोजन के जीर्ण हो जाने पर) दी जाने वाली घृत की उत्तम मात्रा (वह मात्रा जो चौबीस घण्टे में पचती है) को 'अवपीड़क' संज्ञा से जाना जाता है।

धारणीय वेग

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्।। (च.सू. ७.२६)

इस लोक और परलोक में भी सर्वथा अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने सामर्थ्य का अतिक्रमण (साहस[१]) कर कोई भी कार्य न करे तथा मन, वचन और कर्म से कोई भी अमाङ्गलिक (अनिष्ट) कृत्य न करे।

मन के धारणीय वेग

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः।। (अ.हृ.सू. ४.२४)

इस लोक तथा परलोक में अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को वश में करके लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, राग (विषयासक्ति) आदि वेगों को सदैव धारण करना चाहिए अर्थात् इन्हें रोक लेना चाहिए।

१. सहसा आत्मशक्तिमनालोच्य क्रियत इति साहसम्। (च.सू. ७.२६, चक्रपाणि:)

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान्विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्।। (च.सू. ७.२७)

बुद्धिमान् जन को लोभ[१], शोक[२], भय[३], क्रोध[४], मान-अपमान ,निर्लज्जता[५], ईर्ष्या[६], अतिराग[७] (आसक्ति), अभिध्या[८] (स्पृहा) आदि मानस वेगों को धारण करना चाहिए अर्थात् इन्हें रोक लेना चाहिए।

वाणी के धारणीय वेग

परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्।। (च.सू. ७.२८)

परुष[९] (कठोर बोलना), अतिमात्र[१०] (अधिक बोलना), सूचक[११] (चुगली करना), अनृत[१२](झूठ बोलना) तथा अकालयुक्त[१३] (बिना अवसर के प्रस्ताव या सलाह देना) ये वाणी के पांच वेग कहे गए हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को इन व्युत्थित वेगों को यथासमय धारण करना चाहिए। श्लोक में 'परुष-अतिमात्र-सूचक-अनृत-अकालयुक्त' ये पांचों वाक्य के विशेषण हैं।

---

१. लोभ: विषयेऽनुचिता प्रार्थना।
२. शोक: पुत्रादिविनाशजं दैन्यम्।
३. भयम् अपकारकानुसंधानजं दैन्यम्।
४. क्रोध: प्रद्वेषो येन प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते।
५. जुगुप्सितगोपनेच्छा लज्जा, तदभावो नैर्लज्यम्।
६. समाने द्रव्ये परसंबन्धप्रतिषेधेच्छा ईर्ष्या।
७. अतिराग उचित एव विषये पुन: पुन: प्रवर्तनेच्छा।
८ अभिध्या मनसा पराभिद्रोहचिन्तनं, यदि वा परद्रव्यविषये स्पृहा।

(च.सू. ७.२७, चक्रपाणि:)

९. परुषं परोद्वेजकं वचनम्।
१०. अतिमात्रं बहु।
११. सूचकं परानिष्टजनकाभिधायकम्।
१२. अनृतम् अपार्थकम्।
१३. अकालयुक्तम् अप्रस्तावगतम्। (च.सू. ७.२८, चक्रपाणि:)

शरीर के धारणीय वेग

देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान्विधारयेत्।। (च.सू. ७.२९)

बुद्धिमान् व्यक्ति को शरीर के इन वेगों को यथासमय धारण अर्थात् नियन्त्रित करना चाहिए- परपीड़ा[१] (देह से दूसरों को पीड़ा देना), परस्त्रीगमन, स्तेय[२] (चोरी), प्राणी की हिंसा[३] करना आदि[४]।

धारणीय वेगों का लाभ

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्।
धर्मार्थकामान्पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च।। (च.सू. ७.३०)

मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वथा पापरहित कर्मों को करने से मनुष्य पुण्यवान् या यशस्वी हो जाता है और सुखपूर्वक समस्त धर्म[५], अर्थ और काम का उपभोग तथा संचय करने में समर्थ हो जाता है।

नेत्र

नेत्ररक्षार्थ अंजन प्रयोग

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत्।
पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थे रसाञ्जनम्।। (च.सू. ५.१५)

नेत्रों के लिए लाभकारी सौवीराञ्जन[६] को नित्य दोनों नेत्रों में लगाना चाहिए तथा नेत्र की स्वच्छता के लिए व दुष्ट जल के स्रावण के लिए पाँचवीं या आठवीं रात्रि को रसाञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. परपीडया परपीडानिमित्तमित्यर्थः।
२. स्तेयं परद्रव्यग्रहणम्।
३. हिंसा विधिरहिता प्राणिपीडा।
४. आदिग्रहणाद् गुर्वाद्यभिमुखपादप्रसारणादि गृह्यते। (च.सू. ७.२९) चक्रपाणिः
५. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकम् १.१.२)
६. सौवीराञ्जनं तु विरेचनं न भवति, चक्षुःप्रसादमात्रं करोति।
(च.सू. ५.१७, चक्रपाणिः)

नेत्र की कफदोष से रक्षा

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्।
ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम्।। (च.सू. ५.१६)

चक्षुरिन्द्रिय तेजोमय है, उन्हें विशेषतः विकृत कफ से भय है अतः दृष्टि की निर्मलता के लिए कफहर कर्म हितकारी हैं।

दिन में अञ्जन-निषेध

दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्।
विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति।
तस्मात्स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते।। (च.सू. ५.१७-१८)

दिन के समय नेत्रों में कफनाशक व तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि विरेचन कर्म से दुर्बल हुई दृष्टि सूर्य के प्रकाश में कष्ट पाती है अतः जलस्रावक तीक्ष्ण अञ्जनों का निश्चितरूप से रात्रि में ही प्रयोग करना उचित है।

उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा।
शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत्।। (सु.चि.२४.५९)

सिर पर गर्म जल डालकर स्नान करना आँखों के लिए अहितकर तथा सिर पर शीतल जल डालकर स्नान करना आँखों के लिए हितकारी होता है।

लौह एवं नेत्र में समानता

अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता।
उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः।। (अ.हृ.सू. २३.२१)

जिस प्रकार लोहे की उत्पत्ति पत्थर से होने के कारण लोहे में तीक्ष्णता आ जाती है और वह पत्थर के चोट से टूट भी जाता है, ठीक उसी प्रकार नेत्र की उत्पत्ति तेजस् तत्त्व से होने के कारण नेत्र में तीक्ष्णता (तेजोमयता) आ जाती है और वह तेजस् तत्त्व के अनुचित प्रयोग से ही नष्ट भी हो जाता है।

रक्तचर्चा

शुद्ध-रक्त का लक्षण

मधु लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम्।
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम्।। (अ.हृ.सू. २७.१)
लोहितं प्रभवः शुद्धं, तनोस्तेनैव च स्थितिः।

शुद्ध रक्त मधुर, किञ्चित् नमकीन, न अधिक गर्म, न अधिक शीतल, द्रवरूप और कमल, बीरबहूटी, स्वर्ण, भेड़ एवं खरगोश के रक्त के समान रक्तवर्ण वाला तथा शरीर की उत्पत्ति में कारण होता है। इसी शुद्ध रक्त से ही शरीर की स्थिति बनी रहती है।

शुद्ध रक्त वाले पुरुष का लक्षण

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति।।
(च.सू. २४.२४)

विमल वर्ण और विशुद्ध इन्द्रियों वाले, इन्द्रिय पदार्थों की इच्छा करते हुये जठराग्नि तथा वेगों की प्रवृत्ति में अव्याहत गति वाले, सुख, पुष्टि एवं बल से युक्त पुरुष को विशुद्ध रक्त वाला कहते हैं।

रक्तदुष्टि के हेतु एवं रक्तज रोग

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते कुरुते ततः।। (अ.हृ.सू. २७.२)
विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माग्निसदनज्वरान्।
मुखनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यताः।। (अ.हृ.सू. २७.३)
कुष्ठवातास्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गिरणभ्रमान्।

पित्त एवं कफदोष को बढ़ाने वाले आहार द्रव्यों के सेवन से शुद्ध रक्त दूषित हो जाता है। दूषित रक्त से विसर्प, विद्रधि, प्लीहारोग,

गुल्मरोग, अग्निमान्द्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, मद, तृष्णा, लवणास्यता (मुख का नमकीन स्वाद), कुष्ठरोग, वातरक्त, रक्तपित्त, कटु व अम्लोद्गार और भ्रमरोग की उत्पत्ति होती है।

रक्तज रोग की चिकित्सा

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः।। (अ.हृ.सू. २७.४)
सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजाः।
तेषु स्त्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यधयेत्सिराम्।। (अ.हृ.सू. २७.५)

जो सुखसाध्य (सम्यक्साध्य) रोग शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि उपचारों से युक्त होने पर भी शान्त नहीं होते हैं, उन्हें रक्तज रोग समझना चाहिए। रक्तज रोगों में उभरे हुए रक्त को निकालने के लिए सिरावेध करना चाहिए।

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते।। (सु.सू.१४.५)

प्राणियों के शरीर में स्थित निर्मल/शुद्ध तेज अर्थात् पित्त से रञ्जित तथा अव्यापन्न (निर्मल) जो रसरूप जल है, वह रक्त कहलाता है।

विशेष- चरकसंहिता में भी तेज को ही रक्त का हेतु बतलाया है-

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।। (च.चि. १४.५)

चिकित्सा

चिकित्सा की परिभाषा

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्।।

(च.सू.१६.३४)

जिन क्रियाओं के द्वारा विषम हुई शरीर की धातुएँ सम हो जाती हैं, ऐसे कर्मों को **विकारों (रोगों) की चिकित्सा** इस नाम से कहा जाता है और यही वैद्यों का उत्कृष्ट कर्म है।

साध्य रोगों की चिकित्सा

विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः।
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसम्मताः।। (च.सू. १.६२)

वैद्य द्वारा साध्य माने गये रोग देश (रोगी-शरीर व भूमि), मात्रा (जो वातादि दोष, औषध, शरीर-बल, मनोबल, आहार, सात्म्य, प्रकृति एवं आयु का विचार करके निश्चित की गई हो) तथा काल (वर्षा आदि ऋतुएँ) के अनुसार विपरीत गुणों वाले द्रव्यों से निवृत्त हो जाते हैं।

असाध्यरोग-चिकित्सा का प्रतिषेध

साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते। (च.सू.१.६३)

असाध्य व्याधियों की चिकित्सा का उपदेश नहीं दिया जाता है[१]। जो रोग चिकित्सा द्वारा भी ठीक नहीं होते, उन्हें 'प्रत्याख्येय' और 'अनुपक्रम' (अचिकित्स्य) रोगों की कोटि में रखा जाता है।

चिकित्सा के चार चरण

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।
गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये।। (च.सू. ९.३)
(अ.हृ.सू. १.२७)

चिकित्सा के लिए चार पाद या चरण अवश्य ध्यान देने योग्य हैं- १.वैद्य २.औषधद्रव्य ३.परिचारक और ४.रोगी। इन चारों का

१. (क) अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्।। (च.सू. १०.८)
(ख) नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः (सां.सू. १.९)

गुणसम्पन्न होना आवश्यक है। विकारों अर्थात् रोगों के शमन के लिए इन चारों को ही कारण कहा है।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।। (च.सू. ९.४)

धातुओं की विषमता अर्थात् वात-पित्त और कफ की विषमता, मल की विषमता तथा सप्त धातुओं की विषमता से विकार उत्पन्न होते हैं। इन सभी की समता को 'प्रकृति' कहा जाता है। आरोग्य (रोगरहित रहना) का ही नाम 'सुख' है और विकारों को 'दुःख' की संज्ञा दी गई है।

विशेष- धातु शब्द से दोष, धातु व मल, तीनों का ही ग्रहण किया गया है क्योंकि 'धारणाद् धातवः' इस नियम से तीनों ही शरीर को धारण करते हैं। वात-पित्त-कफ को दोष तब कहते हैं जब वे कुपित हो जाते हैं। 'मल मल्ल धारणे' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मल भी 'धातु' ही है।

चिकित्सा की परिभाषा

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते।। (च.सू. ९.५)

त्रिदोष, सप्तधातु और मलों के विकृत होने पर प्रशस्त भिषग् आदि चारों के द्वारा धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे 'चिकित्सा' कहा जाता है।

चिकित्सा में वैद्य की प्रधानता

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्।
विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु।। (च.सू.९.१०)

रोग की निवृत्ति में वैद्य, औषध, उपचारक व रोगी- ये जब कुल मिलाकर सोलह गुणों से युक्त होते हैं, तब चिकित्सा सफल होती है, किन्तु

इन चारों में वैद्य प्रधान है; क्योंकि वह औषध का जानने वाला होता है। परिचारक का शासन करने वाला होता है। रोगी के रोग का परीक्षण करके उसके लिए औषध, पथ्य आदि की योजना करने वाला होता है।

पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः।
विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च।। (च.सू.९. ११)
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसञ्ज्ञिताः।
वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक्।। (च.सू. ९.१२)

पाचक के भोजन पकाने में जैसे पात्र, इन्धन और अग्नि कारण (उपकरण) होते हैं उन्हें रोगी के सन्दर्भ में अन्वित किया जाए तो कहना होगा कि रोगी भोजन के पात्र के समान, परिचारक इन्धन के समान, अग्नि औषध के समान वैद्य के सहायक होते हैं। इसी प्रकार विजेता की विजय के सापेक्ष रोगी भूमि के समान, सेना परिचारक के समान और औषध प्रहार के समान विजेता वैद्य के सहायक बनते हैं इसलिए चिकित्सा में वैद्य ही प्रधान है। प्रकृत में चिकित्सारूपी कार्य में आतुर, परिचारक, औषध व वैद्य-ये कारणसंज्ञक चार पाद हैं।

मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा।
नावहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा।। (च.सू. ९.१३)

मिट्टी के घड़े का दृष्टान्त बताकर वैद्य की प्रधानता बताई जा रही है। जैसे मिट्टी, दण्ड, चक्र और सूत आदि घड़े का निर्माण तब तक नहीं कर सकते जब तक इन साधनों का आयोजक कुम्भकार न हो। उसी प्रकार बिना वैद्य के रोगी, परिचारक और औषध रोगनिवारण करने में समर्थ नहीं होते।

गन्धर्वपुरवन्नाशं यद्विकाराः सुदारुणाः।
यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशूपायप्रतीक्षिणः।। (च.सू. ९.१४)
सति पादत्रये ज्ञाज्ञौ भिषजावत्र कारणम्।

गन्धर्वनगर का दृष्टान्त देते हुए रोग के नाश में और उसके उत्पन्न होने में वैद्य को ही कारण माना जाता है। चिकित्सा के उपाय की प्रतीक्षा करने वाले कठिन रोग भी एक तरफ गन्धर्व नगर के समान नाश को प्राप्त हो जाते हैं। दूसरी तरफ वे ही रोग वैद्य, परिचारक और औषध के रहते हुए भी वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं जोकि रोगी, परिचारक और औषध के समान रूप से रहने पर भी कभी उपचार होता है, कभी नहीं। इन दोनों परिस्थितियों में ज्ञानी और अज्ञानी वैद्य ही कारण बनते हैं।

अयोग्य व्यक्ति से चिकित्सा कराने का निषेध

वरमात्मा हुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता।। (च.सू. ९.१५)
पाणिचाराद्यथाचक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक्चरति कर्मसु।। (च.सू. ९.१६)

अयोग्य, अज्ञानी चिकित्सक से चिकित्सा कराने की तुलना में स्वयं को अग्नि में आहुत कर देना अच्छा है। जिस प्रकार नेत्रहीन मनुष्य मार्ग को न देखने के कारण अज्ञानतापूर्वक हाथ से टटोल-टटोलकर भयभीत होकर इधर-उधर चलता है तथा जिस प्रकार नौका वायु के वशीभूत होकर इधर-उधर जाती है (चरति कर्मसु) उसी प्रकार अज्ञानी वैद्य भी रोगी का बिना परीक्षण किए अनर्थ उपचारों के द्वारा उस पर प्रयोग करता रहता है।

यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्।
भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम्।। (च.सू. ९.१७)

किसी भिषङ्मानी के द्वारा सुनिश्चित आयु वाले किसी व्यक्ति की रोग चिकित्सा हो भी जाए तो भी जिस किसी प्रकार से पार उतारकर चिकित्सा हो भी जाए तो भी सैकड़ों अनिश्चित आयु वाले व्यक्तियों को वह शीघ्र ही मृत्यु के घाट उतार देता है।

मानस चिकित्सा

तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने प्रयतितव्यं, न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा। तस्मादेतच्चानुष्ठेयम्- तद्विद्यवृद्धानां चोपसेवने प्रयतितव्यम्, आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति।।

(च.सू. ११.४६)

मानसिक रोग से पीड़ित होने पर भी बुद्धिमान् व्यक्ति को स्वयं के विवेक से अपने हित और अहित की पुनः पुनः समीक्षा कर अहितकर धर्म, अर्थ और काम का सेवन न करने तथा हितकर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि इस लोक में इन तीनों (धर्म, अर्थ और काम) के बिना मानसिक सुख या दुःख संभव नहीं है इसलिए इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए तथा तद्विद्य (अर्थात् मानस रोग के विशिष्ट चिकित्सकों) और आप्तपुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। आत्मा, देश, कुल, काल, बल और शक्ति (उत्साह) इन सभी को जानने में यथासंभव प्रयत्न करें।

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वश इति।। (च.सू.११.४७)

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का विचारपूर्वक अनुष्ठान करना मानस रोगों की चिकित्सा है। मानस रोग विशेषज्ञ तथा त्रिवर्ग के विज्ञाता विद्वज्जनों की सेवा, शुश्रूषा व सान्निध्य से आत्मादि पूर्वोक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे मानसिक रोग दूर होते हैं।

तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः।। (च.सू. ३०.१३)

हृद्यं यत्स्याद्यदौजस्यं स्रोतसां यत् प्रसादनम्।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च।। (च.सू. ३०.१४)

'महत्' अर्थात् हृदय, उस हृदय से निकलने वाली धमनियाँ (जो ओजरूपी जीवनरक्षक रस का वहन करती हैं) तथा उस ओज की भी रक्षा करते हुए मनुष्य को विशेषरूप से सभी प्रकार के मानसिक दु:ख देने वाले कारणों को त्याग देना चाहिए। ऐसे आहार जो हृदय व ओज के लिए पथ्य (हितकारी) हों तथा स्रोतों को स्वच्छ करने वाले हों, उनका सेवन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए तथा शान्ति व ज्ञान (तत्त्वज्ञान) का भी सेवन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

रोग के प्रारम्भ में चिकित्सा का महत्त्व

अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातींश्चाहूय भाषते।
सर्वस्वेनापि मे कश्चिद्भिषगानीयतामिति।। (च.सू. ११.६०)

स्वयं की लापरवाही के कारण अथवा प्रथम अवस्था में रोग की चिकित्सा न करने से वह रोगी अत्यधिक पीड़ा सहकर अपने पुत्रों, पत्नी, सगे-सम्बन्धियों का आह्वान करके कहता है कि यदि मेरा सर्वस्व भी इस व्याधि को ठीक करने में लग जाए तो भी किसी चिकित्सक को बुलाकर मेरी चिकित्सा करा लो।

तथाविधं च क: शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम्।
कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम्।। (च.सू. ११.६१)
स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम्।
गोधा लांगूलबद्धेवाकृष्यमाणा बलीयसा।। (च.सू. ११.६२)

(पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित) उस प्रकार के दुर्बल, रोगग्रस्त, कृश, क्षीण इन्द्रियों वाले, दीन-हीन, क्षीण आयु वाले रोगी की रक्षा करने में कौन वैद्य समर्थ हो सकता है अर्थात् ऐसे रोगी को कोई नहीं बचा सकता।

जिस प्रकार पूँछ से बँधी हुई गोधा को यदि कोई बलवान् व्यक्ति खींचता है तो वह प्राण त्याग देती है वैसे ही रोग द्वारा खींचा जाता हुआ मूर्ख रोगी प्राणरक्षक वैद्य को प्राप्त न करके प्राणों का त्याग कर देता है।

तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः।। (च.सू. ११.६३)

इसलिए जो व्यक्ति अपने लिए सुख चाहता है उसको रोगों की उत्पत्ति से पहले अथवा रोगों की तरुण अवस्था में ही अर्थात् रोगोत्पत्ति के प्रारम्भ काल में ही ओषधियों द्वारा उसकी चिकित्सा कर लेनी चाहिए।

साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते।
स किंचित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते।।
यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते ।।
यथा ह्यल्पेन यत्नेन छिद्यते तरुणस्तरुः।
स एवातिप्रवृद्धस्तु छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः।।
एवमेव विकारोऽपि तरुणः साध्यते सुखम्।
विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते।।
(च.नि. ६.१२-१५)

'यह रोग साध्य है' ऐसा विचार कर जो व्यक्ति पहले रोग की उपेक्षा करता है वह कुछ समय के बाद मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जो रोगों के उत्पन्न होन से पहले ही अथवा रोगों की प्रारंभिक अवस्था में ही उनकी अच्छी प्रकार से चिकित्सा करता है, वह दीर्घकाल तक सुख प्राप्त करता है। जैसे छोटा पेड़ थोड़े से ही प्रयत्न से कट जाता है परन्तु बड़ा होने पर अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक कटता है इसी प्रकार विकार भी प्रारम्भिक अवस्था में सुखसाध्य होता है परन्तु वही बढ़ जाने पर अत्यन्त कष्टसाध्य अथवा असाध्य हो जाता है।

संशोधन चिकित्सा की श्रेष्ठता

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः।। (च.सू. १६.२०)
दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति।
रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिर्ध्रुवा।। (च.सू. १६.२१)
(अ.हृ.सू. ४.२६)

संशोधन विधि से पुनः रोगोत्पत्ति का न होना- लंघन (उपवास) तथा पाचन द्रव्यों द्वारा शमन को प्राप्त हुए दोष भी कभी अनुकूल परिस्थितियों को पाकर कुपित हो जाते हैं, परन्तु संशोधन क्रियाओं द्वारा जीते हुए दोषों की पुनः उत्पत्ति कदापि नहीं होती। दोष एवं वृक्ष की तुलना से विवरण करते हुए कहते हैं कि दोषों के तथा वृक्षों के मूल के नाश न होने पर गये हुए रोगों व कटे हुए वृक्षों की फुटान (प्रसवानाम्) पुनः उत्पति (आगति/आगमन) सुनिश्चित है। इसलिए संशोधन प्रक्रिया द्वारा दोषों का समूल नाश करना चाहिए, यही सबसे हितकर है।

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति।
अत्यर्थसञ्चितास्ते हि क्रुद्धाः स्युर्जीवितच्छिदः।। (अ.हृ.सू. ४.२५)

वात आदि दोषों तथा पुरीष आदि मलों का उचित समय पर शोधन करते रहना चाहिए; क्योंकि काल का अतिक्रमण होने पर दोष अत्यधिक रूप से संचित एवं कुपित होकर जीवन को ही नष्ट करने वाले हो जाते हैं।

चिकित्सा से पूर्व निदान व निरामता की आवश्यकता

परीक्ष्य हेत्वामयलक्षणानि चिकित्सितज्ञेन चिकित्सकेन।
निरामदेहस्य हि भेषजानि भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि।।
(यो.श. २)

आमय (रोग) के हेतु एवं लक्षणों की परीक्षा कर आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक द्वारा निराम (आमरहित) शरीर वाले रोगी के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले भेषज (औषध) अमृततुल्य बन जाते हैं।

यहाँ आयुर्वेद का मुख्य सिद्धान्त बताया गया है कि औषध-प्रयोग से पहले रोगी के शरीर को आमरहित करना चाहिए, तभी औषध-योग सफल होते हैं। एतदर्थ 'आम' (आँव) का पाचन आवश्यक होता है। आम का अर्थ है- अपक्व आहार रस। अजीर्णाशन (बिना पचे खाना) एवं अध्यशन (खाए के ऊपर पुनः शीघ्र खाना) 'आम' के मुख्य कारण हैं। ज्वर में तो आमपाचन के लिए लङ्घन (उपवास) को अत्यावश्यक माना गया है।

ज्वराभिभूते षडहादनन्तरं विपक्वदोषे कृतलङ्घनादिभिः।
यद् भेषजं वैद्यवरः प्रयोजयेदसंशयं हन्त्यचिरेण रोगान्॥

(यो.श. २)

ज्वरग्रस्त होने पर औषधसिद्ध पेय व लंघन आदि से दोषों के विपक्व होने पर छह दिन के पश्चात् वैद्यजन जिस उचित भेषज (औषध) का प्रयोग करते हैं, वह निःसन्देह शीघ्र ही रोग को नष्ट कर देता है।

अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लंघनात्॥

(गदनिग्रह, शालाक्य. नेत्ररोगा. १००)

आँख तथा पेट में उत्पन्न होने वाले रोग, प्रतिश्याय, व्रण एवं ज्वर- ये पाँच रोग पाँच दिन तक लंघन करने से नष्ट हो जाते हैं।

चिकित्सा के भेद

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा।

औषध (चिकित्सा) संक्षेप में दो प्रकार की होती है- १. शोधन एवं २. शमन।

शारीरिक एवं मानसिक दोषों की चिकित्सा

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।। (अ.हृ.सू. १.२५)
बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।
धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्।। (अ.हृ.सू. १.२६)

शारीरिक-दोषों की अर्थात् वात, पित्त एवं कफ की सर्वोत्तम संशोधन चिकित्सा क्रमशः बस्ति, विरेचन एवं वमन और सर्वोत्तम संशमन चिकित्सा क्रमशः तैल, घृत एवं मधु है। मानसिक दोषों (रज एवं तम) की सर्वोत्तम औषध (चिकित्सा) बुद्धि, धैर्य एवं आत्मा आदि का ज्ञान (आत्म-बोध) है।

उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।। (शांतिपर्व २७४.८)

कायिक उपद्रवों[१] तथा रोगों को हित, जीर्ण होने के बाद कृत तथा परिमित आहार के द्वारा दूर करना चाहिए। व्याधि के नाश के लिए यही प्रकृष्ट उपाय होता है।

सर्व-वेगावरोधजन्य रोगों की चिकित्सा

ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम्।। (अ.हृ.सू. ४.२३)

वेगों को बलपूर्वक रोकने एवं निकालने से प्रायः वायु ही अनेक प्रकार से प्रकुपित होती है, जिसको शान्त करने के लिए वातानुलोमक अन्नपान और औषध का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. उपद्रव= मूल रोग के उत्पन्न होने पर जो उत्पन्न होते हैं, वे उपद्रव हैं। हम इनको complications तथा sequelae कह सकते हैं। 'उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायते इति उपद्रवसंज्ञः (चरक); यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति सः तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः (सुश्रुत)।' रोगारम्भक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला विकार उपद्रव है- यह भाव प्रकाश का मत है।

(पात० योग० १.३०, स्वामी हरिहरानन्द आरण्य)

दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा

आध्यात्मिक चिकित्सा को आयुर्वेद में 'दैवव्यपाश्रय चिकित्सा' कहते हैं। इसमें मन की शुद्धि, आचरण की पवित्रता एवं आध्यात्मिक अनुष्ठान मुख्य होते हैं। यह बहुत ही प्रभावशाली एवं तन-मन को शीघ्र ही स्वास्थ्य व शान्ति प्रदान करने वाली चिकित्सा है। निम्न पद्य में इसी का वर्णन है-

होमोपवासनियमाः प्रायश्चित्तं जपव्रतम्।
देवद्विजार्चनं मन्त्र-बलि-स्वत्ययनानि च।
दैवव्यपाश्रयं ह्येतदौषधं परिकीर्तितम्।।

होम- हवन/अग्निहोत्र प्राचीनतम भारतीय चिकित्सा-पद्धति का एक बहुत सशक्त साधन है। घर में हवन करने से तुरन्त ही रोगजनक रोगाणु-कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इससे तन व मन दोनों का स्वास्थ्य मिलता है।

उपवास- यह भी 'दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा' का विशिष्ट अंग है। अधिकांश रोग अधिक खाने व अजीर्ण में खाने से होते हैं। उपवास इस प्रकार के रोगों को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है। कहा भी है- **'जीर्णे भोजनमात्रेय लङ्घनं परमौषधम्'** अर्थात् सदा पूर्वभोजन के जीर्ण होने (पचने) पर ही भोजन करना चाहिए। यदि कभी प्रमादवश अजीर्णाशिन, अध्यशन या अत्यशन हो जाए तो लंघन (उपवास) से उस दोष का शमन करना चाहिए, यह परम औषध है। आयुर्वेद में कहा गया है कि सभी रोगों का मुख्य कारण मलों का कुपित होना है। इस कारण का निवारण करने के लिए उपवास से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है अतः उपवास को 'दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा' का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। ध्यान रहे उपवास क्षमता के अनुसार सीमित ही करना चाहिए, बहुत अधिक नहीं।

नियम- मन व इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने के लिए अहिंसा आदि यमों तथा शौच (मन व शरीर की स्वच्छता) आदि नियमों का पालन इसके अन्तर्गत आता है। इन्हें अपनाने वाले व्यक्ति का मन निर्मल व शान्त रहता है तथा रोगों की चिकित्सा में सकारात्मक स्थिति बनती है।

प्रायश्चित्त- जाने-अनजाने में किसी पाप या अपराध के हो जाने पर उसे स्वीकार कर पश्चात्ताप करते हुए किसी तप का अनुष्ठान करना प्रायश्चित्त कहलाता है। इसका उद्देश्य पाप के संस्कार को नष्ट करना व उसकी पुनरावृत्ति न करने का निश्चय करना है। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति पाप, अपराध व रोगकारक अपथ्यों से बचा रहता है अत: यह भी 'दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा' का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

धर्मशास्त्रों में पापों के प्रायश्चित्त के लिए चान्द्रायण आदि व्रतों के साथ प्राणायाम को भी वैकल्पिक प्रायश्चित्त के रूप में बताया है; क्योंकि इससे मन व तन निर्मल और स्वस्थ हो जाते हैं तथा पाप की भावना नष्ट हो जाती है। प्राणायाम को सबसे बड़ा तप माना है- '**प्राणायाम: परं तप:**'। इससे रजोगुण और तमोगुण का क्षय होता है तथा सत्त्वगुणी प्रवृत्ति बढ़ती है। इसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य का मन शान्त और सन्मार्गारूढ हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम से शारीरिक व मानसिक रोग दूर हो जाते हैं। इसके पीछे रहस्य यह है कि मन की वृत्ति प्राणवृत्ति पर अवलम्बित होती है। प्राणायाम के द्वारा प्राण को साधने से मन भी शान्त व निष्कल्मष हो जाता है। अत एव प्रतिदिन प्रात:-सायं स्वच्छ वायुमण्डल में गहरे लम्बे श्वास लेने व अन्य प्राणायाम का अभ्यास करने से मन की चञ्चलता समाप्त हो जाती है और वह एकाग्र एवं शान्त हो जाता है। इससे शरीर एवं विशेषरूप से मस्तिष्क को पर्याप्त प्राणवायु मिलती है जिससे निराशा व तनाव दूर होता है तथा मन में उत्साह व उल्लास प्रकट होता है। इस प्रकार

प्रायश्चित्त का मुख्य साधन 'प्राणायाम' दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का अति महत्त्वपूर्ण अंग है।

जप- गायत्री आदि मन्त्रों का जप करना, प्रणव (ओंकार) का जप करना इसके अन्तर्गत आता है। जप करने से व्यक्ति के मानसिक विकार शान्त हो जाते हैं तथा रोगी को शीघ्र स्वास्थ्यलाभ हो जाता है। वैदिक परम्परा में सन्ध्या के साथ नित्य गायत्री-जप करने का विधान किया गया है। यह मन की शान्ति के साथ आरोग्य भी प्रदान करता है।

व्रत- किसी दुर्व्यसन को छोड़ने के लिए दृढ़ संकल्प करना व अपनी बुरी आदतों व बुराइयों को छोड़ने के लिए दृढ़ निश्चय करना व्रत कहलाता है। इससे व्यक्ति अशान्ति व अनारोग्य पैदा करने वाली स्थितियों से बचा रहता है तथा रोगी शीघ्र स्वास्थ्यलाभ करता है।

देवार्चन- भगवान् की पूजा करने से शीघ्र आरोग्यलाभ होता है। इससे मन निर्मल व शान्त हो जाता है तथा व्यक्ति सन्मार्ग पर चलते हुए उचित आहार-विहार का सेवन करने लगता है। भगवद्-भजन से मानस विकारों के शान्त होने से व्यक्ति के शारीरिक विकार भी स्वत: ही शान्त हो जाते हैं। आयुर्वेद का प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि '**मानसे ह्युपशान्ते हि शारीरमुपशाम्यति**' अर्थात् मानसिक विकारों के शान्त होने पर शारीरिक विकार अपने-आप शान्त होने लगते हैं अत: चित्तशुद्धि करने वाले देवार्चन को 'दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा' में मुख्य स्थान प्राप्त है।

द्विजार्चन- द्विज अर्थात् विद्वान्, गुणी, सदाचारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सज्जन व्यक्तियों का संग, सत्कार व पूजन करने से व्यक्ति उन्हीं जैसा सदाचारी बन जाता है। इस से संयम व पथ्याहारपूर्ण जीवनचर्या अपनाने के कारण रोगों से बचा रहता है।

मन्त्र- पवित्र वेदमन्त्रों का पाठ करने से मन सत्त्वगुणप्रधान बनता है तथा व्यक्ति संयमी होकर अनुचित आचरण व अनुचित आहार-विहार से बचा रहता है। इस प्रकार उसे मन्त्र-साधना से भी आरोग्यलाभ होता है।

बलि- बलि का अर्थ है भेंट। इसीलिए 'बलिवैश्वदेव यज्ञ' में नाना जन्तुओं एवं पशु-पक्षियों के लिए भोजन के रूप में बलि (भेंट) दी जाती है। इससे सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना व हितैषिता का भाव बढ़ता है, मन निर्मल होता है तथा व्यक्ति सात्त्विकता व प्रसन्नता को प्राप्त करता है। इससे आरोग्यलाभ में विशेष सहायता मिलती है।

स्वस्त्ययन- इसे स्वस्तिवाचन भी कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के द्वारा स्वस्ति अर्थात् कल्याण एवं शुभ की प्रार्थना की जाती है। इससे स्वास्थ्यलाभ में बड़ा ही सकारात्मक प्रभाव पड़ता है एवं रोगी का मनोबल बहुत बढ़ जाता है जिससे शीघ्र रोगमुक्त होने में सहायता मिलती है। इस प्रकार स्वस्त्ययन भी आरोग्यलाभ का एक विशिष्ट उपाय है। अत एव यह भी 'दैवव्यपाश्रय-चिकित्सा' के अन्तर्गत आता है।

अध्याय-१०

चिकित्सा की विविध विधियाँ

पञ्चकर्म का उपदेश

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्।। (च.सू. २.१५)

पहले स्नेहन एवं स्वेदन प्रक्रिया (पंचकर्म से पूर्व किए गए कर्म) के माध्यम से उद्घाटित किये गये दोषों का पश्चात् मात्रा और काल का विचार करते हुए पञ्चकर्म (नस्य-वमन-विरेचन-आस्थापन/अनुवासन[१]-रक्तमोक्षण) द्वारा उपशमन करे[२]।

विरेचन द्रव्यों के आधार

षड् विरेचनाश्रया इति क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानीति।।

(च.सू. ४.५)

विरेचन द्रव्यों में दूध, मूल (जड़), छाल, पत्ती, फूल और फल- इन्हीं छः आश्रय औषधद्रव्यों के अंगों को लिया जाता है।

कषाय (काढ़ा) की पाँच योनियाँ

पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायोऽम्लकषायः कटुकषायस्तिक्तकषायः कषायकषायश्चेति तन्त्रे सञ्ज्ञा।। (च.सू. ४.६)

कषाय अर्थात् क्वाथ के पाँच उत्पत्ति स्थान हैं- १. मधुरकषाय २. अम्लकषाय ३. कटुकषाय ४. तिक्तकषाय और ५. कषायकषाय। इस तरह आयुर्वेदशास्त्र में इन पाँचों की कषाय संज्ञा है।

---

१. बस्तिभेद- आस्थापन (निरूह), अनुवासन (स्नेहबस्ति)। द्रष्टव्य पृ०- ३८७

२. यथा ज्वरे-कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्।। (च.सू. २.१५ चक्रपाणिः)

पञ्चविध कषाय कल्पना

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति तद्यथा- स्वरसः, कल्कः, शृतः, शीतः, फाण्टः, कषाय इति। तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्; अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी; न त्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति।। (च.सू. ४.७)

(यन्त्रनिष्पीडिताद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते।
यः पिण्डो रसपिष्टानां स कल्कः परिकीर्तितः।।
वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः।
द्रव्यादापोथितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्।।
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः।
क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत् फाण्टं परिकीर्तितम्।।

कषाय-कल्पना (निष्पत्ति)पाँच प्रकार की होती है- स्वरस, कल्क, शृत, शीत तथा फाण्ट। उन पाँच कषाय कल्पनाओं में पूर्व-पूर्व के क्रम से बल की अधिकता होती है अतः व्याधि और रोगी के बल को ध्यान में रखते हुए इन कषाय-कल्पनाओं का प्रयोग करना चाहिए; सभी कषाय-कल्पनाएँ सभी रोगों में लाभकारी नहीं होती हैं।

स्वरस- किसी ताजा ओषधि को यन्त्रविशेष से निचोड़कर जो रस प्राप्त होता है, उसे 'स्वरस' कहते हैं। **कल्क-** रस के साथ पीसे हुए ओषधिद्रव्य का पिण्डीभूतरूप 'कल्क' कहलाता है। **शृत-** औषधद्रव्य को जल में डालकर पकाने को चिकित्सक 'शृत' (क्वाथ) कहते हैं। **शीत-** कूटे हुए द्रव्य को रात भर गर्म जल में रखा जाता है, फिर उसे छानकर जो सारभूत रस मिलता है, उसे 'शीत' कहते हैं। **फाण्ट-** कुटे हुए द्रव्य को उष्ण जल में डालकर और मसलकर जो सारभाग जल प्राप्त होता है, उसे 'फाण्ट कहते हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः- नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश। एकोऽपि ह्यनेकां सञ्ज्ञां लभते कार्यान्तराणि कुर्वन्, तद्यथा- पुरुषो बहूनां कर्मणां करणे समर्थो भवति, स यद्यत् कर्म करोति तस्य तस्य कर्मणः कर्तृकरणकार्यसम्प्रयुक्तं तत्तद्गौणं नामविशेषं प्राप्नोति, तद्वदौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम्। यदि चैकमेव किञ्चिद्द्रव्यमासादया-मस्तथागुणयुक्तं यत् सर्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात्, कस्ततोऽन्यदि-च्छेदुपधारयितुमुपदेष्टुं[१] वा शिष्येभ्य इति।। (च.सू.४.२२)

भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा कि बुद्धिमान् का इस प्रकार देखना उचित नहीं है; क्योंकि अनेक कार्यों को करता हुआ एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्यों के साहचर्य से अनेक संज्ञाओं को प्राप्त होता है। वह जो कर्म करता है, उस कर्म के कर्त्ता, करण और कार्य के अनुसार उस-उस गुण वाले विशेष नाम को प्राप्त करता है। उसी प्रकार औषध द्रव्यों को भी देखना चाहिए। यदि हम एक ही किसी ऐसे गुणयुक्त द्रव्य को प्राप्त कर लें, जो सभी कर्म करने में समर्थ हो तो कौन उससे भिन्न द्रव्य को आवृत्तिपूर्वक स्मरण रखने या शिष्यों को उपदेश करने की इच्छा करेगा।

स्नेहविधि

स्नेहों का अनुपान

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत् स्नेहे तत्सुखपक्तये।
आस्योपलेपशुद्ध्यै च, तौवरारुष्करे न तु।। (अ.हृ.सू. १६.२३)
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च लघुता रुचिः।। (अ.हृ.सू. १६.२४)

अच्छस्नेह का सेवन करने के बाद स्नेह के सुखपूर्वक पाचन हेतु और मुख की चिपचिपाहट को दूर करने हेतु **उष्ण-जल** का अनुपान करना

१. उपधारयितुम् आवर्तनेन् स्मृत्यारूढ़ं कर्तुमित्यर्थः। (चक्रपाणिः)

चाहिए। तुवरक (चालमोगरा) और भल्लातक तैल का पान करने के बाद उष्ण जल के स्थान पर **शीतल-जल** का अनुपान करना चाहिए। स्नेह के जीर्ण या अजीर्ण होने की आशंका होने पर **उष्ण-जल** का ही अनुपान करना चाहिए। उष्ण-जल पीने से उद्गार की शुद्धि, भोजन में रुचि और शरीर में लघुता उत्पन्न होती है।

स्नेह-पान में आहार-विहार (अष्टांगहृदय)

भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि।
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम्[१]।। (अ.हृ.सू. १६.२५)

स्नेहपान में आहार- स्नेहपान कराने के एक दिन पूर्व, स्नेहपान वाले दिन और स्नेहपान के एक दिन पश्चात् अर्थात् कुल तीन दिन तक उचित मात्रा में द्रवबहुल उष्ण, अनभिष्यन्दी भोजन देना चाहिए, ध्यान रहे यह भोजन अति स्निग्ध न हो और अनेक भोज्यों का मिश्रण न हो।

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान्।। (अ.हृ.सू. १६.२६)
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यासनसंस्थितीः।
नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च।। (अ.हृ.सू. १६.२७)
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत्।

स्नेहपान में विहार- इसके अतिरिक्त स्नान, पान आदि में उष्ण जल का प्रयोग, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन एवं रात्रि शयन करना चाहिए। मल-मूत्र आदि के वेगों को न रोकें। व्यायाम, क्रोध, शोक, शीत, धूप एवं तेज हवा का सेवन, घोड़े-तांगे आदि की सवारी, पैदल यात्रा, अधिक भाषण, बहुत देर तक एक ही आसन में बैठना (अत्यासन) और खड़े रहना (संस्थिति),

१. श्वः पास्यन् पिबन् पीतवानपि (जनः) द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करमन्नं मात्रया भोज्यः, वैद्येनेति शेषः।

बहुत नीचा या ऊँचा सिराहना रखना एवं दिवाशयन त्याग दें और धुएँ एवं धूल से बचें। स्नेहपान काल में और आगे भी उतने ही दिनों तक उपर्युक्त नियमों का पालन करें।

स्नेहपान में पथ्यापथ्य (चरक)

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत्।। (च.सू.१३.६२)
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ।
वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्।। (च.सू.१३.६३)
स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान[1] एव च।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः।। (च.सू.१३.६४)

स्नेहपान करके तदनुकूल हिताहित का ध्यान रखकर भोजन करता हुआ व्यक्ति (स्नेहं प्रतिभुञ्जानः) गर्म जल का सेवन करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, रात्रि में ही शयन करे, मल-मूत्र, अपानवायु तथा उद्गार के वेगों को न रोके, व्यायाम, ऊँचा बोलना, क्रोध, शोक, शीतल (ठंडी) वस्तुओं का सेवन, धूप का सेवन छोड़ दे। हवा के झोंके से रहित स्थान (अप्रवातम्)पर ही बैठे तथा शयन करे क्योंकि स्नेहपान के मिथ्योपचार से भयावह रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

स्नेहपान की अवधि (अष्टाङ्गहृदय)

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्।। (अ.हृ.सू. १६.२९)
सम्यक्स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्म्यीभवेत्परम्।

मृदुकोष्ठ में तीन दिन, क्रूरकोष्ठ में सात दिन अच्छ स्नेह का पान कराना चाहिए अथवा जितने दिनों में सम्यक् स्नेहन हो जाये उतने दिनों

१. स्नेहे जीर्णेऽपि स्नेहप्रयोगानुगुणमन्यस्नेहमविरुद्धवीर्यादिगुणयुक्तं भुञ्जान इत्यर्थः। (चक्रपाणिः)

तक अच्छस्नेह का पान कराना चाहिए; क्योंकि सात दिन के पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है।

स्नेहन के सम्यक्, हीन एवं अतियोग लक्षण

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्॥(अ.हृ.सू.१६.३०)
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक्स्निग्धे, रूक्षे विपर्ययः।
अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः।।
(अ.हृ.सू. १६.३१)

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण- स्नेह का सम्यक् योग होने पर वातानुलोमन हो जाता है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, पुरीष स्निग्ध एवं ढीला हो जाता है, स्नेह से द्वेष हो जाता है और थकावट महसूस होने लगती है। **अस्निग्ध या हीन स्निग्ध के लक्षण-** स्नेह का अयोग या हीन योग होने पर पूर्वोक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण मिलते हैं। **अतिस्निग्ध के लक्षण-** स्नेह का अतियोग होने पर पाण्डुरोग हो जाता है और नासिका, मुख एवं गुद से स्नेह का स्राव होने लगता है।

मात्रादि विरुद्ध स्नेहपान से हानि

अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रास्तम्भविसंज्ञताः॥(अ.हृ.सू.१६.३२)
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहभ्रमादिकान्।

अनुपयुक्त मात्रा में स्नेह पीने से, अहितकर स्नेह पीने से, अनुपयुक्त काल में स्नेह पीने से और स्नेहपान के समय मिथ्या आहार-विहार करने से शोफ, अर्श, तन्द्रा, स्तम्भ(जकड़न), मूर्च्छा, कण्डू, कुष्ठ, ज्वर, उत्क्लेश (मिचली), शूल, आनाह (अफारा) एवं भ्रम आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

स्नेहन के पूर्व रूक्षणकर्म

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नय:।। (अ.हृ.सू. १६.३७)
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्तत:।
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते।। (अ.हृ.सू. १६.३८)
अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गत:।

मांसल, स्थूल एवं अधिक कफ वाले, विषम जठराग्नि वाले और प्रतिदिन स्नेह का सेवन करने वाले व्यक्तियों को स्नेहन कराने से पूर्व रूक्षण कराना आवश्यक होता है अर्थात् ऐसे व्यक्तियों में सर्वप्रथम रूक्षण तत्पश्चात् स्नेहन और अन्त में संशोधन (वमन-विरेचन आदि) कराना चाहिए। ऐसा करने से इनमें स्नेहजन्य व्याधियाँ नहीं होने पाती हैं। असात्म्यता को प्राप्त हुआ स्नेह ही पुरीष आदि मलों को बाहर निकालने में समर्थ होता है।

स्नेह-सेवन से लाभ

दीप्तान्तराग्नि: परिशुद्धकोष्ठ: प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्त:।
दृढेन्द्रियो मन्दजर: शतायु: स्नेहोपसेवी पुरुष: प्रदिष्ट:।।
(अ.हृ.सू. १६.४६)

स्नेह का निरन्तर सेवन करने से जठराग्नि तीव्र रहती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है, रसादि धातुएँ नवीन बनी रहती हैं, देह बल, वर्ण एवं कान्ति से युक्त रहता है, इन्द्रियाँ दृढ़ हो जाती हैं, वृद्धावस्था देर से आती है और व्यक्ति सौ वर्ष तक जीता है।

स्वेदनविधि

स्वेदन का प्रयोग

निवातेऽन्तर्बहि: स्निग्धो जीर्णान्न: स्वेदमाचरेत्।
व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम्।। (अ.हृ.सू. १७.१२)

कफार्तो रूक्षणं रूक्षो, रूक्षः स्निग्धं कफानिले।
आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते।। (अ.हृ.सू. १७.१३)
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः।
अल्पं वङ्क्षणयोः स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा।।(अ.हृ.सू.१७.१४)

जिनका आहार जीर्ण हो गया हो, जो अन्दर एवं बाहर से स्निग्ध हो गये हों, उन व्यक्तियों का वायुरहित स्थान में स्वेदन करना चाहिए। रोग, रोगी, देश एवं ऋतु के अनुसार मध्यम, हीन या उत्कृष्ट स्वेदन करना चाहिए। कफ-रोगी में बिना स्नेहन किये ही रूक्ष स्वेदन करना चाहिए। कफ एवं वात से संसृष्ट रोगों में बिना स्नेहन किये ही स्निग्ध स्वेदन करना चाहिए। आमाशयगत वायु में पहले रूक्ष स्वेदन, फिर स्निग्ध स्वेदन करना चाहिए, जबकि पक्वाशयगत कफ में पहले स्निग्ध स्वेदन एवं पश्चात् रूक्ष स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन का यह नियम स्थान के अनुसार है। वंक्षण भाग पर अल्प स्वेदन करना चाहिए, जबकि नेत्र, अण्डकोष तथा हृदय प्रदेश में स्वेदन नहीं करना चाहिए।

स्वेदन के सम्यक्योग एवं अतियोग लक्षण

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे।
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिंभजेत्।।(अ.हृ.सू.१७.१५)
पित्तास्त्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः।
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम्।। (अ.हृ.सू. १७.१६
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम्।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च।। (अ.हृ.सू. १७.१७)

सम्यक्-स्वेद के लक्षण- स्वेद के सम्यक् योग होने पर शीत और शूल शान्त हो जाते हैं तथा अंगों में मृदुता आ जाती है। सम्यक्-स्वेद के पश्चात् अंगों पर मृदु अभ्यंग करके उष्णोदक से स्नान करना चाहिए, तत्पश्चात् स्नेहन-विधि वाले आहार-विहारादि नियमों का पालन करना

चाहिए। **अति-स्वेद के लक्षण-** स्वेद के अतियोग होने पर रक्त एवं पित्त का प्रकोप, प्यास, मूर्च्छा, स्वरभंग, अंगों में शिथिलता, भ्रम, सन्धि वेदना, ज्वर, त्वचा पर काले एवं लाल चकत्तों की उत्पत्ति और वमन होता है। स्वेद के अतियोग में स्तम्भन-चिकित्सा करनी चाहिए। विषविकार, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, अतिसार, छर्दि तथा मूर्च्छा में भी स्तम्भन-चिकित्सा करनी चाहिए।

स्वेदन एवं स्तम्भन द्रव्यों के गुण

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः, स्तम्भनमन्यथा।
द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम्।। (अ.हृ.सू. १७.१८)
स्वेदनं, स्तम्भनं श्लक्ष्णं रूक्षसूक्ष्मसरद्रवम्।
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः।। (अ.हृ.सू. १७.१९)

गुरु, तीक्ष्ण एवं उष्णवीर्य द्रव्य प्राय: स्वेदन-द्रव्य हैं। इनके विपरीत गुण-धर्म वाले द्रव्य अर्थात् लघु, मृदु एवं शीतवीर्य द्रव्य स्तम्भन-द्रव्य हैं। द्रव, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष तथा सूक्ष्म द्रव्य स्वेदन होते हैं। श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर एवं द्रव-द्रव्य और तिक्त, कषाय तथा मधुर रस वाले द्रव्य प्राय: स्तम्भन-द्रव्य हैं। स्तम्भन के विपरीत रस वाले द्रव्य अर्थात् लवण, अम्ल तथा कटु रस वाले द्रव्य स्वेदन-द्रव्य हैं।

वमन-विरेचन का प्रयोग

कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्बणे। (अ.हृ.सू. १८.००)
तद्वद्विरेचनं पित्ते-

अपने स्थान में बढ़े हुए कफ को वमन द्वारा निकालना चाहिए तथा कफ के साथ पित्त का संसर्ग होने पर अथवा कफ के स्थान में पित्त या वात के आ जाने पर भी वमन कराना चाहिए। अपने स्थान में बढ़े हुए पित्त को विरेचन द्वारा निकालना चाहिए तथा पित्त के साथ कफ का

संसर्ग होने पर अथवा पित्त के स्थान में कफ या वात के आ जाने पर भी विरेचन कराना चाहिए।

नस्यविधि, प्रतिमर्श नस्य की उपयोगिता

आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्।।

(अ.हृ.सू. २०.३२)

न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।

बस्ति की भाँति प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग भी जन्म से लेकर मृत्यु तक हितकर होता है। प्रतिमर्श नस्य का नित्य सेवन करने से यह मर्श नस्य के समान गुणकारी होता है। प्रतिमर्श नस्य के सेवन में कठोर पथ्य-नियम के बन्धन नहीं होते हैं और न ही मर्श के समान किसी उपद्रव के होने का भय रहता है।

नस्य हेतु तैल सर्वोत्तम

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते।। (अ.हृ.सू. २०.३३)
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे।

चूँकि सिर कफ का स्थान है इसलिए नस्य के लिए नित्य तैल ही प्रशस्त है। स्वस्थ व्यक्ति को तैल के अतिरिक्त दूसरे स्नेह हितकर नहीं होते हैं।

गण्डूषादिविधि, गण्डूष के भेद

चतुष्प्रकारो गण्डूषः स्निग्धः शमनशोधनौ।
रोपणश्च त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु।। (अ.हृ.सू. २२.१)
अन्त्यो व्रणघ्नः-

गण्डूष **चार** प्रकार का होता है- १. **स्निग्ध**, २. **शमन**, ३. **शोधन** एवं ४. **रोपण**। इनमें से स्नेहन, शमन एवं शोधन गण्डूष क्रमशः वात,

पित्त एवं कफजन्य मुख रोगों को नष्ट करते हैं और रोपण गण्डूष मुखपाक को दूर करता है।

-स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः।
स्नेहैः संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः।। (अ.हृ.सू. २२.२)
शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः रोपणः पुनः।
कषायतिक्तकैस्तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम्।। (अ.हृ.सू. २२.३)
शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम्।
कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथास्पर्शं प्रयोजयेत्।। (अ.हृ.सू. २२.४)

स्निग्ध गण्डूष के द्रव्य- स्निग्ध गण्डूष मधुर, अम्ल एवं लवण रस वाले औषध द्रव्यों से सिद्ध स्नेहों से तैयार किया जाता है। **शमन गण्डूष के द्रव्य-** शमन गण्डूष तिक्त, कषाय एवं मधुर रस वाले औषध द्रव्यों से तैयार किया जाता है। **शोधन गण्डूष के द्रव्य-** शोधन गण्डूष तिक्त, कटु, अम्ल एवं लवण रस और उष्णवीर्य वाले औषध द्रव्यों से तैयार किया जाता है। **रोपण गण्डूष के द्रव्य-** रोपण गण्डूष कषाय एवं तिक्त औषध द्रव्यों से तैयार किया जाता है। **गण्डूषोपयोगी अन्य द्रव्य-** सभी प्रकार के गण्डूषों में घृतादि स्नेह, गोदुग्ध, मधु, जल, शुक्त(खटाई), गोमूत्र, धान्याम्ल (कांजी) को दोषानुसार विविध प्रकार के कल्कों अथवा क्वाथों के साथ मिलाकर शीत अथवा उष्ण स्पर्श में जैसा उचित हो, वैसा प्रयोग करना चाहिए।

विविध गण्डूषों के प्रयोग

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम्।। (अ.हृ.सू. २२.५)
गण्डूषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा।

दन्तहर्ष (दाँत में सिहरन), दन्तचाल (दाँतों का हिलना) और वातज मुखरोगों में सहने योग्य ठण्डा या गुनगुना तिलकल्क का जल लेकर गण्डूष

(कुल्ला) करना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन तिलतैल का गण्डूष धारण करना हितकर होता है।

ऊषदाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे।। (अ.हृ.सू. २२.६)
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा।
वैशद्यं जनयत्याशु सन्दधाति मुखे व्रणान्।। (अ.हृ.सू. २२.७)
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम्।

ऊषदाह (क्षारमृत्तिका से होने वाले दाह अथवा मिर्च-मसाले से होने वाली जलन) में, दाहयुक्त मुखपाक में, आगन्तुज क्षत में और विष, क्षार या अग्नि से जल जाने पर घी अथवा दूध का गण्डूष धारण करना उत्तम होता है। इससे मुख में विशदता (स्वच्छता) आती है तथा मुख के व्रणों का संधान होता है। मधु का गण्डूष धारण करने से मुख में शीघ्र ही विशदता आ जाती है, मुख का व्रण भर जाता है और दाह एवं तृष्णा का शमन हो जाता है।

धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम्।। (अ.हृ.सू. २२.८)
तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं परम्।
आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम्।। (अ.हृ.सू. २२.९)
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वस्त्रलाघवम्।

लवणयुक्त धान्याम्ल (काँजी) का गण्डूष धारण करने से मुख की विरसता (फीकापन), दुर्गन्ध एवं मल का नाश हो जाता है। लवणरहित कांजी का गण्डूष धारण करने से मुख में शीतलता आती है तथा मुखशोष (मुख का बार-बार सूखना) नष्ट हो जाता है। क्षारजल का गण्डूष धारण करने से मुख में संचित कफ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। गुनगुने जल का गण्डूष धारण करने से मुख में हल्कापन आ जाता है।

गण्डूष-धारण की विधि एवं अवधि

निवाते सातपे स्विन्नमृदितस्कन्धकन्धरः।। (अ.हृ.सू. २२.१०)
गण्डूषमपिबन् किञ्चिदुन्नतास्यो विधारयेत्।
कफपूर्णास्यता यावत्स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा।।
(अ.हृ.सू. २२.११)

वातरहित-स्थान में जहाँ धूप लग रही हो वहाँ रोगी को सुखपूर्वक बैठाकर उसके कन्धों तथा गर्दन पर स्वेदन करके अभ्यंग करते हैं, तत्पश्चात् मुख को थोड़ा उठाकर गण्डूष द्रव को बिना पिये ही तब तक धारण करना चाहिए जब तक कि मुख कफ से न भर जाय अथवा नासिका और नेत्र से कफ (पानी) का स्राव न होने लगे।

कवल-गण्डूष की परिभाषा

असञ्चार्यो मुखे पूर्णे गण्डूषः, कवलोऽन्यथा।

औषधद्रव की जिस अधिक मात्रा को मुख में रखकर इधर-उधर घुमाया नहीं जा सकता है, उसे '**गण्डूष**' कहते हैं तथा औषधद्रव की जिस मात्रा को मुख में रखकर इधर-उधर आसानी से घुमाया जा सकता है, उसे '**कवल**' कहते हैं।

कवल-धारण से लाभ

मन्याशिरःकर्णमुखाक्षिरोगाः प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः।।
(अ.हृ.सू. २२.१२)
हृल्लासतन्द्रारुचिपीनसाश्च साध्या विशेषात्कवलग्रहेण।

मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णरोग, मुखरोग, नेत्ररोग, मुखप्रसेक (लालास्राव), कण्ठरोग, मुखशोष, हृल्लास (मिचली), तन्द्रा (उँघाई), अरुचि (भोजन में अनिच्छा) एवं पीनस (प्रतिश्याय) रोग कवल धारण करने से सुखसाध्य हो जाते हैं।

प्रतिसारण के भेद

कल्को रसक्रिया चूर्णस्त्रिविधं प्रतिसारणम्।।

(अ.हृ.सू. २२.१३)

युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गण्डूषविहितौषधैः।

औषधद्रव्य का प्रतिसारण (घिसना/मंजन करना) तीन प्रकार का होता है- १. रसक्रिया, २. कल्क एवं ३. चूर्ण। गण्डूष का निर्माण किये जाने वाले द्रव्यों से निर्मित प्रतिसारण का प्रयोग करने से कफज मुखरोगों में लाभ मिलता है।

मुखालेप के भेद

मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः।। (अ.हृ.सू. २२.१४)
उष्णो वातकफे शस्तः, शेषेष्वत्यर्थशीतलः।

मुखालेप तीन प्रकार का होता है- १. दोषघ्न २. विषघ्न तथा ३. वर्णकर (रंग निखारने वाला)। वातज एवं कफज विकारों में उष्ण और शेष पित्तज एवं रक्तज-विकारों में शीतल मुखालेप उत्तम होता है।

मुखालेप का प्रमाण एवं प्रयोग-विधि

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतिः।। (अ.हृ.सू. २२.१५)
अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य, शुष्को दूषयतिच्छविम्।
तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदन्तेऽभ्यङ्गमाचरेत्।। (अ.हृ.सू. २२.१६)

मुखालेप की मोटाई तीन प्रकार की होती है- १. रोगी की अंगुली से चौथाई, २. रोगी की अंगुली से तिहाई तथा ३. रोगी की अंगुली से आधा। मुखालेप गीला ही उत्तम होता है; क्योंकि सूख जाने पर उसे हटाने से मुख की कान्ति धूमिल पड़ जाती है। यदि लेप सूख जाय तो, उसे गीला करके ही हटाना चाहिए और इसके बाद मुखाभ्यंग कर लेना चाहिए।

मुखालेप में वर्ज्य

विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याग्न्यातपशुक्क्रुधः।

मुखालेप करके दिवाशयन, भाषण, अग्नि-सेवन (आग सेकना), आतप-सेवन (धूप सेकना), शोक और क्रोध नहीं करना चाहिए।

मुखालेप का निषेध

न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे।। (अ.हृ.सू. २२.१७)
अरोचके जागरिते-

पीनस (प्रतिश्याय), अजीर्ण, जिसको नस्य दिया गया है उसके लिए, हनुग्रह (जबड़े की जकड़न) एवं अरोचक (अरुचि) में तथा रात्रिजागरण के बाद मुखालेप का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

मुखालेप से लाभ

-स तु हन्ति सुयोजितः।
अकालपलितव्यङ्गवलीतिमिरनीलिकाः।। (अ.हृ.सू. २२.१८)

विधिपूर्वक मुखालेप करने से असमय में बालों का सफेद होना, चेहरे की झुर्रियाँ, व्यङ्ग (झाँई), तिमिर एवं नीलिका रोग नष्ट हो जाते हैं।

ऋतु-अनुसार मुखालेप के द्रव्य

कोलमज्जा वृषान्मूलं शाबरं गौरसर्षपाः।
सिंहीमूलं तिलाः कृष्णा दार्वीत्वङ्निस्तुषा यवाः।।
दर्भमूलहिमोशीरशिरीषमिशितण्डुलाः।
कुमुदोत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनम्।। (अ.हृ.सू. २२.१९-२०)
कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम्।
तालीसगुन्द्रापुण्ड्राह्वयष्टीकाशनतागुरु।। (अ.हृ.सू. २२.२१)
इत्यर्द्धार्द्धोदिता लेपा हेमन्तादिषु षट् स्मृताः।

हेमन्त-ऋतु में कोल (बेर) की मज्जा, वृषमूल (वासामूल), शाबर लोध्र (श्वेत लोध्र) एवं गौरसर्षप (पीली सरसों) का मुखालेप करना चाहिए।

शिशिर-ऋतु में सिंहीमूल (बृहतीमूल), तिल (कृष्णतिल), दार्वीत्वक् एवं तुषरहित यव का मुखालेप करना चाहिए।

वसन्त-ऋतु में दर्भमूल, हिम (चन्दन), उशीर, शिरीष एवं मिशितण्डुल (सौंफ के बीज) का मुखालेप करना चाहिए।

ग्रीष्म-ऋतु में कुमुद, उत्पल, कल्हार (कमल का भेद), दूर्वा, मधुक (मुलहठी) एवं चन्दन का लेप करना चाहिए।

वर्षा-ऋतु में कालीयक (काला अगुरु), तिल, उशीर, जटामांसी, तगर एवं पद्मक का लेप करना चाहिए।

शरद्-ऋतु में तालीस, गुन्द्रा, पुण्डरीक, मधुयष्टी (मुलहठी), काश, नत (तगर) एवं अगुरु का लेप करना चाहिए।

नित्य मुखालेप से लाभ

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम्।। (अ.हृ.सू. २२.२२)
वदनं चापरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम्।

जो लोग प्रतिदिन मुखालेप करते हैं, उनकी दृष्टि स्थिर हो जाती है और उनका मुखमण्डल कमल के समान अपरिम्लान (खिला हुआ) तथा श्लक्षण (चिकना) रहता है।

मूर्द्धतैल के भेद एवं प्रयोग

अभ्यङ्गसेकपिचवो बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।। (अ.हृ.सू. २२.२३)
मूर्द्धतैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम्।
तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।।
(अ.हृ.सू. २२.२४)

अरूंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु।
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूपने।। (अ.हृ.सू. २२.२५)
नेत्रस्तम्भे च बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे।
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे।। (अ.हृ.सू. २२.२६)

मूर्धतैल के भेद- मूर्धतैल चार प्रकार का होता है- १. अभ्यंग २. परिषेक ३. पिचु तथा ४. शिरोबस्ति। ये उत्तरोत्तर अधिक गुणकारी होते हैं अर्थात् अभ्यंग से परिषेक, परिषेक से पिचु तथा पिचु से शिरोबस्ति अधिक गुणकारी होती है। **मूर्धतैल का प्रयोग-** सिर में रूक्षता, कण्डू एवं मल आदि होने पर **अभ्यंग** (सिर पर तेल की मालिश) करनी चाहिए। सिर में अरूंषिका (फुंसी), तोद (सिर में सूई चुभने जैसी पीड़ा), दाह, पाक तथा व्रण होने पर **परिषेक** करना (सिर को तेल से सींचना) चाहिए। केशपतन (बाल झड़ना), स्फुटन (सिर की त्वचा का फटना), धूपन (सिर से धुआँ निकलने की प्रतीति होना) एवं नेत्रस्तम्भ (नेत्र गोलकों में जड़ता का होना) आदि विकारों में **पिचुधारण** करना (तेल से भीगी रुई के फाहे को सिर पर रखना) चाहिए। शिर:शून्यता, अर्दितवात, रात्रि-जागरण, नासाशोष, मुखशोष, तिमिररोग तथा दारुण शिरोरोगों में **शिरोबस्ति** का प्रयोग करना चाहिए।

शिरोबस्ति प्रयोग-विधि

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ।
शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्।। (अ.हृ.सू. २२.२७)
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम्।
आकर्णबन्धनस्थानं ललाटे वस्त्रवेष्टिते।। (अ.हृ.सू. २२.२८)
चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्।
ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्।। (अ.हृ.सू. २२.२९)

ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलम्-

संशुद्ध तैलाभ्यङ्ग एवं स्वेदन किये हुए (शुद्धाक्तस्विन्नगात्रस्य) घुटनों के बराबर ऊँचे (जानुसमे) कोमल (मृदौ) आसन पर (पीठे) बैठे हुए उस रोगी के (निषण्णस्य) वस्त्र से ढ़के हुए मस्तक पर (ललाटे वस्त्रवेष्टिते) सिर के बराबर (शिर: समम्) बारह अंगुल चौड़ी (द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णम्) कानों तक के स्थान का बन्धन करने वाली (आकर्णबन्धनस्थानम्) कपड़े की बनी हुई रस्सी से (चैलवेणिकया) बाँधकर सायंकाल माष के कल्क से लेपन करें। इसके पश्चात् रोगानुसार सिद्ध किये हुये (शृतम्) गुनगुने स्नेह (तैल) को शिरोबस्ति में इतना भर दें कि वह बालों की जड़ों से एक अंगुल ऊपर आ जाये।

शिरोबस्ति की धारण-अवधि, काल एवं पश्चात्कर्म

धारयेच्च तम्।
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदाद्दशाष्टौ षट् चलादिषु ।।(अ.हृ.सू.२२.३०)
मात्रासहस्राण्यरुजे त्वेकं स्कन्धादि मर्दयेत्।
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम्।। (अ.हृ.सू. २२.३१)

शिरोबस्ति धारण-अवधि- शिरोबस्ति के स्नेह को तब तक धारण करना चाहिए, जब तक कि मुख एवं नासिका से जल का स्राव न होने लगे। **दोषानुसार शिरोबस्ति धारण-काल-** वातज, पित्तज एवं कफज रोगों में (चलादिषु) क्रमश: दस, आठ एवं छ: हजार मात्रा-काल तक स्नेह धारण करना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति में एक हजार मात्रा-काल तक स्नेह धारण करना चाहिए। **पश्चात्कर्म-** शिरोबस्ति को हटाकर सिर, कन्धे एवं ग्रीवा आदि का मर्दन करना चाहिए। **अधिकतम सेवनकाल-** शिरोबस्ति का अधिक से अधिक सात दिन तक ही सेवन करना चाहिए।

मात्रा-काल की परिभाषा

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम्।
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता।। (अ.हृ.सू. २२.३२)

दाहिने हाथ के अग्रभाग को घुटने के चारों ओर मण्डलाकार घुमाने में जितना समय लगता है अथवा नेत्र को एक बार बन्द करने और खोलने में जितना समय लगता है, उतने समय को एक '**मात्राकाल**' कहते हैं।

मूर्द्धतैल से लाभ

कचसदनसितत्वपिञ्जरत्वं परिफुटनं शिरसः समीररोगान्।
जयति, जनयतीन्द्रियप्रसादं स्वरहनुमूर्द्धबलं च मूर्द्धतैलम्।।
(अ.हृ.सू. २२.३४)

मूर्धतैल का प्रयोग करने से बालों का झड़ना, असमय सफेद होना या धूसर वर्ण का होना एवं सिर की त्वचा का फटना बन्द हो जाता है, वातिक शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं, इन्द्रियों में प्रसन्नता आ जाती है और स्वर, हनु एवं मूर्धा (मस्तिष्क) के बल में वृद्धि होती है।

आश्चोतनाञ्जनविधि

आश्चोतन का प्राधान्य एवं प्रयोग

सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्चोतनं हितम्।
रुक्तोदकण्डूघर्षाश्रुदाहरागनिबर्हणम्।। (अ.हृ.सू. २३.१)

सभी नेत्ररोगों में सर्वप्रथम आश्चोतन करना हितकर होता है। इसके प्रयोग से नेत्र की पीड़ा, तोद (चुभने जैसी पीड़ा), कण्डू (खुजली), आँखों का गड़ना, अश्रुस्राव, दाह (जलन) तथा लालिमा नष्ट हो जाती है।

दोषानुसार आश्चोतन

उष्णं वाते, कफे कोष्णं, तच्छीतं रक्तपित्तयोः ।

वातज नेत्ररोगों में उष्ण, कफज नेत्ररोगों में किञ्चत् उष्ण (गुनगुना) तथा पित्तज एवं रक्तज नेत्ररोगों में शीतल आश्चोतन का प्रयोग करना चाहिए।

आश्चोतन-विधि

निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्य लोचनम्।। (अ.हृ.सू. २३.२)
शुक्तौ प्रलम्बयान्येन पिचुवर्त्या कनीनिके।
दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यङ्गुलादवसेचयेत्।। (अ.हृ.सू. २३.३)
ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन, कफवातयोः।
अन्येन कोष्णपानीयप्लुतेन स्वेदयेन्मृदु।। (अ.हृ.सू. २३.४)

रोगी को वातरहित स्थान में लिटाकर चिकित्सक को अपने बाएँ हाथ से रोगी की आँखों को खोलकर दाहिने हाथ से सीपी में रखी हुई लम्बी पिचुवर्ति (रूई के फाहे की बत्ती) द्वारा दो अंगुल ऊपर से दोनों नेत्रों की कनीनिकाओं (नासिका के समीप की नेत्र सन्धियों) में दस या बारह बूंद औषध टपकानी चाहिए। इसके पश्चात् नेत्र को कोमल वस्त्र से साफ कर देना चाहिए। वातज एवं कफज विकारों में रूई के फाहे को गुनगुने जल में डुबोकर आँखों का मृदु स्वेदन करना चाहिए।

निषिद्ध-आश्चोतन

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्रागदृङ्नाशायाक्षिसेचनम्।
अतिशीतं तु कुरुते निस्तोदस्तम्भवेदनाः।। (अ.हृ.सू. २३.५)
कषायवर्त्मतां घर्षं कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु।
विकारवृद्धिमत्यल्पं संरम्भमपरिस्रुतम्।। (अ.हृ.सू. २३.६)

अधिक उष्ण एवं तीक्ष्ण औषध द्रव्यों से निर्मित आश्चोतन के प्रयोग से नेत्रों में पीड़ा, लालिमा एवं दृष्टिनाश हो जाता है। अधिक शीत गुण वाले औषध द्रव्यों से निर्मित अथवा शीतल आश्चोतन के प्रयोग से नेत्रों में

निस्तोद (सूई चुभने जैसी पीड़ा), स्तम्भ (जकड़न) एवं वेदना होती है। अत्यधिक मात्रा में आश्चोतन करने से पलकों में रूक्षता आ जाती है; पलकें चिपकने लगती हैं और कठिनाई से खुलती हैं। अल्पमात्रा में आश्चोतन करने से नेत्रविकार बढ़ जाते हैं। बिना छने हुए औषधद्रव से आश्चोतन करने पर नेत्रों में संक्षोभ होता है।

आश्चोतन से लाभ

गत्वा सन्धिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसि भेषजम्।
ऊर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान्।। (अ.हृ.सू. २३.७)

आश्चोतन द्वारा नेत्रों में डाली गई औषध नेत्रसन्धियों, सिर, नासिका तथा मुख से सम्बन्धित स्रोतों में जाकर ऊर्ध्व-प्रदेश के मलों को बाहर निकाल देती है।

अन्य चिकित्सा-विधि

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्।।(सु.सू. १.११)

ज्वर, रक्तपित्त, शोथ, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि **सर्वाङ्गगत व्याधियों** के उपशमन के उपायों का वर्णन करने वाला आयुर्वेद का 'कायचिकित्सा' नामक अङ्ग है।

स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्त्युत्तरबस्तिनस्य-कर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः।। (सु.सू. ३१.३)

पुरुष का सार/बल स्नेह है। प्राण भी स्नेह की अधिकता वाले होते हैं तथा स्नेह के द्वारा साध्य हैं। स्नेह का प्रयोग पान, अनुवासन[१], मस्तिष्क

१. बस्ति के दो भेद हैं - निरूह व अनुवासन। निरूह बस्ति के विषय में कहा गया है- माक्षिकं लवणं तैलं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् अर्थात् निश्चित परिमाण में मधु

(शिरोविरेचन), शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति[१], नस्य, कर्णपूरण, गात्राभ्यङ्ग (मालिश) और भोजन में करना चाहिए।

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम्।
चिराच्च पाकं वयसः करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम्॥

(सु.सू. ३३.२७)

उचित रीति से किये गये विरेचन से बुद्धि की निर्मलता, इन्द्रियों के सामर्थ्य में वृद्धि, धातु की स्थिरता, बल, अग्नि का प्रदीपन और वृद्धावस्था का देर से आना आदि अनेक लाभ होते हैं।

लेकर उसमें निश्चित मात्रा में लवण मिलाकर उसको घुमाते हैं, पुनः उसमें तेल डाला जाता है। फिर कल्क (पिष्ट औषधियों की लुगदी) तथा निर्दिष्ट औषधियों का क्वाथ मिलाया जाता है। अनुवासन बस्ति केवल तेल-विशेष के द्वारा दी जाती है।

१. जो मूत्रमार्ग से दी जाती है। (द्र० पृ०-३४३)

अध्याय- ११

तत्त्वमीमांसा

आत्मा का स्वरूप

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः।। (च.सू. १.५६)

वह आत्मा[१] शरीर, मन एवं बुद्धि से पर[२]-तत्त्व तथा निर्विकार (सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि समस्त विकारों से मुक्त) है। जब वह मन, इन्द्रियाँ एवं उनके विषयों से युक्त होता है, तब वह चेतनता (ज्ञान) का मूल कारण बनता है। वह नित्य है तथा साक्षिभाव से समस्त क्रियाओं को देखता है।

पुरुष की उत्पत्ति

प्रभवो न ह्यनादित्वात् विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसञ्ज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः।। (च.शा. १.५३)

परमात्मा (शुद्धात्मा) के अनादि होने से उस आत्मा का कोई प्रभव (उत्पत्ति) नहीं होता लेकिन राशि पुरुष आत्मा (षड्धातुसमुदायरूप या चौबीस गुणों वाला) मोह, इच्छा, द्वेष और कर्म इन गुणों के कारण उत्पन्न होता है, ऐसा कह दिया जाता है।

आत्मा ज्ञानवान् या अज्ञ

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।

---

१. ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनोधृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च।
तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद् द्वादशस्विङ्गित आत्मशब्दः।।
(च.सू. १.५६, चक्रपाणिः)

२. पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा। (च.सू. १.५६, चक्रपाणिः)

करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते।। (च.शा. १.५४)
पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा।। (च.शा. १.५५)

आत्मा जब करण अर्थात् इन्द्रियों से संयुक्त होता है, तब इसे ज्ञान होता है; किन्तु जब करणों में अर्थात् इन्द्रियों में मलिनता होती है या इनमें विकार आ जाता है, अथवा जब आत्मा इन्द्रियों से संयुक्त नहीं होता है तब इसे ज्ञान नहीं होता है। जैसे मलिन दर्पण में देखने पर देखने वाले को उसका प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है तथा गन्दे जल में भी प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता है। उसी प्रकार मन जब कलुषित होता है, तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता है।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च।। (च.शा. १.५६)

मन, बुद्धि, बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना,त्वक्) और कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) ये करण कहे जाते हैं, कर्ता के संयोग से ही कर्म (कार्य में प्रवृत्ति), वेदना और बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं।

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन।। (च.शा. १.५७)

अकेला कर्ता अर्थात् मन, बुद्धि आदि करणों से रहित कर्ता कर्म करने में और कर्म का फल भोगने में सक्षम नहीं होता है, असमर्थ होता है। आत्मा का मन, बुद्धि आदि करणों से संयोग होने पर ही सभी कार्य होते हैं और करणों से संयोग न होने पर कोई भी कार्य नहीं होता है।

भाव सहेतुक और अभाव अहेतुक

न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः।
शीघ्रगत्वात्स्वभावात्त्वभावो[1] न व्यतिवर्तते।। (च.शा. १.५८)

कोई भी कारणरूप भावपदार्थ अकेला (सहकारी कारण के बिना) किसी कार्य के निष्पादन में हेतु नहीं होता है और कोई कार्य भी बिना कारण के नहीं होता है, अपने अन्य सहयोगी भावों के साथ ही कोई भी कारणरूप भाव कार्य में प्रवृत्त होता है। अभाव का तो शीघ्रगामी स्वभाव होने से अर्थात् अभाव बड़ी तेजी से विनाश के प्रति गतिशील होता है, अपने इस शीघ्रगामी स्वभाव को अभाव कभी नहीं छोड़ता है अत: अभाव तो अहेतुक ही होता है।

पुरुष नित्य या अनित्य

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा।। (च.शा. १.५९)

अनादि पुरुष अर्थात् हेतुरहित कारणरहित पुरुष नित्य होता है और हेतुज अर्थात् मोह, इच्छा, द्वेष और कर्म- इनसे जो राशि पुरुष उत्पन्न होता है, वह अनित्य है। 'सत् पदार्थ'[2] अर्थात् जो तीनों कालों में जाना जाता हो और जिसका कोई कारण न हो वह नित्य होता है। सत्ता होने के साथ ही जिसका कारण भी विद्यमान हो वह अनित्य है, इस प्रकार से अनादि पुरुष की सत्ता है और इसका कोई कारण भी नहीं है इसलिए वह नित्य कहा जाता है तथा राशि पुरुष की सत्ता होने के साथ इसका कारण भी विद्यमान रहता है इसलिए इसे अनित्य कहते हैं।

१.' स्वभावात्तु भावो न व्यतिवर्तते' इति पाठभेदः।
२. सदकारणवन्नित्यम् (वैशेषिक दर्शन ४.१.१)

तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा।। (च.शा. १.६०)

आत्मा में नित्यत्व की धारणा- उस अनादि पुरुष में उत्पत्तिधर्मरहितता के कारण वह उत्पत्तिधर्मरूप भाव से अग्राह्य होता है, उसका नित्यत्व किसी भी भाव से उत्पन्न नहीं होता है, उसको अव्यक्त और अचिन्त्य जानना चाहिए। इसके विपरीत गुण वाला जो भाव से ग्राह्य होता है उसे व्यक्त और चिन्त्य जानना चाहिए।

चौबीस तत्त्वों वाला पुरुष

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं[1] परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः।। (च.शा.१.३५)
रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते।। (च.शा. १.३६)

सत्त्ववृद्धि से मोक्ष- रज और तम से युक्त पुरुष के चौबीस तत्त्वों का संयोग अन्तहीन है अर्थात् अनन्तकाल तक भी व्यक्ति बन्धन में ही रहता है। किन्तु रज और तम को हटाने पर सत्त्ववृद्धि के द्वारा शुद्धज्ञान से वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।। (च.शा.१.३७)
एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ।
पारम्पर्यं चिकित्सां च ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन।। (च.शा. १.३८)

---

१. बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धरतीति (दधातीति) योगधरम्। बुद्ध्यादि संघात को धारण करने वाला। (आयुर्वेददीपिका)
बुद्धि अहंकार इन्द्रियां (कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां), मन, तन्मात्र तथा इन्द्रियार्थों (स्थूलभूत) के संयोग को धारण करने वाले को पर (उत्तम /श्रेष्ठ/भिन्न) समझना चाहिए। इन चौबीस तत्त्वों की राशि को ही 'पुरुष' कहा जाता है।

इस चौबीस तत्त्वों से युक्त पिण्ड में ही कर्म तथा उसका फल, ज्ञान, मोह, सुख, दु:ख, जीवन अर्थात् प्राण का धारण करना, मरण अर्थात् प्राण का छूटना, ममता (स्वता) की भावना अर्थात् मैं और मेरा की भावना है। इस प्रकार तात्त्विकरूप से जो जानता है, वही व्यक्ति जन्ममरणादि को जानता है। वही व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्मादि की परम्परा, जीवन में रोगों की चिकित्सा करना और जानने योग्य जो कुछ है, उसको जानता है।

पुरुष का कारणत्व

भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि।। (च.शा.१.३९)
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च।। (च.शा.१.४०)
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद्यदि।
कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः।। (च.शा.१.४१)
न चेत् कारणमात्मा स्याद्भादयः स्युरहेतुकाः।
न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम्।। (च.शा.१.४२)

पुरुष को कारण क्यों मानते हैं, यह तथ्य यहाँ चार श्लोकों द्वारा कहा गया है। इसमें तर्क देते हैं कि यदि कर्ता और ज्ञाता पुरुष न हो तो यह ज्ञान-अज्ञान (भास्तमः), सत्य, असत्य, वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद), शुभ और अशुभ कर्म नहीं होंगे तथा जिस शरीर में यह आत्मा रहता है, वह शरीर भी नहीं होगा। पुरुष के न होने पर न तो सुख-दु:ख का अनुभव होगा और न ही गति-आगति (जाना-आना) होगा। न वाक्-शक्ति होगी, न विज्ञान एवं शास्त्रज्ञान होगा। न जन्म-मरण और न ही बन्धन-मोक्ष होगा इसलिए इन सब ज्ञानादि के कारण को जानने वाले विद्वानों (कारणज्ञैः) ने पुरुष को ही इनका कारण माना है।

यदि वह पुरुष कारण न होवे तो ऊपर कहे गये ज्ञानादि पदार्थ अकारण हो जायेंगे। आत्मारूपी ज्ञाता के बिना ज्ञान, अज्ञान, सत्यादि भावों का ज्ञान होना सम्भव नहीं है और इन भावों के अस्तित्व का कोई प्रयोजन भी नहीं होगा; क्योंकि ये सभी ज्ञानादि आत्मा के लिए हैं। अत: उस आत्मा के बिना ज्ञानादि की उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं और प्रयोजन का अभाव होने से ज्ञानादि की उत्पत्ति भी नहीं होगी।

कृतं मृद्दण्डचक्रैश्च कुम्भकारादृते घटम्।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम्।। (च.शा. १.४३)
यो वदेत् स वदेद्देहं सम्भूय करणै: कृतम्।
विना कर्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृत:।। (च.शा. १.४४)

आत्मा के बिना शरीर के उत्पन्न न होने में दो दृष्टान्तों का वर्णन यहाँ किया गया है। जैसे कोई कहे कि बिना कुम्भकार के ही मिट्टी, दण्ड एवं चक्र (चाक) ने मिलकर घड़े का निर्माण कर दिया और कोई कहे कि बिना किसी कारीगर के मिट्टी-घास-फूस-बाँस-लकड़ी के मिलने से घर स्वयं ही बन गया। ऐसा कहने वाला व्यक्ति अज्ञान के कारण यह भी कह सकता है कि आत्मा के बिना तेईस तत्त्वों ने मिलकर शरीर को बना लिया है। इस उपर्युक्त कथन का वह वक्ता युक्ति (अनुमान प्रमाण) और आगम (शब्द प्रमाण) की जानकारी से शून्य ही माना जायेगा।

कारणं पुरुष: सर्वै: प्रमाणैरुपलभ्यते।
येभ्य:[1] प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्य:[2] प्रमीयते।। (च.शा. १.४५)

जिन प्रत्यक्षादि प्रमाणों (प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-आप्तोपदेश) द्वारा अथवा शास्त्रों द्वारा सभी प्रमेयों (प्रमायोग्य ज्ञातव्य विषयों) को जाना जाता है, उन्हीं प्रमाणों या आगम से पुरुष के कारणत्व का भी बोध होता है।

१. 'येभ्य:' इति करण एवापादानविवक्षया पञ्चमी। (चक्रपाणि:)

२. आगमयन्ति बोधयन्तीति आगमा: प्रमाणान्येव। अन्ये त्वागमप्रमाणाभ्यां शास्त्राण्येव ब्रुवते। (चक्रपाणि:)

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः।। (च.शा. १.४६)
भावास्तेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसञ्ज्ञकः।
कर्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद् व्यवस्थिताः।।(च.शा.१.४७)

निरात्मवादी (बौद्धों) का मत है कि सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणत होते हैं। ये जो भाव (पदार्थ) हैं वे बने नहीं रहते, किन्तु परम्परा से उत्पन्न होकर उनके समान दूसरे नये-नये पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हीं के समान स्वरूप वाले होने से वे वही हैं, ऐसा कह दिया जाता है। परम्परा से प्राप्त उन पदार्थों का समुदाय आत्मा से रहित तथा सत्त्वसंज्ञक अर्थात् प्राणिसंज्ञक कहा जाता है, वही कर्ता और भोक्ता है, किन्तु पुरुष (नित्य आत्मा) नहीं है, ऐसा वे मानते हैं।

तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवाः फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते।। (च.शा. १.४८)

जो लोग आत्मा को नहीं मानते, किन्तु इसके स्थान पर पूर्व श्लोकोक्त ज्ञानसन्तति मात्र की सत्ता मानते हैं, उनके मत में अन्य के द्वारा किये गये कर्मों के फल का अन्य नवीन सदृश भाव ही भोग करते हैं, ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अन्याय्य (तर्कविरुद्ध/अमान्य) है।

आत्मसद्भाव में हेतु

करणान्यान्यता दृष्टा कर्तुः कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्।। (च.शा. १.४९)

एक कर्ता के साधनभूत करणों की अन्यान्यता (भिन्नभिन्नता) देखी गई है, किन्तु वहाँ कर्ता तो वह एक ही रहता है; क्योंकि वह एक ही कर्ता नाना साधनों से युक्त होकर सभी कर्मों का कारण होता है, इसी प्रकार कर्ता (आत्मा) के करणों (शरीरों) की जन्मजन्मान्तर में भिन्नभिन्नता

होती है और वह उनसे नाना कर्म कर उनके फल भोगता रहता है। यहाँ प्रस्तुत दृष्टान्त के अनुसार कर्ता एक ही है, परन्तु उसके करण (साधन) अनेक हैं।

यहाँ करण का अर्थ है 'शरीर'। प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना चाहते हैं कि कर्ता वही (आत्मा) रहता है, वह विनाशी नहीं है। जैसे लोकव्यवहार में अनेक शिल्पों में कुशल कर्ता विविध करणों से विविध वस्तुएँ बनाता रहता है, वैसे ही आत्मा भी मन, बुद्धि, इन्द्रियादि विविध करणों से विविध कर्म करता है।

निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च[१]।। (च.शा. १.५०)
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसञ्ज्ञकः।। (च.शा. १.५१)

निमेषकाल अर्थात् पलक झपकने में जितना समय लगता है, शरीरादि भावों के विनाश में (अत्यये) उससे भी अधिक शीघ्रतः काल की अपेक्षा होती है और उन भग्न हुए भावों का पुनरागमन नहीं होता तथा अपने द्वारा किए शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता। यथार्थ तत्त्व को जानने वालों का यही मत है अतः प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों के फलभोग में यह नित्य पुरुषसंज्ञक आत्मा ही कारण होता है।

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा।। (च.शा. १.५२)

शरीर से भिन्न कारण के रहने पर ही मनुष्यों में अहंकार भाव, सुख-दुःख का अनुभव, कर्मप्रवृत्ति, जन्मान्तरप्राप्ति और जीवन में घटित घटनाओं की स्मृति होती है। वह कारण एक चेतन तत्त्व आत्मा ही है।

---

१. नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे।। (न्यायकुसुमाञ्जलिः १.१५)

कतिधा पुरुषो धीमन्! धातुभेदेन भिद्यते।
पुरुषः कारणं कस्मात्, प्रभवः पुरुषस्य कः।। (च.शा. १.३)

हे धीमन् गुरुदेव! (१) धातुभेद से वह पुरुष कितने प्रकार का होता है? (२) पुरुष को कारण क्यों मानते हैं? (३) पुरुष का उत्पत्तिस्थान क्या है?

किमज्ञो ज्ञः, स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः।
प्रकृतिः का, विकाराः के, किं लिङ्गं पुरुषस्य च।।(च.शा. १.४)

(४) क्या वह पुरुष ज्ञानरहित है? अथवा (५) ज्ञानवान् है? (६) क्या उसको नित्य बताया गया है अथवा (७) अनित्य? (८) प्रकृति क्या है? (९) विकार क्या हैं और (१०) पुरुष का लक्षण क्या है?

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम्।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा।। (च.शा. १.५)
निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम्।
स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते।। (च.शा. १.६)

आत्मा को जानने वाले विद्वान् पुरुष आत्मा को क्रियारहित, स्वतन्त्र, वशी (सब कुछ को अपने वश में रखने वाला), सर्वगामी, सर्वत्र व्यापक, क्षेत्रज्ञ (संघात का जानने वाला) और साक्षी (संसार का देखने वाला) कहते हैं। सिद्धांततः आत्मा के इस स्वरूप को स्वीकार करते हुए ११ से १७ तक ७ प्रश्न पूछे गए हैं।

(११) हे भगवन्! (यदि ऐसा मानते हैं तो) उस निष्क्रिय आत्मा की क्रिया किस प्रकार होती है? (१२) यदि वह स्वतन्त्र है तो अनिष्ट (अप्रिय) योनियों में क्यों उत्पन्न होता है?

वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रम्यते बलात्।
सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः।। (च.शा. १.७)
न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम्।

(१३) जब आत्मा को वशी मानते हैं तो वह अरुचिकर (असुखकर) भावों से क्यों आक्रान्त (ग्रस्त) हो जाता है? (१४) यदि वह सर्वगामी है तो सभी से सम्बन्धित वेदनाओं को क्यों नहीं जानता? (१५) जब आत्मा सर्वव्यापक है तो पर्वत-दीवार से छिपी वस्तु को क्यों नहीं देखता?

क्षेत्रज्ञः[1] क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः।। (च.शा. १.८)
ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते।
क्षेत्रं च यदि पूर्वं स्यात् क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः।। (च.शा. १.९)

(१६) क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पहले था या क्षेत्र (महत्पर्यन्त संघात) यह सन्देह होता है। यदि पहले आत्मा को मानें तो चूँकि क्षेत्र ज्ञेय (जानने योग्य) होता है अतः पूर्व में उसकी सत्ता के बिना क्षेत्रज्ञ (आत्मा) कैसे हो सकता है? यदि क्षेत्र (ज्ञेय पदार्थ) को पहले स्वीकार करें तो आत्मा का अस्तित्व अनित्य हो रहा है।

साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते।
स्यात् कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः।। (च.शा. १.१०)

(१७) यह आत्मा किसका साक्षी बना हुआ है जबकि आत्मा से अन्य तो कोई कर्ता नाम वाला है ही तथा (१८) विकाररहित आत्मा का पुत्रादिज्ञानरूप वेदनाजनित हर्षादि विशेष कैसे हो सकता है?

अथ चार्तस्य भगवंस्तिसृणां कां चिकित्सति।
अतीतां वेदनां वैद्यो वर्तमानां भविष्यतीम्।। (च.शा. १.११)

१. क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रज्ञः। जो क्षेत्र को जानता है, उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः।
साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्तेः संशयो ह्यतः॥(च.शा. १.१२)

(१९) हे भगवन्! रोगी की भूतकालिक, वर्तमानकालिक एवं भविष्यत्कालिक- इन तीनों दुःखरूप वेदनाओं में वैद्य किस वेदना की चिकित्सा करता है? क्योंकि भविष्यत्कालिक वेदना की तो अभी तक प्राप्ति ही नहीं हुई है, भूतकालिक वेदना का पुनः आगमन ही नहीं होता, वर्तमानकाल की वेदना भी (क्षणिक होने से) स्थिर नहीं है अतः यह संशय है कि वैद्य इन तीनों कालों की वेदनाओं में किसकी चिकित्सा करता है?

कारणं वेदनानां किं, किमधिष्ठानमुच्यते।
क्व चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥ (च.शा. १.१३)
सर्ववित् सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगनिसृतः।
एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते॥ (च.शा. १.१४)

(२०) इन सभी वेदनाओं (दुःखानुभवों) का क्या कारण है? और (२१) उनका अधिष्ठान स्थान (आश्रय स्थान) क्या है? और (२२) ये सभी वेदनाएँ सम्पूर्णरूप से कहाँ निवृत्त (शान्त) होती हैं? तथा (२३)सर्ववित् (सबको जानने वाला) और सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करने वाला, सभी प्रकार के संयोग (सुख-दुःखादि तथा कारण-कार्यादि) से पृथक् हुआ अकेला शान्त रहने वाला यह भूतात्मा किन लक्षणों से जाना जाता है?

इत्यग्निवेशस्य[1] वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः।
सर्वं यथावत् प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः॥ (च.शा. १.१५)
खादयश्चेतनाषष्ठा[2] धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥ (च.शा. १.१६)

---

१. 'वचस्तदग्निवेशस्य' इति पाठभेदः।
२. 'खादयश्चेतनाधातुषष्ठास्तु' इति पाठभेदः।

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी।। (च.शा. १.१७)

इस प्रकार अग्निवेश के वचनों को सुनकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ प्रशान्तात्मा पुनर्वसु ने सभी प्रश्नों का उत्तर यथावत् (जिसका जैसा उत्तर होना चाहिए वैसा) कहा।

'कतिधा पुरुषो धीमन्! धातुभेदेन भिद्यते' (च०शा० १.३) प्रश्न का उत्तर-

१. आकाश आदि (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) पञ्च महाभूत और छठी चेतना (चेतन आत्मा) है, इन छः धातुओं को पुरुष कहते हैं तथा केवल चेतना धातु भी 'पुरुषसंज्ञक' होता है। 'पुरि शरीरे शेते' इति पुरुषः[१] (शरीर में निवास करने वाला चेतन तत्त्व 'पुरुष' कहलाता है)। पुनः पुरुष शब्द संघात (उक्त तत्त्वों के समुदाय) के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, न कि केवल चेतना मात्र के लिए। इस प्रकार धातुभेद से पुरुष २४ तत्त्वों का समूह भी माना गया है-

पञ्च कर्मेन्द्रियाँ–वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण।
पञ्च तन्मात्राएँ- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
पञ्च स्थूलभूत- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

मन, अहंकार, महत् (बुद्धि) एवं चेतन तत्त्व- इन २४ तत्त्वों वाला संघात पुरुष होता है।

परम आत्मा का स्वरूप

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः, सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः। (च.शा. ४.३३)

---

१. चेतना का शरीर के साथ समवाय सम्बन्ध होने से यह चेतना संघातरूप से अकेला पुरुष कहलाता है। (आयुर्वेददीपिका)

परम आत्मा[1] निर्विकार (विकाररहित) है, वह सभी प्राणियों में निर्विशेष (भेदरहित, निरुपाधि, सामान्य) है। भिन्न-भिन्न देहों में जो भिन्न-भिन्न सुख-दु:खादि की अनुभूति होती है, वह शरीर की भिन्नता, मन की भिन्नता तथा सुख-दु:खादिजनक कारणों की भिन्नता से होती है अर्थात् सुख-दु:खादि परमात्मा के विकार नहीं है, बुद्धि के धर्म (सहजगुण) हैं।

त्रिविधं खलु सत्त्वं- शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोष-माख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमसङ्ख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषे-भ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्। तस्मात् कतिचित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनु-व्याख्यास्यामः। (च.शा. ४.३६)

त्रिविध सत्त्व- सत्त्व (मन) तीन प्रकार का होता है- १. शुद्ध २. राजस और ३. तामस। इनमें शुद्ध (सात्त्विक मन) कल्याणकर अंश से युक्त होने के कारण निर्दोष होता है, राजस मन में रोष (क्रोध) का अंश होने से दोषयुक्त होता है तथा तामस मन में मोह का अंश होने से वह भी सदोष होता है।

मन के इन तीन भेदों में से एक-एक भेद के तर, तम के योग से (शुचि, शुचितर और शुचितम) इन भेदों को बाल, युवा, वृद्ध आदि शरीरभेदों के साथ मिलाने से और योनिभेदों (पशु-पक्षी आदि) के साथ मिलाने से तथा सत्त्व-रज-तम के परस्पर एक-दूसरे के साथ मिलाने से मन के अगणनीय भेद हो जाते हैं। मन के अनुसार शरीर बनते हैं, जैसे- सात्त्विक मन से देवशरीर, राजसिक मन से मनुष्य शरीर तथा तामसिक मन से पशु शरीर

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा स द्विविधो जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वर: सर्वज्ञ: परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च। (तर्क.सं.)।

बनते हैं। इसी प्रकार शरीर के अनुसार मन भी बनते हैं इसलिए मन के कुछ भेदों का सादृश्य की दृष्टि से यहाँ वर्णन किया जा रहा है-

तद्यथा- शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं[1] ज्ञानविज्ञान-वचनप्रतिवचनसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात्। (१) (च.शा. ४.३७)

ब्राह्मसत्त्व[2] का लक्षण- जो मनुष्य पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सम्यग्रूप से फल का विभाजन (बँटवारा) करने वाला, शास्त्रज्ञ, व्यवहारज्ञ, वचन और प्रतिवचन में समर्थ, स्मृतिशक्तिसम्पन्न, काम-क्रोध-लोभ-मोह-सम्मान-ईर्ष्या-हर्ष तथा अमर्ष- इन विकारों से रहित और सभी प्राणियों के प्रति समान व्यवहार रखने वाला होता है, उस पुरुष को 'ब्राह्मसत्त्व' जानें।

इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानराग-द्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्। (२) (च.शा. ४.३७)

आर्षसत्त्व का लक्षण- यज्ञ, अध्ययन, व्रतपालन, होम, ब्रह्मचर्य का पालन तथा अतिथियों का सत्कार करने वाले, मद-मान-राग-द्वेष-मोह-लोभ और क्रोध का उपशमन करने वाले, प्रतिभासम्पन्न, सुप्रवक्ता, विज्ञान एवं धारणशक्तिसम्पन्न पुरुष को 'आर्षसत्त्व' जानना चाहिए।

ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतम-क्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात्।

(३) (च.शा. ४.३७)

---

१. संविभागिनमिति सम्यक् फलविभजनशीलम्। (च.शा. ४.३७, चक्रपाणि:)

२. शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्।। (सु.शा. ४.८१)

ऐन्द्रसत्त्व[१] का लक्षण- जो मनुष्य समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, जिसका कहा हुआ ग्रहण करने योग्य, जो यज्ञ करने वाला, शूरवीर, ओजस्वी तेजस्वी, निन्दित कार्यों को न करने वाला, दीर्घदर्शी, धर्म-अर्थ-काम में सदा संलग्न रहता है, उसे 'ऐन्द्रसत्त्व' जानना चाहिए।

लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसम्प्रहार्यमुत्थानवन्तं[२] स्मृतिमन्तमैश्वर्यलम्भिनं व्यपगतरागेर्ष्याद्वेषमोहं याम्यं विद्यात्। (४) (च.शा. ४.३७)

याम्यसत्त्व[३] का लक्षण- जो मनुष्य कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य की मर्यादा को समझकर कार्य करने वाला, जिस पर कोई प्रहार न कर सकता हो, जो सदा उत्थान (पुरुषार्थ) में तत्पर रहने वाला, स्मरणशक्ति-सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली एवं राग-द्वेष-ईर्ष्या-मोह से रहित होता है, उसे 'याम्यसत्त्व' जानना चाहिए।

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं[४] वारुणं विद्यात्। (५) (च.शा. ४.३७)

वारुणसत्त्व[५] का लक्षण- जो मनुष्य शूर, धैर्यवान्, पवित्र, अपवित्रद्वेषी, यज्ञकर्ता, जलविहार में रत, बुरे कर्मों से दूर रहने वाला और उचित समय पर क्रोध तथा प्रसन्नता प्रकट करने वाला होता है, उसे 'वारुणसत्त्व' जानना चाहिए।

---

१. माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम्।। (सु.शा. ४.८२)

२. असम्प्रहार्यमिति अशक्यवारणम्। (च.शा. ४.३७, चक्रपाणिः)

३. प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्छुचिः।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान्।। (सु.शा. ४.८६)

४. स्थाने उचिते कोपः प्रसादश्च स स्थानकोपप्रसादः।(च.शा. ४.३७,चक्रपाणिः)

५. शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम्।। (सु.शा. ४.८३)

स्थानमानोपभोगपरिवारसम्पन्नं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं सुखविहारं[1] व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात्। (६) (च.शा. ४.३७)

कौबेरसत्त्व[2] का लक्षण- जो मनुष्य उत्तम निवासस्थान, प्रतिष्ठा, उपभोग सामग्री तथा परिवार से सम्पन्न, धर्म-अर्थ-काम- इन तीनों में नित्य संलग्न, पवित्र, सुखपूर्वक विचरण करने वाला, क्रोध एवं प्रसन्नता को स्पष्टत: प्रकट करने वाला होता है, उसे 'कौबेरसत्त्व' जानना चाहिए।

प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकश्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात्। (७) (च.शा. ४.३७)

गान्धर्वसत्त्व[3] का लक्षण- जो मनुष्य नृत्य, गीत, वादन, स्तोत्रपाठ[4], श्लोकोच्चारण, कथावार्ता, इतिहास तथा पुराणों के पाठ में कुशल, सुगन्धित इत्र एवं चन्दन लगाने वाला, मालाधारण व स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाला, नित्य स्त्रीविहार की कामना करने वाला तथा अनसूयक (दूसरे के गुणों में दोषदृष्टि न रखने वाला) होता है, उसे 'गान्धर्वसत्त्व' जानना चाहिए।

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात्, कल्याणांशत्वात्; तत्संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत्। (च.शा. ४.३७)

ब्राह्मसत्त्व सर्वोपरि- इस प्रकार शुद्ध सत्त्व (मन) के सात भेदों को जानना चाहिए, कल्याणांश की प्रधानता के कारण तथा कल्याणकारी

---

१. सुखविहारमिति सुखक्रीडनम्। (च.शा. ४.३७,चक्रपाणि:)

२. मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागतमसंचयौ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम्।। (सु.शा. ४.८४)

३. गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम्।। (सु.शा. ४.८५)

४. उल्लाप: स्तोत्रम्। चक्रपाणि (च.शा. ४.३७)

अंश के उत्तमरूप में संयोग होने के कारण 'ब्राह्मसत्त्व' को अत्यन्त शुद्ध जानना चाहिए।

राजस सत्त्व के छः भेद

शूरं [1]चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात्। (१) (च.शा. ४.३८)

(१) आसुरसत्त्व[2]- जो मनुष्य शूरवीर, क्रोधी, दूसरों के गुणों में दोष देखने वाला, ऐश्वर्यवान्, औपधिक[3] (कपट करने वाला), उग्र, अननुक्रोश[4] (निर्दयी), अपने ही सम्मान का इच्छुक होता है, उसे 'आसुरसत्त्व' समझना चाहिए।

अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्ष्युं राक्षसं विद्यात्। (२) (च.शा. ४.३८)

(२) राक्षससत्त्व[5]- जो मनुष्य असहिष्णु (असहनशील), सदैव क्रोधी, अवसर पाकर प्रहार करने वाला, क्रूर, अधिक भोजन करने वाला, मांसभक्षणप्रिय, अधिक निद्रा व थकावट का अनुभव करने वाला, ईर्ष्यालु होता है, उसे 'राक्षससत्त्व' जानना चाहिए।

महाशनं स्त्रैणं स्त्रीरहस्काममशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात्। (३) (च.शा. ४.३८)

---

१. गुणेषु दोषाविष्करणमसूया।

२. एकाशिनं चौदारिकमासुरं सत्त्वमीदृशम्।
तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा।। (सु.शा. ४.८९)

३. औपाधिकमिति छद्मप्रचारिणम्। (च.शा. ४.३८, चक्रपाणिः)

४. अननुक्रोशमिति निर्दयम्। (च.शा. ४.३८, चक्रपाणिः)

५. भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम्।
उच्छिष्टहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा।। (सु.शा. ४.९२)

(३) पैशाचसत्त्व[१]- जो मनुष्य अधिक मात्रा में भोजन करने वाला, स्त्रीरागी, स्त्रीरहस्काम[२] (स्त्री के साथ एकान्त में रहने का इच्छुक), अपवित्र, पवित्रता से द्वेष करने वाला, भीरु[३], परन्तु क्रोध करने पर दूसरों को डराने वाला, आहार-विहार के विपरीत (विकृत) आचरण करने वाला होता है, उसे 'पैशाचसत्त्व' जानना चाहिए।

क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचर-माहारविहारपरं सार्पं विद्यात्। (४) (च.शा. ४.३८)

(४) सार्पसत्त्व[४]- जो मनुष्य क्रोध करने पर शूर तथा क्रोध न करने पर भयभीत, तीक्ष्णस्वभाव, परिश्रमयुक्त कार्यों को करने वाला, भयभीत होकर विषय को ग्रहण करने वाला (सन्त्रस्तगोचरम्[५]), आहार-विहार में रुचि रखने वाला होता है, उसे 'सार्पसत्त्व' जानना चाहिए।

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिन-मतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं[६] विद्यात्। (५) (च.शा. ४.३८)

(५) प्रैतसत्त्व[७]- जो मनुष्य सदा भोजन-लोलुप, दुःखदायक आचरण व उपचार वाला, दूसरों के गुणों में दोषों का आरोपण करने वाला,

---

१. स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम्।
असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्।। (सु.शा. ४.९३)
२. स्त्रिया समं रहसि स्थातुमिच्छतीति स्त्रीरहस्कामः। (च.शा. ४.३८, चक्रपाणिः)
३. क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुमिति क्रोधे सति शूरम्, क्रोधेऽसति भीरुम्। (चक्रपाणिः)
४. विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम्।
प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च।। (सु.शा. ४.९०)
५. गोचरशब्देन गोचरे विषये प्रचारो लक्ष्यते, तेन संत्रस्तगोचरमिति संत्रस्तविषयप्रचारम्। (च.शा. ४.३८, चक्रपाणिः)
६. प्रेतस्येदं प्रैतम्।
७. लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम्।
षडेते राजसाः कायाः, तामसांस्तु निबोध मे।। (सु.शा. ४.९४)

अपने धन व सुख में विभाजन न करने वाला, अत्यधिक लालची तथा सदा कार्य करने से बचता है, उसे 'प्रैतसत्त्व' जानना चाहिए।

अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षणमसञ्चयं शाकुनं विद्यात्। (६) (च.शा. ४.३८)

(६) शाकुनसत्त्व[1]- जो मनुष्य कामुक, सदैव आहार-विहार में आसक्त, अस्थिरस्वभाव, असहिष्णु तथा असंग्रही (संचयरहित) होता है, उसे 'शाकुनसत्त्व' जानना चाहिए।

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्यात्, रोषांशत्वात्। (च.शा. ४.३८)

राजससत्त्व का उपसंहार- इस प्रकार क्रोधप्रधान राजस सत्त्व के छः भेद जानने चाहिएं।

तामस सत्त्व के तीन भेद

निराकरिष्णुममेधसं जुगुप्सिताचाराहारं मैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात्। (१) (च.शा. ४.३९)

(१) पाशवसत्त्व[2]- अपने ऊपर आयी हुई विपत्ति का निराकरण करने वाले, मेधाशक्ति से रहित, निन्दित आहार-व्यवहार करने वाले, मैथुन में आसक्त तथा निद्रालु पुरुष को 'पाशवसत्त्व' जानना चाहिए।

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात्। (२) (च.शा. ४.३९)

१. अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम्।
एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता।। (सु.शा. ४.९१)

२. दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः।। (सु.शा. ४.९५)

(२) मात्स्यसत्त्व[१]**-** भीरु, नासमझ, आहार-लोलुप, चञ्चल, सदा कामी तथा क्रोधी, सरणशील[२] (भ्रमणशील) एवं जल की इच्छा (तैरने आदि की इच्छा) रखने वाले पुरुष को 'मात्स्यसत्त्व' जानना चाहिए।

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्यङ्गहीनं वानस्पत्यं विद्यात्। (३) (च.शा. ४.३९)

(३) वानस्पत्यसत्त्व[३]**-** जो आलसी मनुष्य केवल खाने-पीने में लगा रहता है और ऊहावितर्कादि बुद्धि[४] के अङ्गों से शून्य होता है, उसे 'वानस्पत्यसत्त्व' जानना चाहिए।

इत्येवं तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात्।
(च.शा. ४.३९)

इस प्रकार मोहांश की प्रधानता के कारण तामस सत्त्व के तीन भेद जानने चाहिएं।

एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुद्ध्यति।
मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः।। (च.शा. ५.१३)
ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्।
यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथामलम्।। (च.शा. ५.१४)
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने।
शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा।। (च.शा. ५.१५)

---

१. अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम्।। (सु.शा. ४.९६)
२. सरणशीलमिति गमनशीलम्। (च.शा. ४.३९, चक्रपाणिः)
३. एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः।। (सु.शा. ४.९७)
४. बुद्ध्यङ्गानि ऊहापोहविचारस्मृत्यादीनि उक्तानि। (च.शा. ४.३९, चक्रपाणिः)

मन का प्रकाश व उसकी निर्मलता- तैल, वस्त्र या केश आदि से स्वच्छ किये गये शुद्ध दर्पण के समान उक्त मोक्षसाधन (शुद्धि-उपायों) से मलिन सत्त्व (मन) शुद्ध हो जाता है। ग्रह (राहु), मेघ, धूल, धूम तथा कोहरे से अनावृत (न ढका हुआ) सूर्यमण्डल जिस प्रकार चमकता है, उसी प्रकार (रज, तम) से अनावृत निर्मल मन भी शुद्धरूप में प्रकाशित होता है।

जैसे ढके हुए खिड़की-दरवाजों वाले घर में शुद्ध, स्थिर एवं उज्ज्वल दीपशिखा वाला दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियरूप छिद्रों को बन्द कर आत्मा में केन्द्रित किया हुआ सत्त्व (मन) शुद्ध, स्थिर एवं उज्ज्वल प्रभा वाला होकर प्रकाशित होता है।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः।। (च.शा. ५.१६)
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।
योगं यया धारयते सांख्यः सम्पद्यते यया।। (च.शा. ५.१७)
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया।। (च.शा. ५.१८)
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता।। (च.शा. ५.१९)

सत्या-बुद्धि के उदय का फल- शुद्ध सत्त्व (मन) वाले पुरुष में वह सत्या-बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा वह अत्यन्त बलशाली महामोहस्वरूप[१] अज्ञान (तम) का भेदन कर देता है, सभी भावों के स्वभाव को जानने वाला पुरुष निःस्पृह[२] अर्थात् राग-द्वेष से रहित हो जाता है, विषयव्यावृत्त (विषयशून्य) मन का आत्मा में योग[३] (परम एकाग्र भाव)

---

१. महामोहः अनादिमिथ्याज्ञानम्। (च.शा. ५.१६, चक्रपाणिः)
२. निःस्पृहः इति उपादित्साजिहासाशून्यः। (च.शा. ५.१७, चक्रपाणिः)
३. योगमिति विषयव्यावृत्तस्य मनस आत्मन्येव परं योगम्। (च.शा.५.१७)

करता है, सांख्य (तत्त्वज्ञाता) हो जाता है, अहंकार को प्राप्त नहीं होता, कारण (सुख-दु:ख के कारण जन्म-मरण) का सेवन नहीं करता, कहीं भी आश्रय, बाह्य सहारा नहीं ढूँढता (नालम्बते किञ्चिद्) अथवा राग-द्वेषादि किसी का भी आश्रय नहीं लेता। सभी विषयों में (संन्यस्त[१]) उदासीन या तटस्थ हो जाता है, सबका त्याग कर देता है, नित्य, अजर, शान्त तथा अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उस सत्या-बुद्धि को ही विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान (तत्त्वज्ञान[२]) कहा जाता है।

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यत:।
परावरदृश: शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।। (च.शा. ५.२०)

शाश्वत शान्ति- समस्त लोक में आत्मा को और आत्मा में लोक को व्यवस्थित देखते हुए आत्मा एवं अवर अर्थात् महदादि प्रकृति को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष की ज्ञानमूला[३] शान्ति सदा स्थिर रहती है अर्थात् कभी भी नष्ट नहीं होती।

पश्यत: सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते।। (च.शा. ५.२१)

जीवन्मुक्त की स्थिति- सर्वदा सभी अवस्थाओं में लोकगत व शरीरगत भावों को राग-द्वेष से रहित होकर देखने वाले (पश्यत:[४]) जीवन्मुक्त शुद्ध पुरुष का (धर्म-अधर्मादि के साथ[५]) संयोग नहीं होता।

---

१. संन्यस्त इति सर्वत्रोदासीनो भवति। चक्रपाणि (च.शा. ५.१८, चक्रपाणि:)
२. विद्यासिद्ध्यादयश्च यद्यपि ज्ञानविशेषेऽपि प्रसिद्धा तथापीह तत्त्वज्ञानपरा एव ज्ञेया। (च.शा. ५.१९, चक्रपाणि:)
३. ज्ञानमूलेत्यनेन मोहमूलामस्थिरां शान्तिं निरस्यति। (च.शा. ५.२०, चक्रपाणि:)
४. पश्यत इति पश्यत एव परं, न तु रज्यतो नापि द्विषत इत्यर्थ:। (चक्रपाणि:)
५. संयोग इति धर्माधर्मसम्बन्ध:। (च.शा. ५.२१, चक्रपाणि:)

नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते।
स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते।। (च.शा. ५.२२)

मुक्तात्मा का लक्षण- करणों (मन, बुद्धि , ज्ञान एवं कर्मेन्द्रिय[१]) का अभाव हो जाने पर आत्मा का कोई लिङ्ग (चिह्न) उपलब्ध नहीं होता, तब वह पुरुष सभी करणों के साथ संयोग का अभाव हो जाने से 'मुक्त' कहा जाता है।

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते।। (च.शा. ५.२३)

मुक्ति के पर्याय- विपाप, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण- इन सभी पर्यायों के द्वारा शान्ति (मुक्ति) कही जाती है।

एतत्तत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः।। (च.शा. ५.२४)

पुरुषविचय का महत्त्व- हे सौम्य! यही वह (पुरुषविचय नामक) विज्ञान है, जिसे जानकर संशयमुक्त तथा मोह, रज (राग) व स्पृहा (कामना) से रहित मुनिगण मोक्ष को प्राप्त हो गये।

तीन प्रकार की एषणाएँ (इच्छाएँ)

इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति। तद्यथा- प्राणैषणा, धनैषणा परलोकैषणेति।। (च.सू. ११.३)

अपने विचारशील मन, बुद्धि, पौरुष[२] और पराक्रम[३] को शक्तिशाली बनाकर मनुष्य को इस जन्म और जन्मान्तर में स्वयं के कल्याण की

१. करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च। (च.शा. १.५६, चक्रपाणिः)
२. पौरुषं शारीरं बलं-पौरुष अर्थात् शारीरिक बल।
३. पराक्रमस्तु शौर्याख्यं मानसं बलम्- पराक्रम अर्थात् शौर्य नाम से प्रसिद्ध मानसिक बल।

चाहना करके तीन प्रकार की इच्छाओं को अर्जित करना चाहिए, जैसे- १. प्राणैषणा २. धनैषणा ३. परलोकैषणा।

प्राणैषणा

आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत। कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः। तस्यानुपालनं स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तानुवृत्तिरातुरस्य च विकारप्रशमनेऽप्रमादः, तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति।। (च.सू. ११.४)

(१) प्राणैषणा– इन तीनों एषणाओं (इच्छाओं) में सर्वप्रथम प्राणैषणा ही है, क्योंकि प्राण के त्याग होने से शरीर का त्याग स्वतः ही सिद्ध है। प्राण के ही पालन के लिए स्वस्थ व्यक्ति को स्वास्थ्य की रक्षा हेतु स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए और रोगी मनुष्य को विकार के प्रशमन में प्रमादरहित प्रयत्न करना चाहिए इसलिए इन पूर्वोक्त उपदेशों को जैसा कहा गया है, वैसा यथावत् पालन करने से मनुष्य को दीर्घ आयु प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रथम एषणा 'प्राणैषणा' की व्याख्या हुई है।

धनैषणा

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत; प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति। न ह्यतः पापात्पापीयोऽस्ति, यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा- कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम्। तथा कुर्वन्दीर्घजीवितं जीवत्यनवमतः पुरुषो भवतीति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति।। (च.सू. ११.५)

(२) धनैषणा– अब द्वितीय एषणा धनैषणा को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्राणों के रहते हुए धनप्राप्ति की कामना करनी चाहिए; क्योंकि धनहीन के दीर्घायु होने से बढ़कर दु:खदायक कोई बात नहीं है इसलिए भोजन, वस्त्र, भवन आदि जीवनोपयोगी साधनों को पाने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिए। अब उपयोगी साधनों को प्राप्त करने के उपायों की व्याख्या कर रहे हैं। जैसे-कृषि (खेती-बाड़ी), पशुपालन, वाणिज्य (व्यवसाय) और राजसेवा आदि के द्वारा जीविका का उपार्जन करना चाहिए। इसी प्रकार जो अन्य कार्य सभ्य समाज के द्वारा निन्दित न हों, ऐसे व्यवहार व धनप्राप्ति में सहायक साधनों को उपलब्ध करने हेतु प्रयास करें। ऐसा करते हुए मनुष्य दीर्घकाल तक सम्मानपूर्वक जीवन जी सकता है। इस प्रकार 'धनैषणा' की व्याख्या की गई है।

परलोकैषणा

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र, कथम्? भविष्याम इतश्च्युता न वेति, कुत: पुन: संशय इति, उच्यते- सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपरा: परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिता:, सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति; श्रुतिभेदाच्च

मातरं पितरं चैके मन्यते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं[1] यदृच्छां चापरे जना:।। इति।
अत: संशय:- किं नु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति।।

(च.सू. ११.६)

अब तीसरी परलोकैषणा प्राप्त करें, किन्तु यहाँ संदेह इस प्रकार है कि इस लोक से छूटने के बाद हम होंगे? या नहीं होंगे? अथवा कैसे होंगे? यह संदेह

१. पर ऐश्वर्यादिगुणयुक्त आत्मविशेष: तेन संसार्यात्मनिरपेक्षिणा निर्माणं परनिर्माणम्। (चक्रपाणि:)

किस कारण से है? इसको महर्षि आत्रेय कह रहे हैं- कुछ नास्तिक मतावलम्बी आचार्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और कुछ आचार्य शास्त्र-प्रमाण के आधार पर पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। श्रुतिवाक्य भी कभी-कभी संदेह का निमित्त बन जाता है। जैसे- कुछ आचार्य माता-पिता को, दूसरे स्वभाव को, कुछ परनिर्माण (जीवों से निरपेक्ष परमेश्वर द्वारा बनाया गया संसार) को और कुछ यदृच्छा को जन्म का कारण मानते हैं। इन्हीं सब मत-मतान्तरों से संशय उत्पन्न होता है कि पुनर्जन्म वास्तव में है या नहीं?

नास्तिकबुद्धि का त्याग

न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च।। (च.सू. ११.१४)
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः।। (च.सू. ११.१५)

यदृच्छावादियों के मत में दोष दिखलाते हुए कहा जा रहा है कि उनके मत में न परीक्षा है, न परीक्षा का विषय है, न कर्त्ता है, न कारण है, न देव हैं, न ऋषिगण हैं, न सिद्ध हैं, न कर्म है, न कर्मफल है। यदृच्छा से उपहत हो गई है आत्मा जिसकी, ऐसे नास्तिक की दृष्टि में 'आत्मा' की कोई सत्ता नहीं होती। यदृच्छा का अर्थ है कारण-कार्य (Cause and Effect) के नियम को स्वीकार न करके आकस्मिकरूप से किसी भी कार्य या घटना का घटित होना। सभी पापों में सबसे बड़ा पाप है नास्तिकता को मानना; क्योंकि यह मिथ्यादृष्टि ही सभी पापों का मूल है।

तस्मान्मतिं विमुच्यैताममार्गप्रसृतां बुधः।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम्।। (च.सू. ११.१६)

चूँकि नास्तिकता सबसे बड़ा पाप है इसलिए विवेक-सम्पन्न व्यक्ति कुमार्गगामिनी बुद्धि का त्याग कर सदैव बुद्धिमान् व्यक्तियों का संग करे

और उन विद्वानों से मिले ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा सब विषयों को ठीक-ठीक देखे अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करे।

आप्तपुरुष का लक्षण

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ।। (च.सू. ११.१८)
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमा[१]: ।। (च.सू. ११.१९)

आप्त पुरुषों का उपदेश प्रमाण माना जाता है इसलिए सर्वप्रथम 'आप्त' का लक्षण कहा जा रहा है- जिन्होंने तप और ज्ञानबल द्वारा स्वयं को रजस् और तमस् से निर्मुक्त[२] बना लिया है। जिनमें तीनों भूत, भविष्य और वर्तमान कालों का यथार्थ ज्ञान अबाधितरूप से होता है, उन्हें आप्त[३] कहा जाता है। वे आप्त पुरुष शिष्ट होते हैं; क्योंकि वे स्वयं के शिष्ट व्यवहार से सम्पूर्ण समाज को शिक्षा देते हैं और उन्हें कर्तव्यपालन का बोध कराते हैं। वे विबुद्ध होते हैं, क्योंकि वे जानने योग्य वस्तुओं तथा उनके विषयों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं। इन आप्त पुरुषों के वाक्य सत्य और निश्चय ही संशयरहित होते हैं। चूँकि वे रजस् और तमस् रूपी विकारों से मुक्त हैं इसलिए वे सत्य ही कहते हैं, कभी भी असत्य क्यों कहेंगे ? अर्थात् वे कदापि अनृतभाषण नहीं करते।

---

१. नीरजस्तमा इति तमप् प्रत्ययान्तः शब्दः तेन नीरजस्त्वप्रकर्षेण तमोऽपि व्युदस्तं भवति; न हि सर्वथा नीरजस्के पुरुषे तमो भवति; यदुक्तं 'नारजस्कं तमः' इति। (वि. अ. ६, चक्रपाणिः)

२. निःशेषेण मुक्ता निर्मुक्ताः, सम्पूर्ण विकारों से जो मुक्त हैं, उन्हें 'निर्मुक्त' कहते हैं।

३. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणम् अर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः।(न्यायदर्शनभाष्ये वात्स्यायनः)

प्रत्यक्ष का लक्षण

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥ (च.सू. ११.२०)

आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषयों के संयोग से तत्काल (तदात्वे= तत्क्षणम्) उत्पन्न ज्ञान (व्यक्ता या बुद्धिः) को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। इससे मिथ्याज्ञान एवं संशय-ज्ञान का निराकरण होता है।

अनुमान का लक्षण

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं[1] त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥ (च.सू. ११.२१)
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्[2]।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ (च.सू. ११.२२)

अनुमान सदा प्रत्यक्षपूर्वक होता है और वह तीन प्रकार से तीन कालों (भूत, भविष्य और वर्तमान) में देखा जाता है। जैसे धुँए को देखकर छिपी हुई अग्नि का अनुमान वर्तमानकालिक अनुमान है। गर्भ को देखकर स्त्री-पुरुष के संसर्ग का अनुमान भूतकाल का अनुमान है। बीज को देखकर आने वाले फल का अनुमान भविष्यत्कालिक अनुमान है। इस प्रकार विद्वान् लोग प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का ज्ञान करते हैं (व्यवस्यन्ति बुधाः)।

---

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च। (न्याय. .१.५) चरकसूत्रे त्रिविधमिति पदेन - अनुमानत्रैविध्यं दर्शयति, तेन कार्यात् कारणानुमानं यथा- गर्भदर्शनान्मैथुनानुमानं, तथा कार्यात् कारणानुमानं यथा- बीजात् सहकारि- कारणान्तरयुक्तात् फलानुमानं, तथा कार्यकारणभूतानां च सामान्यतो दर्शनादनुमानं, यथा धूमाद् वर्तमानक्षणसम्बन्धादग्न्यनुमानं, एतत् त्रिविधंमनुमानं गृहीतं भवति। (चक्रपाणिः)

२. अनागतं फलं सदृशं व्यवस्यन्तीति सम्बन्धः। (चक्रपाणिः)

युक्ति का लक्षण

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसम्भवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा।।
(च.सू. ११.२३)

मथ्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसंपद्व्याधिनिबर्हणी।। (च.सू. ११.२४)

जैसे जल, कर्षण से संस्कृत भूमि, बीज और ऋतु के संयोग से जौ, गेहूँ आदि धान्य उत्पन्न होते हैं, वैसे ही छः धातुओं अर्थात् पंचमहाभूत व आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यह युक्ति है। जिस प्रकार मंथनयोग्य काष्ठ, मन्थनक्रिया और मन्थान (जिससे मन्थन किया जाता है, वह काष्ठ), इन तीनों के संयोग से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार गुणवान् वैद्य, उचित औषध, योग्य परिचारक और रोगी- इस चतुष्पाद चिकित्सा का युक्तियुक्त प्रयोग करने से रोगों का शमन होता है।

आप्तोपदेश का लक्षण

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः, स चाप्तागमः आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्य-भ्युदयनिःश्रेयसकराणीति।। (च.सू. ११.२७)

आप्तों का शास्त्र वेद है तथा अन्य भी जो शास्त्र वेदोक्त अर्थ से विपरीत न हो अथवा वेद से असम्बन्धित न हो, परीक्षकों द्वारा रचा गया हो, शिष्टजनों के मतानुकूल हो, लोककल्याण की दृष्टि से शास्त्ररूपी कथन, वचन कहा गया हो उसे भी आप्तोदेश जानना चाहिए। दान, तप, यज्ञ[1], अहिंसा (मन, वचन और कर्म से प्राणिमात्र को कष्ट न पहुँचाना)

१. यज्ञः अग्निष्टोमादिः। (चक्रपाणिः)

और ब्रह्मचर्य[1] के पालन करने से अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग और निःश्रेयस (मोक्ष)की प्राप्ति कराने वाले होते हैं, ऐसा इन आप्तशास्त्रों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है।

कर्मफल का महत्त्व

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्नन्ति मानवम्।।
ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा।
न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता।।
प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान्।। (च.नि. ७.१९-२१)

अक्लिष्टकर्मा (शुभकर्मा) मनुष्य को देवता, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस आदि आविष्ट होकर उन्माद आदि कष्ट नहीं देते हैं। यदि वह स्वयं के पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कारण उन्माद आदि के रूप में कष्ट को भोग रहा है, तो उन्मादावस्था में आविष्ट देवता आदि उसके कर्म का अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं अतः वह कष्ट देवता आदि के हेतु से हो रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस अवस्था में आविष्ट देवता आदि की रोगी के स्वकृत कर्म के प्रति कृत्यता (करणीयता) नहीं मानी जा सकती अर्थात् वह कष्ट स्वकर्मकृत है, देवता आदि का कृत्य नहीं है इसलिए प्रज्ञापराध से हुए अपने कर्मज व्याधि के लिए समझदार व्यक्ति को देवता, पितर एवं राक्षसों को दोषी नहीं मानना चाहिए, उन्हें उलाहना नहीं देना चाहिए।

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्[2]।।

१. ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमादिः। (चक्रपाणिः)

२. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (गीता ६.५)

देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम्।
ते[१] च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि।। (च.नि. ७.२२-२३)

मनुष्य को अपने सुख-दुःख का कर्ता स्वयं को ही मानना चाहिए इसलिए श्रेयस्कर मार्ग को अपनाना चाहिए और देवादि से इस रूप में नहीं डरना चाहिए कि वे अकारण ही पीड़ित करते हैं। देव आदि की पूजा, हितकर आहार-विहार व शुभ कर्मों का अनुष्ठान या दुर्बुद्धि व अशुभ कर्मों के कारण देव आदि का विरोध करना- ये सब अपने ऊपर निर्भर हैं अर्थात् हम अच्छा करेंगे तो अच्छा परिणाम होगा और बुरा करेंगे तो बुरा होगा। देव आदि तो हमारे कर्म का अनुसरण मात्र करते हैं।

यथास्वेनात्मनात्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः।। (च.शा. १.७७)

स्वतन्त्र आत्मा अप्रिय योनियों में क्यों जन्म लेता है? (च.शा. १.६) प्रश्न का उत्तर- सब प्राणी (मनुष्य, गौ, हस्ती, कीट आदि) स्वयं को प्राणों से युक्त करते हैं तथा यह आत्मा अपने धर्म व अधर्म कर्मों के साथ संयोग के कारण स्वयं ही (यथास्वेनात्मना) अपने को भिन्न-भिन्न योनियों में ले जाता है, आत्मा का कोई अन्य नियामक (नियन्त्रक) नहीं है अर्थात् यह स्वयं ही शुभ कर्मों के फलानुसार उच्च योनियों को प्राप्त होता है तथा अशुभ कर्मों के फलस्वरूप अप्रिय (निम्न) योनियों को प्राप्त होता है।

वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते।
वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति।। (च.शा.१.७८)

स्वयं अपने ही वश में रहने वाला आत्मा दुःखों से क्योंकर आक्रान्त हो जाता है? (च.शा. १.७) प्रश्न का उत्तर-

---

१. ते चेति देवापचितिहितोपसेवने। (चक्रपाणिः)

वशी (इष्ट अथवा अनिष्ट कर्मों को करने में स्वयं की इच्छा के अधीन प्रवृत्ति वाला आत्मा) उन शुभ-अशुभ कर्मों को करता है जिनको करके उनके सुख-दु:खरूप फल का भोग करता है। अनिष्ट विषय में वशी होता हुआ आत्मा मन को एकाग्र करके अनिष्ट से हटाता है तथा वशी आत्मा मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता हुआ शुभ व अशुभ फल वाले सब कर्मों का त्याग कर देता है।

मन का लक्षण

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।।
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।। (च.शा. १.१८-१९)

ज्ञान का न होना तथा ज्ञान का होना- यही मन का लक्षण है, क्योंकि आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयों) का सन्निकर्ष होने पर भी मन का संयोग न होने से ज्ञान नहीं होता, जब मन का संयोग होता है तब ज्ञान होता है अत: ज्ञान का होना, न होना ही मन का लक्षण है। मन के दो गुण होते हैं- अणुत्व तथा एकत्व।

१. आत्मा २. इन्द्रिय ३. इन्द्रियों के अर्थ (विषय) वस्तु पदार्थादि ४. इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध ५. मन, इन सभी का एक साथ संयोग होने से ज्ञान होता है।

मन के विषय

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसञ्ज्ञकम्।। (च.शा. १.२०)

चिन्त्य-(यह करने योग्य है या नहीं इस रूप में) मन के द्वारा जो चिन्तन (ध्यान, मनन आदि) किया जाता है, वह चिन्त्य है अर्थात् चिन्तन

करने योग्य विषय, **विचार्य**-विचार (विमर्श) करने योग्य विषय,**ऊह्य-** तर्क करने योग्य विषय, **संकल्प्य-** गुण व दोष के रूप में निश्चय करने योग्य विषय तथा अन्य जो भी कुछ मन के द्वारा जानने योग्य है, वह सब मन का विषय जानना चाहिए।

मन के कार्य

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते।। (च.शा. १.२१)

इन्द्रियों का नियन्त्रण करना, अपने आप को अनिष्ट विषयों से बचाना, ऊहा करना, विचार-विमर्श करना- ये सब मन के कार्य हैं। ऊह, विचार आदि के अनन्तर बुद्धि अध्यवसाय (निश्चय) करती है।

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा।।
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्।। (च.शा. १.२२-२३)

मनसहित इन्द्रिय जब अपने इन्द्रियार्थों (विषयों) का ग्रहण करती है, तब मन के द्वारा यह विचारणीय होता है कि गुणयुक्त होने से यह ग्राह्य है अथवा दोषयुक्त होने से त्याज्य है।

उस समय उस विषय में जो निश्चयात्मिका (स्थिर स्वरूप वाली) बुद्धि उत्पन्न होती है। उस बुद्धि के द्वारा व्यक्ति कुछ कहने अथवा करने में बुद्धिपूर्वक प्रेरित होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते।। (च.शा. १.२४)

जिनसे बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, वे अपने-अपने कार्यों से अनुमित की जाने वाली पञ्चेन्द्रियाँ क्रमशः एक-एक स्थूलभूत की अधिकता वाली हैं। चक्षु इन्द्रिय- अग्नि की अधिकता से युक्त होती है, कर्णेन्द्रिय- आकाश, घ्राण- पृथिवी, रसनेन्द्रिय- जल तथा त्वक्- वायु की अधिकता से युक्त होती है।

हस्तौ पादौ[1] गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि।। (च.शा.१.२५)
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वागिन्द्रियं, वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता।। (च.शा.१.२६)

१. दो हाथ २.दो पैर ३.पायु ४.उपस्थ ५.वाक्- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। दोनों पैर चलने के लिए, पायु और उपस्थ मल-मूत्र त्याग करने के लिए, हाथ ग्रहण व धारण करने के लिए, जिह्वा वाक् इन्द्रिय है, सत्य वाणी यथार्थ को प्रकट करने वाली होती है अतः यह ज्योतिःस्वरूपा होती है। झूठ (अनृत) वाणी अयथार्थ को प्रकट करती है अतः यह अन्धकारस्वरूपा होती है।

पञ्च महाभूत

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।। (च.शा. १.२७)

पञ्च महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा क्रमशः उनके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध होते हैं।

महाभूतों के गुणों में गुणान्तर प्रवेश-क्रम

तेषामेकगुणः[2] पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः।। (च.शा. १.२८)

१. 'हस्तौ पादौ' के स्थान पर 'हस्तपादम्' यह पाठभेद भी मिलता है।
२. 'तेषामेकगुणं पूर्वम्' इति पाठभेदः।

उन पञ्च महाभूतों में पहला भूत एक गुण वाला होता है और बाद -बाद वाले भूतों में गुणों की वृद्धि होती जाती है अर्थात् पूर्व-पूर्व वाले भूतों के गुण पर-पर (बाद-बाद) वाले भूतों के गुणों में क्रमशः जुड़ते जाते हैं। 'गुणिषु= गुणाः सन्ति येषु' गुण जिसमें रहते हैं, वे गुणी होते हैं अतः पञ्च महाभूत गुणी हैं। पंचमहाभूतों में पूर्व भूत तथा पूर्व भूत का गुण क्रमशः माने गए हैं। वेदांत की पञ्चीकरण प्रक्रिया भी इस दृष्टि के साथ सुसंवादी है।

चक्रपाणि तो 'पूर्वः पूर्वगुणश्चैव०' इस श्लोकांश की व्याख्या करते हुए यह कहना चाहते हैं कि 'पूर्वः' शब्द से आकाश आदि के निज गुण का ग्रहण है तथा 'पूर्वगुणः' शब्द से पूर्व-पूर्ववर्ती भूतों के गुण को कहा गया है। इस व्याख्या में पृथिवी के निज गुण को उत्तर गुण का अभाव होने से पूर्व कैसे कहें? इसका उत्तर वे ऐसा देते हैं कि 'छत्रिणो गच्छन्ति[१]' इस न्याय से अपूर्व गन्ध गुण को भी क्रमागत होने से पूर्व कह दिया गया है।

आकाश एक गुण वाला होता है, वायु का गुण स्पर्श तथा एक आकाश का गुण शब्द उसके साथ रहता है अतः वायु दो गुण (शब्द, स्पर्श) वाली होती है। अग्नि का गुण रूप तथा पूर्व के दो गुण शब्द व स्पर्श उसके साथ रहते हैं अतः अग्नि तीन गुण (शब्द, स्पर्श, रूप) वाली होती है। जल का गुण रस तथा पूर्व के तीन गुण भी इसमें रहते हैं अतः जल चार गुणों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस) वाला होता है। पृथिवी का गुण गन्ध है और पूर्व भूतों के चार गुण भी इसमें रहते हैं अतः पृथिवी पाँच गुणों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) वाली होती है।

---

१. जाने वाले लोगों के किसी समूह में एक छात्रधारी है, शेष सब बिना छाते वाले हैं, फिर भी उस एक छात्रछारी के आधार पर सभी के लिए 'छत्रिणो गच्छन्ति' ऐसा प्रयोग हो जाता है।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो[1] दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्।। (च.शा. १.२९)
लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः[2]।। (च.शा. १.३०)

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इन महाभूतों के क्रमशः खरत्व (खुरदरापन), द्रवत्व, चलत्व (चलायमानता) एवं उष्णत्व- ये लक्षण होते हैं और आकाश का लक्षण अप्रतिघात (बाधा न पहुँचाना/स्पर्शरहित होना) है। जैसे चलते हुए व्यक्ति के समक्ष स्पर्शगुणयुक्त कोई दीवार आ जाए तो वह आगे नहीं बढ़ सकता किन्तु आकाश के स्पर्शरहित होने से ऐसा कभी नहीं होता, यही 'अप्रतिघात' कहलाता है।

इन सभी पञ्चमहाभूतों के लक्षण खरत्वादि का ज्ञान केवल स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही जाता है तथा स्पर्शाभाव भी स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ज्ञात होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि आकाश के लक्षण अप्रतिघात का ज्ञान स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा कैसे हो सकता है?

तन्त्रकार का समाधान- जिस इन्द्रिय से उसके गुण की सत्ता का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का ज्ञान भी होता है। जैसे हम कहीं गुफा या शान्त स्थान पर जाकर वहाँ अनुभव करते हैं कि यहाँ कोई शब्द नहीं हो रहा है, कितनी शान्त जगह है, यह अनुभव भी श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार आकाश के अस्पर्शत्व का अनुभव भी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ही हो जाता है।

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।। (च.शा.१.३१)

शरीर में पञ्च महाभूतों के (गुणिनाम्) गुण व लक्षण (चिह्नम्) निर्दिष्ट हैं। शब्दादि जो गुण इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय हैं, उन्हें अर्थ जानना चाहिए।

१. अप्रतीघातः अप्रतिहननमस्पर्शत्वमिति यावत्। (चक्रपाणिः)
२. सविपर्यय इति स्पर्शाभावः। (चक्रपाणिः)

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा।। (च.शा. १.३२)

प्राणियों की (जन्तोः) जो बुद्धि जिस इन्द्रिय का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है, वह बुद्धि उसी इन्द्रिय के नाम से निर्दिष्ट होती है। जैसे चाक्षुषबुद्धि, श्रावणबुद्धि, स्पार्शनबुद्धि, रासनबुद्धि, घ्राणबुद्धि तथा मन के आश्रय से प्रवृत्त होने वाली बुद्धि मानसबुद्धि (मनोभवा बुद्धि) कही जाती है।

भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां[1] बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका[2] सन्निकर्षजा।। (च.शा.१.३३)

कार्यों अर्थात् सुख-दुःख के भेद से तथा इन्द्रियों के अर्थों के भेद से बुद्धि अनेक प्रकार की होती है। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा अर्थ (इन्द्रियों के विषय) - इन सभी के संयोग से उत्पन्न एक-एक ज्ञान 'बुद्धि' कहलाता है।

१. चक्षुर्बुद्धि- घटबुद्धि, पटबुद्धि, चित्रबुद्धि आदि।

२. श्रोत्रबुद्धि- शंखध्वनि, वाद्यध्वनि आदि।

३. घ्राणबुद्धि- सुरभिगन्धी, कुणपगन्धी आदि ।

४. रसनाबुद्धि- कटु, तिक्त, कषाय आदि ।

५. स्पर्शनबुद्धि- मृदु, खर, रूक्ष आदि।

इन सभी भेदों से बुद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं।

अंगुल्यंगुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा।। (च.शा.१.३४)

जिस प्रकार अंगुली, अंगूठा तथा करतल के संयोग (चुटकी) से शब्द की उत्पत्ति होती है, तथा तार, वीणा और नख के संयोग से शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है उसी प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय व इन्द्रियों के विषयों के साथ संयोग से बुद्धि की उत्पत्ति होती है।

---

१. 'कार्य' के स्थान पर 'कर्म' यह पाठभेद मिलता है। दोनों के अर्थ समान हैं। कार्य= सुखदुःखादि प्रपञ्च। (आयुर्वेददीपिका)

२. 'एकैकसन्निकर्षजाः' इति पाठभेदः।

अव्यक्त आत्मा से अभिव्यक्त सृष्टि

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।
तस्माद् यदन्यत् तद् व्यक्तं, वक्ष्यते चापरं द्वयम्।। (च.शा. १.६१)
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्।। (च.शा. १.६२)

अव्यक्त-आत्मा, क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र को जानने वाला), शाश्वत, विभु (व्यापक) और अव्यय-ये सब पर्याय शब्द हैं। इन सभी से भिन्न गुणों वाले को 'व्यक्त' कहते हैं। व्यक्त और अव्यक्त को पुनः प्रकारान्तर से कह रहे हैं- इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता है, उसे 'व्यक्त' या 'ऐन्द्रियक' कहते हैं तथा इससे भिन्न गुणों वाले को 'अव्यक्त' कहते हैं, वह लिङ्ग अर्थात् अनुमान द्वारा ग्राह्य तथा अतीन्द्रिय (इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य) होता है।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश।। (च.शा. १.६३)
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः।। (च.शा. १.६४)

'प्रकृतिः का विकाराः के' (च.शा. १.४) प्रश्न का उत्तर-आकाशादि पञ्च महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के सूक्ष्म अंश पञ्च तन्मात्राएँ, बुद्धि (महत्तत्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अहङ्कार- इन आठ तत्त्वों को भूतप्रकृति कहते हैं। ऐसे ही १६ विकार होते हैं- पाँच बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय), पाँच कर्मेन्द्रिय, मन के सहित पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में पाँच महाभूत। इन सोलह तत्त्वों को विकार कहा जाता है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।। (गीता १३.५)

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।।
(सांख्यकारिका ३)

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः।। (च.शा. १.६५)

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ- इन उपर्युक्त भूतप्रकृति और विकारों के समूह को दो वर्गों में बाँटा गया है- १. क्षेत्र २. क्षेत्रज्ञ। अव्यक्त को छोड़कर भूत-प्रकृतियों और सोलह विकारों अर्थात् २३ तत्त्वों को 'क्षेत्र' कहते हैं, इस क्षेत्र को जानने वाले अव्यक्त को ऋषिगण 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते[1] यथाक्रमम्।। (च.शा. १.६६)
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।

अव्यक्त से सृष्टि- अव्यक्त (मूलप्रकृति) से बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति हुई, बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से 'ख' (आकाश) आदि के सूक्ष्म अंश अर्थात् पञ्चतन्मात्राएँ तथा एकादशेन्द्रिय, तन्मात्रा से स्थूलभूत आदि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) उत्पन्न हुए। तदनन्तर यह सम्पूर्ण सर्व अङ्गों वाला उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रकृत अव्यक्त शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हो रहा है- मूलप्रकृति तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा। जहां जिसकी संगति बैठे वहां उसका ग्रहण कर लेना चाहिए।

---

१. 'खादीन्यहङ्कार उपादत्ते' इति पाठभेदः।

(सत्त्व, रज, तम) मूल प्रकृति (अव्यक्त)

महत् (बुद्धि)

अहंकार

पञ्च तन्मात्रा- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय मन

पञ्च महाभूत- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्

वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ

महाप्रलय

पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते।। (च.शा. १.६७)
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते।। (च.शा. १.६८)
येषां द्वन्द्वे परा सक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा।। (च.शा. १.६९)

पुरुष प्रलयकाल में पुनः बुद्धि आदि इष्ट भावों से वियुक्त (पृथक्) हो जाता है, उत्पत्ति काल के समय प्रकृति से (अव्यक्ताद्)व्यक्त (महत् से आरम्भ करके स्थूलभूत पर्यन्त) की उत्पत्ति होती है तथा पुनः महाप्रलय के समय महदादि व्यक्त अव्यक्त (मूलप्रकृति) में मिल जाता है। रजोगुण व तमोगुण से अत्यन्त आसक्त अविद्यायुक्त चेतन चक्र की तरह जन्म-मरण रूपी प्रवाह में घूमता रहता है। जिन पुरुषों की रज व तम में आसक्ति होती है तथा अहङ्कार के वशीभूत होकर 'यह मेरा है' इस मिथ्याज्ञान से युक्त हो जाते हैं, उनका उदय (जन्म) और प्रलय (मृत्यु) होता है, परन्तु जो राग-द्वेष से विमुक्त हैं तथा अहङ्काररहित होते हैं, उनके उदय व प्रलय नहीं होते।

आत्मा के लक्षण

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत्।।
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः।।
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः।।
शरीरं हि गते तस्मिञ् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते।। (च.शा. १.७०-७४)

किं लिङ्गं पुरुषस्य च (च.शा.१/५) प्रश्न का उत्तर-उच्छ्वास और निःश्वास (श्वास लेना और श्वास छोड़ना), निमेष तथा उन्मेष (आँखों का बन्द करना और खोलना), जीवन, मन की गति, मन का एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी इन्द्रिय में संचरण (गमन), प्रेरणा देना और धारण (ग्रहण) करना, स्वप्न में एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति करना, मृत्यु का ज्ञान(पञ्चत्वग्रहणम्), बाँई आँख से देखी गई वस्तु का ज्ञान होना कि यह वही वस्तु है जो दाहिनी आँख से पूर्व में देखी गई थी, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न, चेतना (ज्ञान) का होना, धृति, बुद्धि (तर्क-वितर्कपूर्वक ज्ञान का होना), स्मृति और अहङ्कार का होना- ये परम आत्मा (शरीर में उपस्थित आत्मा) के लक्षण हैं; क्योंकि ये सब लक्षण जीवित मनुष्य में ही दिखाई देते हैं न कि मृत मनुष्य में (न मृतस्यात्मलिङ्गानि), इसीलिए महर्षियों ने जीवात्मा के उक्त लक्षण कहे हैं। उस आत्मा के निकल जाने पर यह शरीर शून्य=बिना स्वामी के घर के समान चेतनारहित हो जाता है, चेतनारहित यह शरीर पञ्च महाभूतों के शेष रह जाने से पञ्चत्व को प्राप्त हो गया है, ऐसा कहा जाता है।

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता पर:।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभो: क्रिया:।।
चेतनावान् यतश्चात्मा तत: कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मन: क्रियावदपि नोच्यते।। (च.शा. १.७५-७६)

निष्क्रियस्य क्रिया तस्य कथम्? (च.शा. १.६) प्रश्न का उत्तर- मन अचेतन (चेतनारहित) है, परन्तु क्रियावान् है। उसको चेतनायुक्त करने वाला दूसरा ही है और वह आत्मा है। आत्मा का मन के साथ संयोग होने पर आत्माधिष्ठित मन की क्रियाएँ उस विभु (आत्मा) की क्रियाएँ कह दी जाती हैं। यत: आत्मा चेतना वाला होता है अत: स्वयं प्रत्यक्षरूप से क्रियावान् न होने पर भी मन की क्रियाओं को लेकर आत्मा ही कर्ता कह दिया जाता है, क्रिया करने वाला होते हुए भी मन चेतनारहित होने से क्रियावान् नहीं कहा जाता है।

देही सर्वगतोऽप्यात्मा[1] स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये[2]।
सर्वा: सर्वाश्रयस्थास्तु[3] नात्मातो वेत्ति वेदना:।। (च.शा. १.७९)

सर्वगत आत्मा सर्वशरीरों की वेदनाओं को क्यों नहीं जानता?
'सर्वा: सर्वगतत्वाच्च वेदना: किं न वेत्ति स:'? (च.शा. १.७) प्रश्न का उत्तर- देही (शरीर में विद्यमान आत्मा) सर्वगत, सर्वव्यापक होते हुए भी अपने-अपने स्पर्शेन्द्रिय से युक्त शरीर में ही वेदनाओं का अनुभव करता है, इसलिए वह सब शरीरों की सभी वेदनाओं का अनुभव नहीं कर पाता।

विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम्।। (च.शा. १.८०)

---

१. 'देहे सर्वगतश्चात्मा' इति पाठभेद:।
२. संस्पर्शनयुक्ते शरीरे इत्यर्थ:। (चक्रपाणि:)
३. सर्वाश्रयस्था: सर्वशरीरगता इत्यर्थ:। (चक्रपाणि:)

'सर्वगत आत्मा पर्वत आदि के पीछे के पदार्थों को क्यों नहीं जानता?' (च.शा. १.८) प्रश्न का उत्तर- यह आत्मा सर्वगत तथा महान् (आकाशादि सर्वगत तो हैं, परन्तु महान् नहीं हैं) होने से व्यापक गुण वाला है। जब यह आत्मा मन को समाधिस्थ कर लेता है तो यह आत्मा तिरस्कृत (पहाड़ या दीवार से व्यवहित) पदार्थों को भी देख लेता है।

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना[1]।
सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्।। (च.शा. १.८१)

मन से आत्मा का नित्य अनुबन्ध- देह को उत्पन्न करने वाले कर्म के कारण मन से आत्मा का नित्य अनुबन्ध (सम्बद्धता) है। मन से नित्य सम्बद्ध सर्व योनियों में व्याप्त आत्मा को भी एक योनि में अवस्थित समझना चाहिए।

आदिर्नास्त्यात्मनः[2] क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्।
अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते।। (च.शा. १.८२)

'आत्मा और क्षेत्र में पहले किसकी उत्पत्ति?' (च.शा. १.८) प्रश्न का उत्तर- आत्मा का आदि (उत्पत्ति) नहीं है, क्षेत्रपरम्परा (अव्यक्तवर्जित महदादि २३ तत्त्वों की परम्परा, च.शा १.६५) भी अनादि होती है अत: दोनों के अनादि होने से पहले कौन था यह नहीं कहा जा सकता।

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः।। (च.शा. १.८३)

'साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते?' (च.शा. १.१०) प्रश्न का उत्तर- ज्ञानवान् को साक्षी कहा जाता है, पाषाणादि अज्ञ को नहीं अत: आत्मा को ही साक्षी कहा गया है, निश्चय ही सभी

---

१. देहनिर्वर्तकेन कर्मणा अनुपात आत्मनि संबंधो यस्य (मनसः), तेन।(चक्रपाणिः)
२.'अनादिरात्मा क्षेत्रस्य पारम्पर्यमनादिकम्' इति पाठभेदः।

भूतों (आकाशादि पञ्चभूतों) के सभी भाव (भूतों के दर्शनयोग्य धर्म) आत्मा की साक्षी वाले होते हैं।

नैकः कदाचिद्भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते।
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते।। (च.शा. १.८४)

'स्यात् कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः?' (च.शा. १.१०) प्रश्न का उत्तर-भूतात्मा (भूतों का अधिष्ठाता आत्मा) महाभूतों से रहित अकेला (एकः) प्राणोपानादि लक्षणों से कभी भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। जिसका लक्षणों से ज्ञान नहीं होता, उस भूतरहित अकेले आत्मा के सुख-दुःखादि विशेष लक्षण नहीं होते।

संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः।
वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः।। (च.शा. १.८५)

पुत्रादिज्ञानरूप हर्षादिवेदनाकृत विशेष लक्षण संयोगपुरुष (राशिपुरुष) में ही अभीष्ट होते हैं, जिस बुद्ध्यादि संघात में सुख-दुःखरूप वेदनाएँ नियत (व्यवस्थित, निश्चित) हैं, उसी में वेदनाजनित (दैन्यहर्षादि) विशेष भी नियत हैं, न कि केवल आत्मा में।

चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति।
यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम्।। (च.शा. १.८६)

'अथ चार्त्तस्य भगवंस्तिसृणां?' (च.शा.१.११-१२) प्रश्न का उत्तर-भिषक् (वैद्य) तीनों कालों में होने वाली दुःखरूप वेदनाओं की चिकित्सा करता है। इस विषय में कुछ आचार्य जिस युक्ति से (चिकित्सा) कहते हैं वह युक्ति आपके द्वारा धारण की जाये।

पुनस्तच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः।
पुनः स कासो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता।। (च.शा. १.८७)
एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम्।
कालश्चायमतीतानामर्तीनां पुनरागतः।। (च.शा. १.८८)

तमर्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत् प्रयुज्यते।
अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते।। (च.शा. १.८९)

अतीतकाल की पीड़ा की चिकित्सा में युक्ति- प्राय: लोकव्यवहार में यह सुनने में आता है कि फिर से वह सिरदर्द आ गया, वह ज्वर (बुखार) फिर से हो गया है, वही बड़ी भयंकर खाँसी फिर से हो गयी और वमन (उल्टियाँ) फिर से होने लगी हैं। लोगों के इस प्रकार से कहने को भूत काल की वेदना (पीड़ा, कष्ट) या किसी रोग का फिर से लौटकर आना कहा जाता है। यह भी सुनने में आता है कि जो पीड़ाएं पहले कभी हुईं थीं, जो रोग पहले कभी हुए थे, उनका (अर्त्तीनाम्) फिर से आने का समय आ गया है। उस पीड़ाकाल को उद्देश्य करके या लक्ष्य में रखकर जिन ओषधियों को उपयोग में लाया जाता है, उसी को अतीतकाल की पीड़ाओं की चिकित्सा कहा जाता है।

आपस्ता: पुनरागुर्मा याभि: शस्यं पुरा हतम्।
यथा प्रक्रियते सेतु: प्रतिकर्म तथाश्रये।। (च.शा. १.९०)
पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम्।
या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम्।। (च.शा. १.९१)

भविष्यत्कालीन रोग की चिकित्सा में युक्ति- जैसे किसी किसान को भय रहता है कि अधिक वर्षा के कारण जल का प्रवाह पुन: बढ़ न जाए, जैसे पिछले वर्ष हुआ था और खेती बर्बाद हो गयी थी, उसी जल के प्रवाह को रोकने के लिए वह पहले ही खेत में पक्के मेड़ या बाँध बना लेता है। ऐसे ही शरीर में (आश्रये) रोगों के पूर्वानुमान से चिकित्सा (प्रतिकर्म) की जाती है। ऐसे होने वाले रोगों के पहले रूप को देखकर जिस चिकित्सा (प्रतिकर्म) का प्रयोग किया जाता है वह आगे भविष्यकाल में होने वाली पीड़ा या वेदना का नाश करती है।

पारम्पर्यानुबन्धस्तु दु:खानां विनिवर्तते।
सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते।। (च.शा. १.९२)
न समा यान्ति वैषम्यं विषमा: समतां न च।
हेतुभि: सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातव:[१] **।।** (च.शा. १.९३)
युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्।
हन्तीत्युक्तं, चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्।। (च.शा.१.९४)

वर्तमानकालीन रोगों की चिकित्सा की युक्ति- आरोग्यहेतु चिकित्सा के सेवन से दु:खों = रोगों का क्रम नष्ट हो जाता है और सुख (आरोग्य) मिलने लगता है। सम धातुएँ बिना किसी कारण के विषमता को प्राप्त नहीं होतीं और विषम धातुएँ सम नहीं होतीं। निरन्तर आरोग्य के कारणों का सेवन करते रहने से हेतु के अनुरूप धातुओं की परम्परा चल पड़ती है और शरीर आरोग्यमय रहता है। इस युक्ति को चिकित्सक अपने सम्मुख रखकर तीनों कालों की वेदनाओं (पीड़ाओं) को नष्ट करता है। उपधा (तृष्णा/धनलोभ) के बिना निष्कामभाव से वैद्य के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह वैद्य के लिए नैष्ठिकी (मोक्षफलप्रदा) होती है।

दु:खों का कारण (तृष्णा)

उपधा हि परो हेतुर्दु:खदु:खाश्रयप्रद:।
त्याग: सर्वोपधानां च सर्वदु:खव्यपोहक:।।
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्[२] **।**
उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञ: सदातुर:[३] **।।**

---

१. उक्तं हि - सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृतिरुभयस्य तु ।। (च.सू. १.४४)

२. 'वधावहान्' इति पाठभेद:।

३. सदा संसारदु:खगृहीत:। (चक्रपाणि:)

यस्त्वग्निकल्पानर्थाञ्ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
अनारम्भादसंयोगात्तं दु:खं नोपतिष्ठते।। (च.शा. १.९५-९७)

दु:खों का कारण उपधा- उपधा (तृष्णा) को ही दु:ख और दु:खाश्रय (शरीर), इन दोनों की ही उत्पत्ति का मूल कारण माना जाता है इसलिए सभी प्रकार की तृष्णा (मोह, राग, द्वेषादि) के त्याग से ही सभी दु:खों और रोगों का विनाश सम्भव है। जैसे रेशम का कीट अपने विनाश करने वाले तन्तुओं का स्वयं ही निर्माण करता है, वैसे ही अज्ञान में डूबा हुआ सदा संसार के दु:खों से आक्रान्त व्यक्ति भी इन्द्रियविषयों के निमित्त से उनमें अपनी तृष्णा उत्पन्न कर लेता है और विनाश को प्राप्त होता है। जैसे अग्नि जला देती है, नष्ट कर देती है या झुलसा देती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष विषयों को अग्नितुल्य जानकर उनसे किनारा कर लेते हैं, विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार राग-द्वेषपूर्वक कार्यों का आरम्भ न होने से (अनारम्भात्), उसके कारण धर्माधर्म का उच्छेद हो जाने से परिणामत: आत्मा का शरीर से संयोग न होने से (असंयोगात्) ज्ञानी पुरुष को दु:ख प्राप्त नहीं होता है।

प्रज्ञापराध दु:ख का कारण

धीधृतिस्मृतिविभ्रंश: सम्प्राप्ति:[१] **कालकर्मणाम्।**
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दु:खहेतव:।। (च.शा. १.९८)

धी (बुद्धि), धृति (मन की नियन्त्रणशक्ति/कण्ट्रोलिंग पावर) एवं स्मृति का विभ्रंश, कालसम्प्राप्ति, कर्मसम्प्राप्ति अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये शुभाशुभ कर्मों का परिपाक होना, असात्म्यार्थागम अर्थात् इन्द्रियों का विषयों के साथ अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग का होना- इन सभी

१. कालसम्प्राप्तिरित्यनेन न कालजन्या गदा उच्यन्ते, किं तु कालव्यञ्ज्या:।
(चक्रपाणि:)

को दु:ख का हेतु जानना चहिए। **विशेष-** 'कालसम्प्राप्ति' का तात्पर्य है-परिणमनशील काल का शरीर की अग्नि व दोषों पर प्रभाव पड़ना। काल के दो भेद हैं (१) नित्य (२) आवसथिक। दिन-रात तथा ऋतुओं के रूप में जो काल व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होता है उससे आरोग्य व रोग का आना-जाना बना रहता है। कालसम्प्राप्ति एक अर्थ में मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर है। जो लोग उचित आहार-विहार, निद्रा व पवित्रतापूर्वक सहज जीवन जीते हैं, उनके शरीर में रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है अत: वे काल व साथ में देश के बाह्य परिणाम से प्रभावित नहीं होते। काल के अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग भी अपने स्वाभाविक क्रम में चलते रहते हैं। जैसे- ठण्ड में अधिक ठण्ड का होना या ठण्ड में सर्वथा ठण्ड न होना अथवा ठण्ड में वर्षा का होना। ऐसा होने से लोगों की जठराग्नि और दोष प्रभावित होते हैं। इस प्रकार कालसम्प्राप्ति को दु:ख (रोग) का हेतु माना गया है। जो लोग कालसम्प्राप्ति से होने वाली बाधा को रोकने के लिए ऋतुचर्या-दिनचर्या का ठीक से पालन करते हैं तथा विषमाशन व अध्यशन तथा विरुद्ध आहार-विहार से अपने को बचाकर रखते हैं, वे कालसम्प्राप्ति से कम बाधित होते हैं।

बुद्धिविभ्रंश के लक्षण

विषमाभिनिवेशो[1] यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति।। (च.शा. १.९९)

नित्य में अनित्य और अनित्य में नित्य, हित में अहित और अहित में हित देखना ही विषमाभिनिवेश (अयथाभूतत्वेन निश्चय) है, यह विषमाभिनिवेश ही बुद्धिभ्रंश कहलाता है। यदि कोई यह पूछे कि यह बुद्धिविभ्रंश कैसे है? तो इसके उत्तर में यही कहना होगा कि बुद्धि सर्वदा

१. विषमाभिनिवेश: अयथाभूतत्वेनाध्यवसानं नित्येऽनित्यमिति। (आयुर्वेददीपिका)

सम ही देखती है, बुद्धि की यह योग्यता है कि जो चीज जैसी है उसको वैसा देखे, किन्तु बुद्धि अपनी इस योग्यता का निर्वाह ठीक से नहीं कर पा रही हो तो इस असमदर्शन को 'बुद्धिविभ्रंश' कहते हैं।

धृतिविभ्रंश के लक्षण

विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका।। (च.शा. १.१००)

यदि धृतिविभ्रंश हो रहा है तो विषयों में डूबे हुए मन को अहित अर्थ से कभी भी रोका नहीं जा सकता; क्योंकि धृति ही तो नियन्त्रण करने वाली शक्ति है। मन व इन्द्रियों का नियन्त्रण करने रूप अपने कर्म से धृति जब भ्रष्ट हो जाती है तो उस स्थिति को 'धृतिभ्रंश' नाम से कहा जाता है।

स्मृतिभ्रंश का लक्षण

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्।।
(च.शा. १.१०१)

रजोगुण तथा मोह (तमोगुण) से आवृत आत्मा वाले मनुष्य की स्मृति तत्त्वज्ञान के विषय में भ्रष्ट हो जाती है, इसे ही स्मृतिभ्रंश कहते हैं; क्योंकि स्मर्तव्य विषय स्मृति में स्थित रहता है, स्मृति के अपराध से स्मर्तव्य विषय का विस्मरण हो जाता है।

प्रज्ञापराध

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्।। (च.शा. १.१०२)

धी, धृति और स्मृति से च्युत हुआ व्यक्ति जब कोई अशुभ कर्म करता है तो वात, पित्तादि सभी शारीरिक दोष और रजस्, तमस् नामक मानस दोष प्रकुपित हो जाते हैं, यही 'प्रज्ञापराध' है।

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम्।।
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम्।।
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम्।।
अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्।।
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद् देहकर्म च।।
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्।। (च.शा.१.१०३-१०८)

बाहर की ओर स्वयं गति करने वाले मलादि वेगों को प्रयत्नपूर्वक बाहर की ओर प्रेरित करना, उदीर्ण (प्रवृत्त्युन्मुख) वेगों को रोकना, साहसिक कार्यों का सेवन, स्त्रियों का अतिसेवन, चिकित्सारूप कर्म के काल का अतिक्रमण, चिकित्सीय कर्मों (वमनादि) का अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग का होना, विनय और सदाचार का लोप, पूजनीयों का अपमान, स्वयं के द्वारा ज्ञात अहितकर पदार्थों का सेवन, अत्यधिक उन्माद को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का सेवन, असमय (मध्यरात्रि आदि) में अदेश (श्मशान आदि) में विचरण, संक्लिष्ट कर्म (पतित कर्म) करने वालों के साथ मैत्री, इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (च० सू०-८) में कहे गये सद्वृत्त का पालन न करना, ईर्ष्या, अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद, भ्रम आदि का होना तथा इनसे युक्त होकर निन्दित कर्म करना अथवा कोई अनुचित शारीरिक चेष्टा करना, इसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुण के कारण से किये जाने वाले अन्य कर्मों को भी शिष्ट लोग 'प्रज्ञापराध' कहते हैं, जो समस्त व्याधियों का कारण है।

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्।। (च.शा. १.१०९)

बुद्धि से विषम देखना, जो जैसा है उसे वैसा न देख पाना और फिर गलत समझ के कारण गलत प्रवृत्ति का होना, गलत आचरण करना ही प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध मन के क्षेत्र में आता है अर्थात् मन के द्वारा ही इसे देखा जा सकता है।

मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या।। (च.शा. १.१११)
पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये।
एषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः।। (च.शा. १.११२)

(विशिष्ट कालों में होने वाले रोग- ऋतुओं की विकृति, अन्नकाल, दिन और रात्रि के प्रहर, याम) शरद् ऋतु से वर्षा ऋतुपर्यन्त छः ऋतुओं का मिथ्यायोग, अतियोग व हीनयोग, अन्न के पाचनकाल (प्रजीर्ण/ पच्यमान काल) में पित्त, भोजनोपरान्त काल (भुक्तकाल) में कफ तथा अन्न के पूर्णपचनकाल (जीर्णकाल) में वातप्रकोप से रोग उत्पन्न होते हैं। अकालस्थिति अर्थात् अजीर्णादि अवस्था में त्रिदोष प्रकुपित होने के कारण रोग होते हैं। दिन के पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण में तथा रात्रि के तीन यामों में पहले में कफ, द्वितीय में पित्त तथा तृतीय में वात का प्रकोप होता है। इन कालों में वात, पित्त व कफ के प्रकुपित होने से नियतरूप से होने वाले रोग 'कालज' कहलाते हैं।

अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ।
स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले ह्येषां बलागमः।। (च.शा. १.११३)

निश्चित कालों में होने वाले विषम ज्वर होते हैं अतः ये रोग भी 'कालज' कहलाते हैं। अन्येद्युष्क प्रति चौबीस घण्टों में एक बार होता है।

द्व्यहग्राही जो लगातार दो दिन रहता है, तृतीयक तीसरे दिन होता है तथा चतुर्थक चौथे दिन होता है। ये सभी क्योंकि अपने-अपने कालों में बलवान् होते हैं अत: उस-उस अपने काल में प्रवृत्त होते रहते हैं।

एते चान्ये च ये केचित् कालजा विविधा गदा:।
अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता।। (च.शा. १.११४)

रोग के बल तथा काल के ज्ञाता वैद्य को ध्यान देना चाहिए कि उपर्युक्त बताए गए कालज व अन्य रोगों की चिकित्सा-व्यवस्था उनके आने से पहले ही करे।

कालस्य[१] परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजा:।
रोगा: स्वाभाविका दृष्टा: स्वभावो निष्प्रतिक्रिय:।।
(च.शा. १.११५)

काल के परिणाम से जरा एवं मृत्यु के निमित्त से उत्पन्न रोग स्वाभाविक होते हैं। स्वभाव का प्रतिकार नहीं हो सकता।

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन[२] रोगाणामुपलभ्यते।। (च.शा. १.११६)

पूर्वजन्म के देह द्वारा किया गया कर्म 'दैव' कहा जाता है। वह जब परिपाक को प्राप्त होता है तब वह भी देह में रोगों की उत्पत्ति का हेतु होता है।

न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्ना:[३] कर्मजा रोगा: प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ।।
(च.शा.१.११७)

बड़ा कर्म ऐसा काई भी नहीं है, जिसका फल न भोगना पड़े अर्थात् छोटे-छोटे कर्मों को तो प्रायश्चित्त आदि के द्वारा हटाया जा सकता है। वे

---

१. अतीतादिव्यवहारहेतु: काल:। स चैको विभुर्नित्यश्च। (तर्क.सं.)
२. पच्यमानतालक्षितेन कालेन (युक्तं सत्) कर्म कारणं भवतीत्यर्थ:। (चक्रपाणि:)
३. क्रियां (चिकित्सां) घ्नन्तीति क्रियाघ्ना:।

कर्म से उत्पन्न रोग क्रिया (चिकित्सा) के विनाशक होते हैं, अत: कर्मज रोगों का शमन उनके फल भोगने के उपरान्त (तत्क्षयात्) होता है।

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च।
शब्दानां चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडा:[१]।। (च.शा. १.११८)
परुषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकै:।
शब्दै: श्रवणसंयोगो मिथ्यासंयोग उच्यते।। (च.शा. १.११९)

शब्द[२] विषयक अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग- बहुत भयंकर, ऊँचे शब्दों का श्रवण शब्द का 'अतियोग' कहलाता है तथा सर्वथा न सुनना (अश्रवण) अथवा बहुत धीमे स्वरों वाले शब्दों का श्रवण शब्दों का 'अयोग ' कहलाता है- ये दोनों योग श्रवणशक्ति को नष्ट करते हैं। कठोर, भीषण, अशुभ, अप्रिय तथा मृत्यु और संकट आदि के सूचक शब्दों का श्रवण शब्दों का 'मिथ्यायोग' कहलाता है। मिथ्यायोग भी श्रवणशक्ति को नष्ट करता है।

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च।
स्पृश्यानां संग्रहेणोक्त: स्पर्शनेन्द्रियबाधक:।। (च.शा. १.१२०)
यो भूतविषवातानामकालेनागतश्च य:।
स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोग: स उच्यते।। (च.शा. १.१२१)

स्पर्श[३] का अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग- स्पर्शयोग्य अभ्यङ्ग, उत्सादनादि पदार्थों का स्पर्श न करना असंस्पर्श या 'अयोग' कहलाता है तथा उन्हीं स्पृश्य विषयों का अधिक स्पर्श करना अतिसंस्पर्श या 'अतियोग' कहलाता है। ये दोनों 'हीनस्पर्श' भी कहलाते हैं। संक्षेप से यह स्पर्शेन्द्रिय के बाधक अतियोग व अयोग का वर्णन हुआ। भूत और

१. कर्णा इति शेष:।
२. श्रोत्रग्राह्यो गुण: शब्द:। (तर्क.सं.)
३. त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुण: स्पर्श:। (तर्क.सं.)

विषयुक्त वायु का स्पर्श तथा अकालप्राप्त स्नेह, शीत व उष्ण पदार्थों का स्पर्श 'मिथ्यायोग' कहलाता है अर्थात् स्नेहन के लिए अनुपयुक्त अजीर्ण अथवा कफ वृद्धि काल में स्नेह का स्पर्श, शीतकाल में शीतस्पर्श तथा उष्णकाल में उष्णस्पर्श स्पर्शेन्द्रिय का विघातक है।

रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यत्यतिदर्शनात्।
दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात्।। (च.शा. १.१२२)
द्विष्टभैरवबीभत्सदूरातिश्लिष्टदर्शनात्।
तामसानां च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते।। (च.शा. १.१२३)

रूप[1] का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग- अधिक कान्ति वाले रूपों को देखना रूप का 'अतियोग' कहलाता है तथा अतिसूक्ष्म पदार्थों को देखना और कांति वाले पदार्थों को सर्वथा न देखना रूप का 'अयोग' कहलाता है। अप्रीतियुक्त, भयानक व घृणाजनक रूपों को देखना, दूर तथा अतिनिकट के पदार्थों को देखना तथा अश्लील तामस रूपों को देखना रूप का 'मिथ्यायोग' कहलाता है। ये तीनों ही दृष्टि की शक्ति को क्षीण कर देते हैं।

अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत्।
रसानां विषमादानमल्पादानं च दूषणम्।। (च.शा. १.१२४)

रस[2] का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग- रसों में किसी रस का अधिक सेवन करना रस का अतियोग कहलाता है तथा किसी रस का अल्पसेवन करना या एकदम न करना रस का 'अयोग' कहलाता है। अभ्यास-सात्म्य के विरुद्ध विषम रूपों में रसों का सेवन करना 'मिथ्यायोग' कहलाता है। जैसे- दक्षिण के लोगों के लिए इमली का प्रयोग ओक-सात्म्य

१. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। (तर्क.सं.)
२. रसग्राह्यो गुणो रसः। (तर्क.सं.)

है उससे विपरीत रस का सेवन रस का 'मिथ्यायोग' कहलाएगा। रस के ये तीनों योग देह के लिए हानिकारक होते हैं।

अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम्।
असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम्।। (च.शा. १.१२५)
पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्तवाः।
तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते।। (च.शा. १.१२६)

गन्ध[१] का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग- अत्यन्त मृदु गन्धों को सूँघना या बिल्कुल न सूँघना गन्ध का 'अयोग' कहलाता है। अत्यन्त तीक्ष्ण, तेज गन्धों को सूँघना गन्ध का 'अतियोग' है तथा सड़े हुए पदार्थों की गन्ध, भूतों की गन्ध, हानिकारक व विषैली गैसों की गन्ध, उद्वेजक गन्ध, अकाल में उत्पन्न गन्ध (अनार्तवाः), गन्ध का 'मिथ्यायोग' कहलाता है। ये तीनों गन्ध घ्राणशक्ति को क्षीण कर देते हैं।

इत्यसात्म्यार्थसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपनः।
असात्म्यमिति तद्विद्याद्यन्न याति सहात्मताम्।। (च.शा. १.१२७)

इन्द्रिय-विषयों के साथ तीन प्रकार के असात्म्यार्थसंयोग- अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग-यह तीन प्रकार का असात्म्यार्थसंयोग है तथा दोषों को कुपित करने वाला है। 'असात्म्य[२]' उसको जानना चाहिए जो शरीर के साथ मिलकर आत्मसात् नहीं होता। भाव यह है कि जो उपयोग करने पर प्राकृतस्वरूप=स्वाभाविक स्वरूप का उपघातक होता है, वह 'असात्म्य' होता है।

ऐन्द्रियक व्याधि

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते।
शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः।। (च.शा. १.१२८)

१. घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। (तर्क.सं.)
२. सहेति मिलितं शरीरेण आत्मताम् अविकृतरूपतां न याति; एतेन यदुपयुक्तं प्राकृतरूपोपघातकं भवति, तदसात्म्यमिति। (चक्रपाणिः)

शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों के मिथ्यायोग, अतियोग व हीनयोग (अयोग) से जो व्याधि उत्पन्न होती है, उसे विद्वानों को ऐन्द्रियक व्याधि जानना चाहिए।

वेदनाओं के कारण

वेदनानामशान्तानामित्येते हेतवः स्मृताः।
सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोग[१]ः सुदुर्लभ[२]ः।। (च.शा. १.१२९)
नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः।। (च.शा. १.१३०)
सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक्।
न सुखं, कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः।। (च.शा. १.१३१)

इस प्रकार प्रज्ञापराध, ऋत्वादि के रूप में परिणमशील काल, कर्म की सम्प्राप्ति एवं असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग- ये सभी दुःखरूप वेदनाओं (अशान्तानां वेदनानाम्) के कारण कहे गए हैं। सुखात्मक वेदानाओं का कारण एक समयोग ही है, परन्तु वह अत्यन्त दुर्लभ है।

चतुर्विध योग सुख[३]-दुःख[४] के कारण- न इन्द्रियाँ, न इन्द्रियों के अर्थ सुख-दुःख के कारण होते हैं अपितु सुख-दुःख का कारण चतुर्विध योग को माना गया है। सुख का कारण समयोग है। दुःख का कारण अयोग, अतियोग व मिथ्यायोग है। इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों के अर्थ (विषय) भी हैं, परन्तु जब योग (चतुर्विध) नहीं है तो न रोगादिरूप दुःख हैं और न ही सुख है अतः चतुर्विध योग ही सुख-दुःख का कारण है।

---

१. समयोग इति कालबुद्धीन्द्रियार्थानां सम्यग्योगः।
२. सुदुर्लभ इति कालादिसम्यग्योगस्य अयोगादिविरहत्वेन सुदुर्लभत्वात्।
(च.शा.१.१२३, चक्रपाणिः)
३. सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्। (तर्क.सं.)
४. प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्। (तर्क.सं.)

नात्मेन्द्रियमनोबुद्धिगोचरं[१] कर्म वा विना।
सुखदु:खं, यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते[२]।। (च.शा. १.१३२)

आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इन्द्रियार्थ (गोचर) तथा अदृष्ट (कर्म) के बिना सुख-दु:ख नहीं होते हैं, सुख-दु:ख जिस प्रकार अनुभव में आते हैं (यथावच्च बोद्धव्यम्), वे उसी प्रकार से कहे जा रहे हैं।

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श: स्पर्शो मानस एव च।
द्विविध: सुखदु:खानां वेदनानां प्रवर्तक:।। (च.शा. १.१३३)

द्विविध स्पर्श सुख-दु:ख का कारण- इन्द्रियों का संस्पर्श और मानस संस्पर्श-ये दो प्रकार के स्पर्श हैं। ये ही सुख-दु:खरूप वेदनाओं के कारण हैं। पदार्थों का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध स्पर्शनेन्द्रियजनित ही होता है। जैसे चक्षु आदि में प्रकाश आदि का स्पर्श होने पर ही वे इन्द्रियाँ विषयों का ज्ञान कराती हैं; क्योंकि यदि इन्द्रियाँ बिना स्पर्श के ही अपने ग्राह्य विषयों का ज्ञान कर लें तो इन्द्रियों को उन्हें दूर से ही जान लेना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता अत: इन्द्रियग्राह्य ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय के स्पर्श से होकर सुख-दु:ख को जन्म देता है। चिन्त्य विषय के साथ मन का सम्बन्ध मानस-स्पर्श कहलाता है। मन के द्वारा जिस विषय का स्पर्श किया जाता है, मन उसी विषय को ग्रहण करता है न कि एक साथ सब विषयों को। इस प्रकार ये दोनों ही स्पर्श सुख-दु:ख के हेतु हैं।

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदु:खात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदु:खानां कारणं पुनरुच्यते।। (च.शा. १.१३४)
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसञ्ज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदना:।। (च.शा. १.१३५)

---

१. 'नात्मेन्द्रियं मनो बुद्धिं गोचरम्' इति पाठभेद:।
२. यद् बोद्धव्यं सुख-दु:खं यथा बोद्धव्यं कार्यवशात् भवति, तत्तथैवोच्यते नान्यथा।

सुख-दु:ख का मूल कारण तृष्णा- इच्छा (राग[१]) व द्वेष[२] ही स्वरूप है जिसका, ऐसी यह 'तृष्णा' सुख व दु:खरूप हेतु से प्रवृत्त होती है। यह तृष्णा ईप्सित (अभीष्ट) विषयों में प्रवृत्ति (राग) कराती है तथा द्विष्ट विषयों से निवृत्ति (द्वेष) कराती है, इस प्रकार विषयों में प्रवृत्ति व विषयों से निवृत्ति को कारण बनाकर तृष्णा ही सुख-दु:ख का कारण बनती है।

वेदनाओं की अनुभूति तृष्णा द्वारा- तृष्णा वेदना के आश्रय, वेदना के कारणरूप से कहे गए काल, प्रज्ञापराध, ऋत्वादि रूप में परिणमनशील काल, कर्मसंप्राप्ति, अतियोग-अयोग-मिथ्यायोग आदि भावों का सहारा लेकर प्रवृत्त होती है। यदि कोई कहे कि जब तृष्णा ही दु:ख का कारण है तो इन्द्रिय व अर्थ (विषय) को कारण क्यों बताया जाता है। इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों के समक्ष उनके विषय नहीं हैं तो इन्द्रियों का उनके साथ सम्बन्ध न होने से वे किस का स्पर्श करेंगी[३] अर्थ के स्पर्श से शून्य व्यक्ति (अस्पृष्ट:) किसी भी वेदना का अनुभव नहीं कर सकता।

वेदना के स्थान

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रिय:।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना।। (च.शा. १.१३६)

वेदनाओं के अधिष्ठान- मन, शरीर, इन्द्रियाँ वेदनाओं के अधिष्ठान हैं। केश, लोम, नखाग्र, अन्न का मल, द्रव (मूत्र), शब्दादि गुण वेदनाओं के अधिष्ठान नहीं हैं।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्नि:शेषा योगो मोक्षप्रवर्तक:।। (च.शा. १.१३७)

---

१. सुखानुशयी राग: (योग.द.)
२. दु:खानुशयी द्वेष:। (योग.द.)
३. अनुपादाने = अविद्यमानार्थरूपे स्पर्शकारणे सतीन्द्रियै: विषय:= अर्थो न स्पृश्यते अर्थादर्थं विना नार्थस्य स्पर्शो भवति। (चक्रपाणि:)

मोक्ष का प्रवर्तक योग- योग तथा मोक्ष[१] में सभी प्रकार की वेदनाओं की निवृत्ति हो जाती है, मोक्ष में सम्पूर्णरूप से वेदनाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा योग ही मोक्ष का प्रवर्तक है, मोक्ष दिलाने वाला है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदु:खमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे।। (च.शा. १.१३८)
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदु:।। (च.शा. १.१.३९)

योग का परिचय[२]- आत्मा, इन्द्रिय व मन का जब अर्थों (विषयों) के साथ सन्निकर्ष होता है, तब सुख-दु:ख उत्पन्न होते हैं। जब आत्मा में मन समाधिस्थ हो जाता है तब अनारम्भ के कारण (मन के द्वारा विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति न होने पर) सुख-दु:ख दोनों निवृत्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य शरीरसहित मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतया अपने वश में कर लेता है, योगशास्त्र ज्ञाता ऋषि इसे ही 'योग' कहते है।

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दत: क्रिया।
दृष्टि: श्रोत्रं स्मृति: कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्।। (च.शा. १.१४०)

---

१. मोक्ष आत्यन्तिकशरीराद्युच्छेद:। (च. सू., शा. १.१३७, चक्रपाणि:)
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: (योग द.१.१)
योग: समाधि:। (योग द. १.१ व्यासभाष्य)
योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्चते।। (गीता २.४८)
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। (कठ उ.२.३.११)
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते ।। (गीता ६.२२)
तं विद्यात् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्जितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (गीता ६.२३)

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते।। (च.शा. १.१४१)

योगियों के अष्टविध ऐश्वर बल- १. आवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति)[१] २. दूसरे के चित्त (मन) की बात जान लेना[२] ३.शब्दादि विषयों को इच्छानुसार उपस्थित कर देना[३] ४. अतीन्द्रिय (परोक्ष) वस्तुओं को देखना[४] ५.अतीन्द्रिय (परोक्ष) शब्दों को सुनना[५] ६. स्मृति से सम्पन्न होना ७. अलौकिक कान्ति[६] ८. अपनी इच्छा से अदृश्य तथा प्रकट हो जाना[७]- ये आठ प्रकार के ऐश्वर-बल योगियों को प्राप्त होते हैं। रज व तम से रहित शुद्ध सत्त्व का अपने में समाधान (सम्यक् आधान) करने से पूर्वोक्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

आत्मा का बन्धन

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः।।
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म।।
(च.शा. २.३७-३८)

आत्मा सदा किन भावों से बँधा रहता है- आत्मा कारणभूत बीजधर्म वाले अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की पहुँच से बाहर) अतिसूक्ष्म चारों

---

१. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। (योग द. ३.३७)
२. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। (योग द. ३.१९)
३. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। (योग द. ३.४४)
४. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। (योग द. ३.२५)
५. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। (योग द. ३.४१)
६. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्। (योग द. ३.४६)
७. कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्। (योग द. ३.२१)

महाभूतों[१] से कभी पृथक् नहीं होता है (सदैव जुड़ा रहता है)। आत्मा कर्म, मन, बुद्धि एवं अहंकार के विकाररूप दोषों से कभी भी अलग नहीं होता है। मन रजस् और तमस् दोषों से अनुबद्ध (बँधा) रहता है जिससे कर्मों का निरन्तर बन्धन रहता है; क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना मन को सभी प्रकार के दोष एवं विकार आच्छादित किये रहते हैं। मन का सदोष रहना तथा नियत विपाक वाले बलवान् कर्म - ये दोनों देहान्तर-धारण में और शुभाशुभ-प्रवृत्ति में (गतिप्रवृत्योः) कारण होते हैं।

मोक्ष के लक्षण

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।। (च.शा. १.१४२)

मोक्ष[२] की परिभाषा- रजोगुण तथा तमोगुण का सर्वथा अभाव हो जाने से, जिनका फल अवश्य ही भोक्तव्य है ऐसे बलवान् कर्मों का क्षय हो जाने से[३], सभी सम्बन्धों (शरीर, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि) से वियोग होने की स्थिति 'अपुनर्भव' अथवा 'मोक्ष' कहलाती है।

मोक्षमार्ग

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः।।
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः।।
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः।
नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम्।।

---

१. उक्तं हि भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैः०। (च.शा.२.३१)
२. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (योग द. ४.३४)
३. बलवत्कर्मसंक्षयादिति अवश्यभोक्तव्यफलस्य कर्मणः क्षयात्। (चक्रपाणिः)

मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते।। (च.शा. १.१४३-१४६)

मोक्ष के उपाय[१]- सज्जन पुरुषों की अच्छे प्रकार से सेवा-शुश्रूषा व संगति तथा असज्जन पुरुषों का अच्छे प्रकार से परित्याग, व्रत, ब्रह्मचर्य, उपवास (पाप से निवृत्त होकर सद्गुणों से अनुराग करना तथा कोई ऐसा कर्म न करना जिससे शरीर का शोषण हो) तथा नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का पालन करना, धर्मशास्त्रों का धारण (स्मृति में रखना) तथा उनका अभ्यास करना, प्रमाणों द्वारा सिद्ध सत्यज्ञान प्राप्त करना, एकान्त स्थान में (सच्चिदानन्द में) रत रहना तथा काम आदि विषयों से अरति (अनासक्ति) रखना, मोक्ष प्राप्ति में सदा उद्यमशील रहना, मन का विशेषरूप से नियमन[२](परा धृतिः), धर्म तथा अधर्म के साधनभूत कर्मों को अपनी कामना पूर्ति के लिए न करना[३] तथा किये हुए कर्मों का फलभोग द्वारा क्षय होना, सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा (नैष्क्रम्यं). यदि 'नैष्कर्म्यम्' पाठ है तो उस पक्ष में भी अर्थ वही रहेगा (exemption from acts or their concequences) अर्थात् सभी सकाम कर्मों का त्याग तथा अहंकार न करना, आत्मा के साथ शरीर, मन, बुद्धि व इन्द्रियों के संयोग में भय देखना, मन-बुद्धि को (आत्मा में) समाधिस्थ करना, अर्थतत्त्व (यथार्थज्ञान) का परीक्षण करना- ये सभी तत्त्वस्मृति[४] से होते हैं।

---

१. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (योग द. ३.५०)
२. परा धृतिरिति अतिशयितं मनोनियमनम्। (चक्रपाणिः)
३. कर्मणामसमारम्भ इति अनागतधर्माधर्मसाधनानामकरणम्। (चक्रपाणिः)
४. तत्त्वस्मृतिः आत्मादीनां यथाभूतानुस्मरणं, सा च नात्मा शरीराद्युपकार्यः, शरीरादयश्चामी आत्मव्यतिरिक्ताः इत्यादिस्मरणरूपस्मृतिः। (चक्रपाणिः)

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन्दुःखात् प्रमुच्यते।। (च.शा.१.१४७)

तत्त्वस्मृति से दुःख की मुक्ति- पूर्व में बताये गये सत्पुरुषसेवा से धृतिपर्यन्त नियमों के पालन करने से तत्त्वस्मृति उत्पन्न होती है, उससे सभी भावों (सांसारिक वस्तुओं) के स्वभाव (नश्वरता) की स्मृति करते हुए योगी सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्।। (च.शा. १.१४८)
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्।

लौकिक स्मृतिजनक आठ कारण- स्मृति को उत्पन्न करने वाले आठ कारण कहे जा रहे हैं- १. निमित्तज्ञान[1] (कारण का ज्ञान) २. रूपग्रहण[2] ३. सादृश्य[3] ४. विपर्यय[4] (विपरीतता) ५. सत्त्व (मन) की एकाग्रता ६. अभ्यास[5] (निरन्तरता) ७. ज्ञानयोग (तत्त्वज्ञान द्वारा पदार्थों का स्मरण) और ८. सुने हुए विषय के विस्मृत हो जाने पर पुनः एकदेश सुनकर स्मरण आ जाना- ये आठ कारण स्मृति को उत्पन्न करते हैं।

दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते।। (च.शा. १.१४९)

स्मृति[6] का लक्षण- दृष्टविषयों, श्रुतविषयों तथा अनुभूत विषयों का स्मरण हो आना 'स्मृति' कही जाती है। सार यह है- प्रत्यक्ष देखकर या सुनकर अनुभव किए विषय का स्मरण ही 'स्मृति' है।

---

१. निमित्तग्रहणं कारणज्ञानं, कारणं हि दृष्ट्वा कार्यं स्मरति।
२. रूपग्रहणम् आकारग्रहणम्। जैसे वन में गवय को देखकर गाय का स्मरण।
३. जैसे पिता के सदृश पुरुष को देखकर पिता का स्मरण करना।
४. अत्यन्त कुरूप को देखकर उसके प्रतियोगी सुरूप का स्मरण।
५. अभ्यस्तमर्थमभ्यासबलादेव स्मरति।
६. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्क.सं.)

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः।। (च.शा. १.१५०)
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्।।(च.शा. १.१५१)

तत्त्वस्मृति मोक्षसाधिका- जीवन्मुक्त योगियों द्वारा तत्त्वस्मृतिबल को मोक्ष का एक सर्वोत्तम मार्ग बताया गया है, जिस मार्ग से गये हुए योगी पुनः इस जन्म-मरण रूपी दुःखचक्र में नहीं लौटकर आये। योगियों द्वारा इसी तत्त्वस्मृतिबल को योगप्राप्ति का साधन बतलाया है। गूढ़ धर्म के ज्ञाता (संख्यातः ज्ञातो धर्मो यैस्ते तथोक्ताः तैः) जीवन्मुक्त सांख्यों द्वारा भी इसी तत्त्वस्मृतिबल को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है।

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता।। (च.शा. १.१५२)
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।
नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते।। (च.शा. १.१५३)

सत्या-बुद्धि के उदय से मोक्ष- अब संक्षेप से संसारहेतु अज्ञान एवं मोक्षहेतु[1] सम्यग्ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं- जो भी किसी कारण से उत्पन्न होता है, वह अवश्य ही अनित्य व दुःखरूप होता है। वह परमार्थतः आत्मव्यतिरिक्त होता है। वह उदासीन आत्मा के द्वारा किया गया नहीं होता, किन्तु अज्ञानवश उस बुद्धि-शरीरादि में ममता (स्वता/मेरापन) मेरी बुद्धि, मेरा शरीर- ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है।

जब तक एक सत्या-बुद्धि उत्पन्न नहीं हो जाती, जिस सत्या-बुद्धि द्वारा यह अनुभव करता है कि न तो यह शरीरादि मैं हूँ और न ही ये मेरे हैं अर्थात् मुझ आत्मा का इस शरीरादि के साथ न तो भेदात्मक सम्बन्ध

१. सत्त्वं वृद्धं विशुद्धज्ञानजननाद् रजस्तमसी संसारकारणे विजित्य प्रकृतिपुरुष-विवेकज्ञानान्मोक्षमावहति। (चक्रपाणिः च.शा. १.३६)

है और न अभेदात्मक यह सब तो प्रकृति का ही प्रपञ्च है। ऐसा जानकर तत्त्वज्ञ व्यक्ति बुद्ध्यादि के साथ मैं-मेरारूप अभिमानात्मक सम्बन्ध त्याग देता है, 'मैं' और 'मेरा' के भाव से ऊपर उठ जाता है।

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
ससञ्ज्ञाज्ञानविज्ञाना[1] निवृत्तिं यान्त्यशेषतः।। (च.शा. १.१५४)

सर्ववेदनानिवृत्ति- जब पुरुष बन्धनजन्य कर्मों से विरत होकर सभी कारणसहित कर्मों का सम्पूर्णरूप से त्याग कर देता है और सदा सत्त्व में ही स्थित रहता है तथा समस्त विषय-वासनाएँ यथार्थज्ञान की अग्नि में नष्ट हो जाती हैं, उस चरमसंन्यास के प्राप्त होने पर सभी वेदनाएं समूल (बुद्ध्यादि कारणसहित) तथा निर्विकल्पक व सविकल्पक ज्ञान और विज्ञान (शास्त्रज्ञान तथा तत्त्वज्ञान) सहित अशेषरूप से (सम्पूर्णरूप से) निवृत्ति को प्राप्त हो जाती है, यही 'मोक्ष' की स्थिति है।

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा[2] नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते।।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति।। (च.शा. १.१५५)

सभी वेदनाएँ जब नष्ट हो जाती हैं तथा सबका सब ज्ञान व तत्त्वज्ञान भी विरत हो जाता है तब भूतात्मा (जीवात्मा) के परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा में एकाकार हो जाने से भूतात्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती अतः वह किसी भी उपाय व प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता। वह सभी भावों (बुद्धि, अहंकार आदि अष्ट प्रकृति तथा षोडश विकार) से मुक्त हो जाता है तथा

---

१. सञ्ज्ञा आलोचनं निर्विकल्पकं, ज्ञानं सविकल्पकं, विज्ञानं बुद्ध्यवसायः, किंवा सञ्ज्ञा नामोल्लेखेन ज्ञानं, विज्ञानं शास्त्रज्ञानम् । (चक्रपाणिः)

२. अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।
अस्मिन् मानवे श्लोकेऽपि 'भूतात्मा' इति शब्देन जीवात्मैव गृह्यते।

प्राण, अपान आदि लिङ्गों (चिह्नों) से भी मुक्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी महापुरुषों की परमगति ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म अक्षरस्वरूप है, ऐसा अनेक श्रुतियों से पता चलता है तथा उसका कोई लक्षण नहीं है। ब्रह्मज्ञानी ही केवल उसे जान सकते हैं, अहंकार से ग्रस्त अज्ञानी उसे जान सकने में असमर्थ होते हैं।

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः।
कतिधापुरुषीयेऽस्मिन्निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना।। (च.शा. १.१५६)

चरक संहिता के 'कतिधापुरुषीय' शारीर अध्याय में तत्त्वदर्शी भगवान् आत्रेय ने पुरुष को अधिकृत कर पूछे गये तेईस प्रश्नों का निर्णय किया है।

इसके अनन्तर चरकशारीरस्थान के द्वितीय अध्याय में जीव के जन्मग्रहण करने का प्रसंग है, वहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि स्त्री विकृत सन्तान को क्यों जन्म देती है? विकलाङ्ग या अधिकाङ्ग सन्तान का जन्म क्यों होता है, जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर को कैसे प्राप्त करता है तथा किन अनुबन्धों से युक्त रहता है? इनका उत्तर अग्रिम श्लोकों में दिया जा रहा है-

बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि।।
वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः।।

(च.शा. २.२९-३०)

शुक्र तथा आर्तवरूपी बीजदोष, पूर्वजन्मकृत कर्मदोष, गर्भाशयदोष, कालदोष एवं माता के आहार-विहारदोष से प्रकुपित हुए वातादि दोष गर्भ की आकृति, वर्ण एवं इन्द्रियों में विकृति उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार वर्षाकाल में काष्ठ, पत्थर (अश्मघन) एवं जल के उग्र वेग का आघात

नदी के स्रोत में पड़े वृक्ष में विकृति उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार दोषों का आघात कुक्षि (गर्भाशय) में स्थित गर्भ में विकृति उत्पन्न कर देता है।

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्।।
(च.शा. २.३१)

मन के संयोग से गतिशील प्रतीत होता हुआ आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों के अधीन होकर (कर्मात्मकत्वात्) अत्यन्त सूक्ष्म चारों महाभूतों (वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) के साथ मृत देह को छोड़कर फलोपभोग के लिए नूतन देह की प्राप्ति करता है। तपस्या तथा योगबल से प्राप्त दिव्यदृष्टि के बिना (दिव्यं दर्शनं विना) आत्मा (आतिवाहिक शरीरयुक्त होने से) दृष्टिगोचर नहीं होता है (न तु तस्य दृश्यं रूपमस्ति)।

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा[1] स च विश्वरूपः।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव।।
(च.शा. २.३२)

आत्मा के अन्य सम्बद्ध धर्म- लिंगधारी आत्मा सर्वत्र व्यापक है, वह सभी शरीरों का धारण-पोषण करने में समर्थ है, वह विश्वकर्मा है (सम्पूर्ण संसार उसी का कार्य है), वह कर्मानुसार सभी जीवों के रूपों को धारण करता है अतः वह विश्वरूप वाला है, वह चेतनाधातुरूप है, वह अतीन्द्रिय है, वह नित्ययुक् है(मन आदि ज्ञानेन्द्रियों से सदा युक्त रहता है), वह अनुशय (राग, द्वेष आदि) से युक्त है।

रसात्ममातापितृसम्भवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु।।
(च.शा. २.३३)

---

१. विश्वकर्मकरणक्षमो विश्वकर्मा। (चक्रपाणिः)

आत्मा में महाभूतों की स्थिति- आहाररसज, आत्मकर्मज (पूर्वजन्मकृत कर्मों से उत्पन्न), मातृज तथा पितृज भेद से प्रत्येक से प्राप्त चार-चार महाभूतों (वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) से सोलह प्रकार के गर्भशरीर होते हैं। वे चारों महाभूत आत्मा में आश्रित हैं; क्योंकि आत्मा के आश्रय के बिना चारों महाभूत एकत्र क्रियावान् होकर नहीं रह सकते एवं आत्मा भी देहान्तरादि क्रिया के लिए चारों महाभूतों के आश्रित रहता है।

भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे।
आप्याय्यते शुक्रमसृक् च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि।।

(च.शा. २.३४)

मातापितृसम्भव भूत- गर्भ में माता और पिता से उत्पन्न महाभूतों को रज और शुक्र कहते हैं। जिन चारों महाभूतों से शुक्र और आर्तव (रज/लोहित) की पुष्टि व वृद्धि होती है, वे महाभूत भी माता-पिता द्वारा खाये हुए अन्नादि के रस से उत्पन्न होते हैं।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि[1] विशन्ति गर्भम्।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति।।

(च.शा. २.३५)

आत्मलीन महाभूत- जो आत्मलीन (नित्य आत्मसम्बद्ध)चार महाभूत हैं, वे पूर्वजन्मकृत कर्मानुसार गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। वह बीजधर्मा (जिस प्रकार बीज अपने सदृश अंकुर को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आत्मलीन=आत्मसम्बद्ध भूतसन्तान स्वसदृश देहरूप भूतान्तर को उत्पन्न करता है अत: उसे बीजधर्मा कहा गया है) भूतसन्तान आत्मा के जाने के साथ ही दूसरे-दूसरे देहों में चला जाता है।

१. नित्यमात्मसम्बद्धानि इत्यर्थ:। (चक्रपाणि:)

रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां[१] मनसो मनस्तः।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः।।

(च.शा. २.३६)

कर्मात्मक (कर्महेतुक) महाभूतों के रूप से ही देह के रूप का निर्माण होना प्रसिद्ध है। मन से मन की उत्पत्ति होती है। जो आकृति (स्वरूप) तथा बुद्धि[२] में परस्पर भेद होते हैं, वे रजस्, तमस् और जीव के अपने कर्म के कारण होते हैं।

१. कर्मकारणकानामित्यर्थः। (चक्रपाणिः)
२. सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः। (तर्क.सं.)

अध्याय-१२

नैयायिक दृष्टि से आयुर्वेद

तत्र वादो नाम स यत् परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति। स च द्विविधः संग्रहेण- जल्पः वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। यथा- एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य, तौ च स्वस्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव। (च.वि. ८.२८)

वाद उसे कहते हैं जो अन्य के साथ शास्त्रपूर्वक विग्रह करके (पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक) किया जाता है। वह संक्षेप से दो प्रकार का होता है- जल्प व वितण्डा। उसमें अपने पक्ष को युक्तिसंगत (शास्त्रानुसार) रखना जल्प तथा जल्प का विपरीत वितण्डा है, इसमें निराधार पक्ष को लेकर दूसरे पक्ष को काटना होता है। उदाहरण इस प्रकार है- एक का पक्ष है कि पुनर्जन्म होता है और दूसरे का पक्ष है कि पुनर्जन्म नहीं होता है। जब वे दोनों अपने-अपने पक्ष को हेतु (प्रमाण) व शास्त्रानुसार रखते हैं तो यह **जल्प** कहलाता है। इसके विपरीत **वितण्डा** उसे कहते हैं, जहाँ केवल परपक्ष में दोष देखना मात्र प्रयोजन होता है।

अथ प्रतिज्ञा-प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं; यथा- नित्यः पुरुष इति।। (च.वि. ८.३०)

अब **प्रतिज्ञा** के बारे में कहते हैं- प्रतिज्ञा वह है, जिसे तथ्य व प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जाए, जैसे- नित्यः पुरुषः (पुरुष नित्य है)।

अथ स्थापना- स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना। पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना,

किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति; यथा- नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा, हेतुः- अकृतकत्वादिति, दृष्टान्तः- यथाकाशमिति, उपनयः- यथा चाकृतकमाकाशं तच्च नित्यं, तथा पुरुष इति, निगमनं- तस्मान्नित्य इति। (च.वि. ८.३१)

अब **स्थापना** के विषय को रखते हैं कि अपनी प्रतिज्ञा (साधनीय विषय) को हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमन से सिद्ध करना, यह **स्थापना** है। पहले प्रतिज्ञा होती है बाद में स्थापना होती है; क्योंकि जब प्रतिज्ञा ही नहीं है स्थापना किसकी करेंगे। जैसे कि- पुरुष नित्य है यह **प्रतिज्ञा** है, तो इसमें **हेतु** है अकृतकत्व। **दृष्टान्त** है जैसे आकाश अकृतक (अनुत्पन्न) तत्त्व है। **उपनय** जैसे आकाश को किसी ने नहीं बनाया उसी प्रकार पुरुष को भी किसी ने नहीं बनाया है। **निगमन** है- अतः पुरुष नित्य है।

अथ प्रतिष्ठापना- प्रतिष्ठापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञाया विपरीतार्थस्थापना। यथा- अनित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा; हेतुः- ऐन्द्रियकत्वादिति, दृष्टान्तः- यथा घट इति, उपनयो- यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यः, तथा चायमिति, निगमनं- तस्मादनित्य इति।
(च.वि. ८.३२)

अब **प्रतिष्ठापना** के विषय में कहते हैं- दूसरे के द्वारा की गई प्रतिज्ञा के विपरीत अपना पक्ष स्थापित करना। जैसे 'पुरुष अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है। इसमें हेतु है, इन्द्रिय का विषय होने के कारण। दृष्टान्त- जैसे घट। उपनय- जैसे घट इन्द्रिय का विषय है और वह अनित्य है, उसी प्रकार यह पुरुष भी अनित्य है। निगमन- अतः वह अनित्य है।

अथ हेतुः- हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्; तत् प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्, औपम्यमिति; एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वम्।
(च.वि. ८.३३)

अब **हेतु** क्या है? यह बतलाते हैं। ज्ञानप्राप्ति का जो साधन है उसे हेतु कहते हैं। वे चार प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य (शास्त्रप्रमाण या आप्तोपदेश), उपमान। इन चार हेतुओं (प्रमाणों) के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही तत्त्वज्ञान (प्रमाणिक ज्ञान) है।

अथ दृष्टान्तः- दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं, यो वर्ण्यं वर्णयति। यथा अग्निरुष्णः, द्रवमुदकं; स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति; यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यज्ञानं[1] प्रकाशकमिति। (च.वि. ८.३४)

अब **दृष्टान्त** का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि दृष्टान्त वह है, जिसमें मूढ और विद्वानों की बुद्धि सामान्यरूप से विषय को समझ लेती है। जो वर्णनीय विषय को ही कहता है जैसे- अग्नि उष्ण है, जल द्रव पदार्थ है, पृथिवी स्थिर है, सूर्य प्रकाश करने वाला है, दृष्टान्त को समझाते हुए कहते हैं कि जैसे आदित्य प्रकाश करता है, वैसे ही सांख्यज्ञान भी बुद्धि में प्रकाश करता है।

उपनयो निगमनं चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम्।

(च.वि. ८.३५)

उपनय और निगमन- स्थापना और प्रतिष्ठापना की व्याख्या में उपनय और निगमन का वर्णन किया जा चुका है।

अथोत्तरम्- उत्तरं[2] नाम साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यवचनं वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनम्। यथा- 'हेतुसधर्माणो विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुभिः साधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शाः', इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्- हेतुविधर्माणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां

---

१. सांख्यवचमिति पाठान्तरम्।

२. उत्तरशब्देनेह जात्युत्तरमुत्तराभासमीप्सितम्।

दाहौष्ण्यकोथप्रपचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति। एतत् सविपर्ययमुत्तरम्। (च.वि. ८.३६)

साधर्म्य से कहे हुए हेतु से विपरीत हेतु को दिखाना अर्थात् उससे विपरीत वचन को कहना, वैधर्म्य से कहे हुए हेतु के विपरीत साधर्म्य वचन का कथन करना 'उत्तर' कहा जाता है। जैसे- किसी ने कहा कि जो धर्म हेतु के होते हैं, व्याधि के भी वही धर्म होते हैं। जैसे- शीत से उत्पन्न हुई वातव्याधि के जो धर्म होते हैं, उसके हेतुभूत हिम, शिशिर और वायु के संस्पर्श के भी वही धर्म होते हैं। इस प्रकार कहते हुए को प्रतिवादी कहे कि जिस हेतु से व्याधि उत्पन्न होती है, उस हेतु के जो धर्म होते हैं, वे व्याधि के नहीं होते; क्योंकि देखने में आता है कि दाह, उष्णता, कोथ (सड़न) शीत के धर्म न होने पर भी शरीर के अवयवों में दाह, उष्णता आदि उत्पन्न करते हैं और उन दाह उष्णतादिकों के हिम, शिशिर आदि विधर्मी गुण वाले कारण होते हैं इसलिए हेतु और व्याधि के गुणों में साधर्म्य नहीं होता। इस प्रकार विपरीत वाक्य के कथन करने को 'उत्तर'(उत्तराभास/जात्युत्तर/असदुत्तर) कहते हैं।

अथ सिद्धान्तः- सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः। स चतुर्विधः- सर्वतन्त्र-सिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तः, अभ्युपगम-सिद्धान्तश्चेति। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं; यथा- सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानामिति। प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं; यथा- अन्यत्राष्टौ रसाः षडत्र, पञ्चेन्द्रियाण्यत्र षडिन्द्रियाण्यन्यत्र तन्त्रे, वातादिकृताः सर्वे विकारा यथाऽन्यत्र, अत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः। अधिकरणसिद्धान्तो नाम स

यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधिकरणानि भवन्ति; यथा-'न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते, निस्पृहत्वात्' इति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफल-मोक्ष-पुरुष-प्रेत्यभावा भवन्ति। अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः; तद्यथा- द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणाः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, वीर्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिः, इति चतुर्विधः सिद्धान्तः। (च.वि. ८.३७)

जो परीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार से परीक्षित कर हेतुओं द्वारा सिद्ध कर स्थापित किया गया हो उसे 'सिद्धान्त' कहते हैं। वह सिद्धान्त सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, प्रतितन्त्र-सिद्धान्त, अधिकरण-सिद्धान्त और अभ्युपगम-सिद्धान्त, इन भेदों से चतुर्विध होता है।

उनमें जो सिद्धान्त सम्पूर्ण तन्त्रों (ग्रन्थों) में एक समान हो और उसको सब मानते हों, उसको 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहते हैं। जैसे- व्याधि का कोई न कोई कारण होता है और व्याधि तथा साध्यव्याधि की चिकित्सा भी होती है इसको सब तन्त्रों में कहा है और सब मानते हैं इसलिए यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' उसे कहते हैं जो एक-एक तन्त्र में अपने-अपने रूप से प्रसिद्ध हो और उसको वे ही तन्त्रकार मानते हों। जैसे- किसी के मत में रस आठ प्रकार के हैं और कोई रस को छः प्रकार का कहता है। कोई कहता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं और कोई तन्त्र इन्द्रियों को छः मानता है। कोई मानता है कि सम्पूर्ण व्याधियाँ वातादि से उत्पन्न होती हैं और किसी के मत में सम्पूर्ण व्याधियाँ वातादि तथा भूतप्रेत आदि से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार अपने-अपने तन्त्र में माने हुए सिद्धान्त को प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहते हैं।

किसी एक पक्ष को लेकर निर्णय करते हुए बीच में किसी अन्य विषय का निश्चय हो जाना 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे- मुक्त

पुरुष शुभाशुभ फल देने वाले कर्मों को नहीं करता है, क्योंकि वह निस्पृह होता है। ऐसा कहने पर कर्मों का फल मिलता है, मोक्ष है, पुरुष है तथा प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) है - ऐसा सिद्ध होता है। 'अभ्युपगमसिद्धान्त' वह है, जिसमें असिद्ध (जिसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ है), अपरीक्षित (जिस विषय पर विद्वानों के द्वारा परीक्षा नहीं की गई है), अनुपदिष्ट (जिसका उपदेश नहीं हुआ है) तथा अहेतुक (युक्ति द्वारा अप्रमाणित) विषयों को विद्वान् चिकित्सक शास्त्रार्थ के समय स्वीकार कर लेते हैं। जैसे- द्रव्य को प्रधान मानकर कहेंगे, गुण को प्रधान मान कर कहेंगे, वीर्य को प्रधान मानकर कहेंगे इत्यादि। इस प्रकार ये चार प्रकार के सिद्धान्त होते हैं।

अथ शब्दः- शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः- दृष्टार्थश्च अदृष्टार्थश्च सत्यश्च अनृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थो नाम- त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति षड्भिरुपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति, सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादि-ग्रहणमिति। अदृष्टार्थः पुनः- अस्ति प्रेत्यभावः, अस्ति मोक्ष इति। सत्यो नाम- यथार्थभूतः, सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः, सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानां व्याधीनां, सन्त्यारम्भफलानीति। सत्यविपर्ययश्चानृतः।

(च.वि. ८.३८)

शब्द क्या है? वर्णों के समूह को शब्द कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं- दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, सत्य और अनृत। दृष्टार्थ– जो विषय प्रत्यक्षरूप से जाने जाते हैं, जैसे-तीन हेतुओं (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम) से दोष प्रकुपित होते हैं तथा छःउपक्रमों (लंघन, बृंहण, स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन) द्वारा शान्त होते हैं। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के अविकृत होने पर ही शब्द आदि का ग्रहण होता है। अदृष्टार्थ- (जो प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता); जैसे– मृत्यु के बाद प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) तथा मोक्ष होता है। सत्य उसे कहते हैं जो यथार्थ हो, जैसे आयुर्वेद में उपदेश हैं साध्य रोगों की चिकित्सा के उपाय हैं, कर्मों के फल हैं। सत्य के विपरीत

अनृत (असत्य) होता है। **विशेष-**यहां छह उपक्रमों में तीन जोड़े बताए हैं जो एक-दूसरे के विपरीत हैं। उपवास में लंघन प्रधान हैं, इसके विपरीत पौष्टिक आहार से बृंहण होता है, घृत-तैलयुक्त भोजन व अभ्यङ्ग के द्वारा स्नेहन किया जाता है तथा रूक्ष आहार से रूक्षण होता है। उष्ण उपचार से स्वेदन व शीत उपचार से स्तम्भन किया जाता है। जैसे-रक्त बहने पर पानी डालकर उसको रोकते हैं। दस्त लग रहे हों तो शीतगुणयुक्त कुटज के द्वारा उसे रोका जाता है अथवा यदि मल एकदम पतला न हो तो शुण्ठी आदि ग्राही पदार्थों के द्वारा अग्नि को तीव्र करके मल का स्तम्भन किया जाता है।

अथ प्रत्यक्षं- प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते, तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः।

(च.वि. ८.३९)

प्रत्यक्ष क्या है- प्रत्यक्ष वह है जो ज्ञान आत्मा (मन) और इन्द्रियों (पञ्चेन्द्रियों) से साक्षात् उपलब्ध (प्राप्त) होता है। इनमें सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा से प्रत्यक्ष होते हैं तथा शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं।

अथानुमानम्- अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः; यथा- अग्निं जरण-शक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि।

(च.वि. ८.४०)

युक्तिपूर्वक जो तर्क किया जाता है, वह **अनुमान** है। जैसे–जरणशक्ति (पचाने की शक्ति) से पाचकाग्नि के सम, विषम, मन्द या तीव्र होने का अनुमान किया जाता है। व्यायामशक्ति को देखकर सबल या निर्बल होने का अनुमान होता है तथा शब्द-स्पर्श आदि विषयों के ग्रहण करने की शक्ति से इन्द्रियों की शक्ति का अनुमान होता है।

अथैतिह्यम्- ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः। (च.वि. ८.४१)

जो वेदादि अलौकिक आप्तोपदेश हैं, उन्हें **ऐतिह्य** कहा जाता है।

अथौपम्यम्- औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं; यथा- दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनारोग्यदस्येति। (च.वि. ८.४२)

उपमान- औपम्य (उपमान)[१] उसे कहते हैं जहाँ किसी अप्रसिद्ध वस्तु को किसी प्रसिद्ध वस्तु की सदृशता के आधार पर प्रकाशित किया जाए। यथा- दण्डेन दण्डकस्य, यहाँ 'दण्डक' नामक[२] व्याधिविशेष की सदृशता कुम्भकार के दण्ड से की गई है, धनुषा धनुःस्तम्भस्य[३] - 'यहाँ धनुस्तम्भ रोग की सदृशता धनुष से की गई है तथा आरोग्यद (भिषक्) की सदृशता इष्वास (धनुर्धारी) से की गई है अर्थात् जिस प्रकार कुशल धनुर्धारी समीपस्थ लक्ष्य को भेदने में नहीं चूकता है, उसी प्रकार कुशल वैद्य भी उपचार करने में त्रुटि नहीं करता है।

अथ संशयः- संशयो नाम सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः। यथा- दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः- किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति। (च.वि. ८.४३)

संशय[४]- संदेह के लक्षणों से युक्त होकर संदेहयुक्त विषयों में निश्चय न कर पाना ही संशय है। जैसे- दीर्घायुष्य के लक्षणों से युक्त और दीर्घायुष्य के लक्षणों से रहित, उचित चिकित्सा होने पर व उचित चिकित्सा

१. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। (न्याय.१.६)
२. दण्डक नामक रोग वह है, जिसके होने पर मनुष्य दण्डवत् सीधा ही रह जाता है।
३. धनुस्तम्भ रोग वह है, जिसके होने पर मनुष्य धनुष की आकृति के समान टेढ़ा हो जाता है।
४. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। (न्याय.१.२३)

न होने पर भी मनुष्य शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हुए अथवा चिरकाल तक जीवित रहते हुए देखे जाते हैं, इस प्रकार इन दोनों घटनाओं को देखने से संशय होता है कि अकाल मृत्यु होती है या नहीं होती है।

अथ प्रयोजनं- प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः। यथा यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति। (च.वि. ८.४४)

प्रयोजन- जिसके लिए कार्यों का प्रारम्भ करते हैं, उसे प्रयोजन कहते हैं। यदि अकाल मृत्यु होती है तो मैं अपनी आयु बढ़ाने के लिए हितकारी पदार्थों का सेवन करूँगा तथा अहितकारी पदार्थों का त्याग करूँगा। मैं देखता हूँ कि कैसे मुझे अकाल मृत्यु मारती है।

अथ सव्यभिचारं- सव्यभिचारं नाम यद् व्यभिचरणं, यथा- भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति। (च.वि. ८.४५)

सव्यभिचार- सव्यभिचार उसे कहते हैं, जिसका व्यभिचरण (उल्लंघन) होने की आशङ्का हो, फल की अनिश्चितता हो। जैसे यह औषध उस रोग में यौगिक (लाभकारी) हो भी सकती है और नहीं भी, इसे सव्यभिचार कहते हैं।

अथ जिज्ञासा- जिज्ञासा नाम परीक्षा; यथा- भेषजपरीक्षा।
(च.वि. ८.४६)

जिज्ञासा- (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि के द्वारा) किसी विषय की परीक्षा करना जिज्ञासा कहलाती है। जैसे- भेषजपरीक्षा।

अथ व्यवसायः- व्यवसायो नाम निश्चयः, यथा- वातिक एवायं व्याधिः, इदमेवास्य भेषजं चेति।। (च.वि. ८.४७)

व्यवसाय - निश्चय होना ही 'व्यवसाय' कहलाता है। जैसे- यह

रोग वात से उत्पन्न हुआ है और यह (बस्ति या अभ्यङ्ग के रूप में तैल-प्रयोग अथवा वातनाशक विशिष्ट आहार-विहार) ही इसकी औषध है। इस प्रकार संशयरहित निश्चय 'व्यवसाय' कहलाता है।

अथार्थप्राप्तिः- अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः, यथा- नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः- अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः- निशि भोक्तव्यमिति। (च.वि. ८.४८)

अर्थप्राप्ति- जहाँ किसी एक विषय को कहने पर दूसरे न कहे गये विषय का भी ज्ञान हो जाता है, उसे अर्थप्राप्ति कहते हैं। जैसे- 'यह रोग सन्तर्पणसाध्य नहीं है' ऐसा कहने पर दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है कि यह रोग अपतपर्णसाध्य (रूक्ष आहार, अल्पाहार, उपवास इत्यादि) है। दूसरा उदाहरण- 'इस रोगी को दिन में भोजन नहीं करना चाहिए'। ऐसा कहने पर दूसरे न कहे गये अर्थ की प्राप्ति स्वयं हो जाती है कि इस रोगी को रात्रि में भोजन करना चाहिए।

अथ सम्भवः-यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भवः; यथा षड्धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति। (च.वि. ८.४९)

जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका **सम्भव** (उत्पत्तिकारण) होता है। जैसे- छः धातुएँ गर्भ का सम्भव हैं अर्थात् छः धातुओं से गर्भ हो सकता है। अहित सेवन व्याधि का सम्भव है, हितसेवन आरोग्य का सम्भव है।

अथानुयोज्यम्- अनुयोज्यं नाम यद् वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तत्। सामान्यतो व्याहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद् वाक्यं तदप्यनुयोज्यं; यथा-'संशोधनसाध्योऽयं व्याधिः' इत्युक्ते 'किं वमनसाध्योऽयं, किंवा विरेचनसाध्यः' इत्यनुयुज्यते। (च.वि. ८.५०)

अनुयोज्यम्- वाक्यदोष से युक्त वाक्य को अनुयोज्य कहते हैं। अथवा सामान्यरूप से व्यवहार किए गये अर्थों में विशेष अर्थ का ज्ञान कराने के लिए जो वाक्य प्रयुक्त होता है, वह भी अनुयोज्य होता है। जैसे- यह रोग संशोधनसाध्य[१] है ऐसा कहने पर यह अपेक्षित रहता है कि यह वमनसाध्य है या विरेचनसाध्य है, इस प्रकार का प्रश्न अनुयोज्य कहलाता है।

अथाननुयोज्यम्- अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेण, यथा- अयमसाध्यः। (च.वि. ८.५१)

अननुयोज्यम्- अनुयोज्य के विपरीत वाक्य को अननुयोज्य कहते हैं, जैसे कि यह रोग असाध्य है।

अथानुयोगः- अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन-परीक्षार्थमादिश्यते। यथा-'नित्यः पुरुषः' इति प्रतिज्ञाते यत् परः 'को हेतुः' इत्याह, सोऽनुयोगः। (च.वि. ८.५२)

अनुयोग- अनुयोग वह है जो कि उसी विषय के विद्वानों के साथ ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन की परीक्षा के लिए शास्त्र में या शास्त्र के किसी एक प्रकरण में प्रश्न या प्रश्न के किसी एक भाग को आदिष्ट किया जाता है (पूछा जाता है), जैसे- पुरुष नित्य है, इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर अन्य विद्वान् (परः) कहे कि इसमें हेतु क्या है? इसे 'अनुयोग' कहते हैं।

अथ प्रत्यनुयोगः- प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोगः, यथा- अस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति। (च.वि. ८.५३)

---

१. वमन, विरेचन, नस्य (कपड़छान चूर्णादि का प्रयोग) आस्थापन/निरूहबस्ति, अनुवासन, रक्तमोक्षण- इन पाँच कर्मों का नाम संशोधन है।

प्रत्यनुयोग- अनुयोग के बाद पुनः अनुयोग (प्रश्न) किया जाए, उसे प्रत्यनुयोग कहते हैं। जैसे- इस अनुयोग का फिर क्या हेतु (कारण) है।

अथ वाक्यदोषः- वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनम्, अधिकम्, अनर्थकम्, अपार्थकं, विरुद्धं चेति, एतानि ह्यन्तरेण न प्रकृतोऽर्थः प्रणश्येत्। तत्र न्यूनं- प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति, यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तच्च न्यूनम्। अथाधिकम्- अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतं, यद्वायुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत् किञ्चिदप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते, यद्वा सम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत् पुनरुक्तदोषत्वादधिकं, तच्च पुनरुक्तं द्विविधम्- अर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तं च, तत्रार्थपुनरुक्तं यथा- भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तं पुनर्भेषजं भेषजमिति। अथानर्थकम्- अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते। अथापार्थकम्- अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकं, यथा- चक्र-न(त)क्र-वंश-वज्रनिशाकरा इति। अथ विरुद्धं- विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धं, तत्र पूर्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ, समयः पुनस्त्रिधा भवति, यथा- आयुर्वेदिकसमयः, याज्ञिकसमयः, मोक्षशास्त्रिकसमयश्चेति, तत्रायुर्वेदिकसमयः- चतुष्पादं भेषजमिति, याज्ञिकसमयः- आलभ्या यजमानैः पशव इति, मोक्षशास्त्रिकसमयः सर्वभूतेष्वहिंसेति, तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति। इति वाक्यदोषाः।

(च.वि. ८.५४)

वाक्यदोष- वाक्यदोष वह होता है, जो किसी अर्थ को देने में न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक व विरुद्ध होता है। यदि ये दोष वाक्य में न हों तो वाक्य का अपना स्वाभाविक अर्थ नष्ट नहीं होता है। अब उपर्युक्त वाक्य दोषों को विस्तार से बताएँगे।

न्यून- न्यूनदोष वह होता है जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन- इनमें से किसी एक की कमी (न्यूनता) रह जाए अथवा जो अनेक हेतुओं से साध्य हो उसे एक ही हेतु से सिद्ध करना न्यूनदोष कहलाता है।

अधिक- अधिकदोष वह होता है, जो न्यून से विपरीत होता है अथवा जहाँ आयुर्वेद के विषय का कथन किया जा रहा हो, वहाँ अप्रासङ्गिक बार्हस्पत्य या औशनस शास्त्र का कथन किया जाए अथवा प्रासङ्गिक होने पर भी दो-दो बार कहा जाए तो वह पुनरुक्त दोष होने से अधिकदोष कहा जाता है। पुनरुक्त दो प्रकार का होता है- अर्थपुनरुक्त तथा शब्दपुनरुक्त। अर्थपुनरुक्त जैसे- भेषज, औषध, साधन। शब्दपुनरुक्त जैसे- भेषज, भेषज।

अनर्थकम्- अनर्थक दोष वह है, जो वचन केवल अक्षरों का समुदाय मात्र हो। क च ट त प आदि पाँच वर्गों के समान जिससे कोई अर्थविशेष गृहीत नहीं हो सकता है।

अपार्थक- अपार्थक दोष वह होता है जिसमें शब्द अर्थवान् तो होते हैं, परन्तु परस्पर असम्बद्ध अर्थ वाले होते हैं। जैसे- वक्र, नक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर अर्थात् एक साथ प्रयुक्त ये सार्थक शब्द परस्पर असम्बद्ध होने से निरर्थक ही हैं।

विरुद्ध- विरुद्ध दोष उसे कहते हैं जो वाक्य दृष्टान्त, सिद्धान्त व समय के विपरीत होता है। इनमें से दृष्टान्त व सिद्धान्त को इसी प्रकरण में पहले ही कहा जा चुका है। समय तीन प्रकार का होता है- आयुर्वेदिक समय, याज्ञिक समय तथा मोक्षशास्त्रिक समय। आयुर्वेदिक समय जैसे- चतुष्पाद भेषज (भिषक्, द्रव्य, सेवक एवं रोगी), याज्ञिक समय यथा- यजमान पशुओं का आलम्भन (स्पर्श) यज्ञस्थल में करें, मोक्षशास्त्रिक समय यथा- सभी जीवों में अहिंसा का भाव रखना चाहिए। इनमें यहाँ समय के विपरीत कहने से मर्यादा का जो उल्लंघन होता है वह विरुद्धदोष कहा जाता है। ये सभी वाक्यदोष हुए।

अथ वाक्यप्रशंसा- वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनम्, अनधिकम्, अर्थवत्, अनपार्थकम्, अविरुद्धम्, अधिगतपदार्थं चेति यत्तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते।

(च.वि. ८.५५)

वाक्यप्रशंसा- जिस वाक्य में न्यून व अधिक दोष नहीं है, जो अर्थ से परिपूर्ण है, सार्थक है, जिसमें विरुद्ध दोष भी नहीं है और पदों का अर्थ स्पष्ट है- ऐसा वाक्य अननुयोज्य[१] होने से प्रशंसनीय है।

अथच्छलम्-[२] छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव। तद्द्विविधं- वाक्छलं सामान्यच्छलं च। तत्र वाक्छलं नाम यथा- कश्चिद् ब्रूयात्- नवतन्त्रोऽयं भिषगिति, अथ भिषग् ब्रूयात्- नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति, परो ब्रूयात्- नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रमिति, भिषग् ब्रूयात्- न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, अनेकधाभ्यस्तं मया तन्त्रमिति, एतद् वाक्छलम्। सामान्यच्छलं नाम यथा- व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्- सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह, सन् हि रोगः, सदौषधं, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति, तत्र सत् कासः, सत् क्षयः, सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यतीति। एतत् सामान्यच्छलम्।

(च.वि. ८.५६)

छल- जो वाणी किसी की वञ्चना या विश्वासघात करने के लिए प्रयुक्त हो, अनर्थक हो, अर्थ कुछ नहीं हो, केवल अर्थाभास हो और जो

१. 'अननुयोज्यम्' अनुयोग (प्रश्न) करने के योग्य नहीं है अर्थात् वाक्य पढ़ने से ही सब कुछ अधिगत हो जाता है।

२. तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यछलमुपचारच्छलं च। (न्यायदर्शन १.२.१३
वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् (न्यायदर्शन १.२.१५)
तीन प्रकार के छल होते हैं– १. वाक्छल २. सामान्य छल ३. उपचार छल (वाक्छल को ही उपचार छल कहते हैं)।

वाग्जाल मात्र हो, वह 'छल' कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है- १. वाक्छल २. सामान्य छल। १. वाक्छल वह है जैसे कोई व्यक्ति बोले 'यह वैद्य नवतन्त्र है' अर्थात् इसने अभी-अभी नया अध्ययन किया है तब वैद्य बोलता है कि मैंने नौ शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है, मैंने तो एक शास्त्र का अध्ययन किया है, पुनः व्यक्ति कहता है, मैं यह नहीं बोल रहा हूँ कि आपने नौ शास्त्रों का अध्ययन किया है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपका नया-नया अभ्यास है तब वैद्य पुनः कहे कि मैंने शास्त्रों का नया-नया अभ्यास नहीं किया है, किन्तु मैंने बहुत बार अभ्यास किया है। इस प्रकार शब्दों के अर्थों को बदलकर किसी को धोखा देना 'वाक्छल' कहलाता है।

२. सामान्य छल- जैसे किसी वैद्य ने कहा कि औषध रोगों को शान्त करने के लिए होती हैं, तब दूसरा व्यक्ति कहता है कि आपने यह कहा कि सत् वस्तु सत्पदार्थ के शमन के लिए होती है, क्योंकि रोग भी सत् (वर्तमान) पदार्थ है और औषध भी सत्पदार्थ है। तब वह अतिवादी (दूसरा) व्यक्ति कहता है कि सत् पदार्थ सत् पदार्थ का शमन करता है तो कास (खाँसी) भी सत् है और क्षय (टी.बी.) भी सत् है, तो इस सत्सामान्य मतानुसार कास से क्षय का शमन हो जाना चाहिए, इस प्रकार यह सामान्य छल कहलाता है।

अथाहेतुः- अहेतुर्नाम प्रकरणसमः, संशयसमः, वर्ण्यसमश्चेति। तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुर्यथा- अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति, परो ब्रूयात्- यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः, शरीरं ह्यनित्यमतो विधर्मिणा चात्मना[1] भवितव्यमित्येष चाहेतुः, नहि य एव पक्षः स एव हेतुरिति। संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः, यथा- अयमायुर्वेदैकदेशमाह, किन्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशये

१. 'चानेन' इति पाठभेदः।

परो ब्रूयात्- यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयच्छेदहेतुं विशेषयति, एष चाहेतुः, नहि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति। वर्ण्यसमो नामाहेतुः- यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः, यथा- कश्चिद् ब्रूयात्- अस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति, अत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद् वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः।

(च.वि. ८.५७)

अहेतु- अहेतु तीन प्रकार का होता है- १. प्रकरणसम, २. संशयसम और ३. वर्ण्यसम।

१. प्रकरणसम[1] अहेतु- 'जैसे शरीर से अन्य आत्मा नित्य है', इस प्रकार कहने पर दूसरा व्यक्ति कहे कि जिस हेतु से आत्मा शरीर से भिन्न है, उसी हेतु से वह नित्य है, क्योंकि शरीर अनित्य होने से उसका विधर्मी आत्मा नित्य ही होगा। यह अहेतु है, ऐसा नहीं होता है जो पक्ष है वह हेतु भी हो यहाँ शरीर से भिन्न आत्मा पक्ष है और उसमें नित्यता सिद्ध करने के लिए शरीर से भिन्न आत्मा का होना यह हेतु नहीं हो सकता; क्योंकि कोई एक पदार्थ साध्य को सिद्ध करने में 'पक्ष' और 'हेतु' नहीं बन सकता, यह 'प्रकरणसम' अहेतु कहलाता है। (जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्' यहाँ पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है, धूम हेतु है किन्तु यहां यह नहीं कहा जा सकता कि पर्वत होने से वह वह्निमान् है, अतः पक्ष कभी हेतु नहीं होता है।)

२. संशयसम अहेतु- जो पदार्थ संशय का हेतु होता है, वही वस्तु या पदार्थ संशय-निराकरण में हेतु बने तो वह हेतु नहीं, अहेतु होता है, इस प्रकार के अहेतु को 'संशयसम' अहेतु कहते हैं। जैसे- यह व्यक्ति आयुर्वेद के एकदेश को कहता है तो क्या यह व्यक्ति चिकित्सक है या

---

१. प्रकरणसम हेत्वाभास को ही 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास कहते हैं।

(तर्क.सं. की टीका पदकृत्यम्)

नहीं? इस प्रकार संशय होने पर दूसरा व्यक्ति हेतु दे कि यह व्यक्ति आयुर्वेद के एकदेश को जानता है अतः यह चिकित्सक है। इस प्रकार हेतु देना 'संशयसम अहेतु' कहलाता है; क्योंकि वह संशय के निराकरण में हेतु नहीं बनता है। एक नियम है- जो संशय का हेतु हो, वही हेतु संशय-निराकरण का हेतु नहीं होता।

३. वर्ण्यसम अहेतु- जो हेतु साध्य से भिन्न नहीं है, वह वर्ण्यसम अहेतु कहलाता है, जैसे कोई कहे- 'बुद्धिः अनित्या स्पर्शरहितत्वात्' बुद्धि अनित्य है, स्पर्शरहित होने से शब्द के समान। यहाँ पर शब्द और बुद्धि दोनों की अनित्यता सिद्ध करनी है अतः शब्द बुद्धि का और बुद्धि शब्द का दृष्टान्त नहीं बन सकते; क्योंकि दोनों की अनित्यता सिद्ध नहीं है। दोनों ही साध्य कोटि में खड़े हैं अतः यह वर्ण्यसम अहेतु है। हेतु बताते समय जो सिद्ध पदार्थ है, उसी का उदाहरण देकर हेतु देना आवश्यक होता है। जैसे 'शरीर अनित्य है, उत्पन्न होने से, घट के समान' यहाँ पर घट की उत्पत्ति होने से उसका अनित्यत्व सिद्ध है अतः यह उदाहरण ठीक है।

अथातीतकालम्- अतीतकालं नाम यत् पूर्वं[१] वाच्यं तत् पश्चादुच्यते, तत् कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति, पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य परिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चान्निगृहीते, तत्तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचमनसमर्थं भवतीति। (च.वि. ८.५८)

अतीतकाल- पहले कहने योग्य कथन का बाद में कथन करना 'अतीतकाल' कहलाता है अर्थात् जिस समय जो कथन कहना था, उसे अन्य प्रसंगादि में कहना, वह कथन उचित समय के व्यतीत हो जाने से ग्रहण योग्य नहीं होता है। शास्त्रार्थ के समय पराजित होने वाले व्यक्ति को उस समय पराजित न करके जब वह किसी अन्य समय अन्य विषय में बात

१. 'परं' इति पाठभेदः।

करता है, तब उसे पराजित करने की बात करना असमर्थ (अलाभकारक) है, समय के व्यतीत होने के कारण से अब वह अतीतकाल हो गया।

अथोपालम्भः- उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनं, यथा- पूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः। (च.वि. ८.५९)

उपालम्भ- हेतु के दोषवचन को उपालम्भ कहते हैं। जैसे- पहले अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहे गये हैं। वे ही प्रकृत में 'उपालम्भ' शब्द से कहे जा रहे हैं।

अथ परिहारः- परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणं, यथा- नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते, तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति। (च.वि. ८.६०)

परिहार- हेतु के दोषवचनों का निराकरण करना 'परिहार' कहलाता है। जैसे- आत्मा के शरीर में स्थित होने पर ही जीव के लक्षण दिखायी देते हैं और उसके निकल जाने पर जीव के लक्षण दिखायी नहीं देते अतः शरीर से अन्य आत्मा नित्य है। 'जो उत्पन्न नहीं होता और उसकी सत्ता है, वह नित्य पदार्थ कहलाता है, जैसे आत्मा'। इस प्रकार हेतु देकर दोषों का निराकरण करना परिहार कहलाता है।

अथ प्रतिज्ञाहानिः- प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वपरिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति, यथा- प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति, पर्यनुयुक्तस्त्वाह- अनित्य इति। (च.वि. ८.६१)

प्रतिज्ञाहानि- पूर्व में की गई प्रतिज्ञा को पराजित होने के पश्चात् त्यागना प्रतिज्ञाहानि कहलाती है। जैसे- 'पुरुष नित्य है' यह प्रतिज्ञा करके पराजित होने के बाद कहता है, 'पुरुष अनित्य' है, यह प्रतिज्ञाहानि है।

अथाभ्यनुज्ञा- अभ्यनुज्ञा नाम सा य इष्टानिष्टाभ्युपगमः।

(च.वि. ८.६२)

अभ्यनुज्ञा- इष्ट तथा अनिष्ट को स्वीकार करना अभ्यनुज्ञा कहलाता है। जैसे- 'आयुर्वेददीपिका' में उदाहरण दिया है- किसी व्यक्ति ने कहा आप चोर हैं, फिर दूसरा व्यक्ति कहता है कि आप भी तो चोर हैं। प्रकृत में स्वयं चोर बनना नहीं चाहता किन्तु दूसरे को चोर बनाना चाहता है।

अथ हेत्वन्तरं- हेत्वन्तरं नाम प्रकृतहेतौ वाच्ये यद्विकृतहेतुमाह।।

(च.वि. ८.६३)

हेत्वन्तर- जिस पदार्थ को हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसका स्वाभाविक हेतु न देकर उससे भिन्न हेतु देना हेत्वन्तर कहलाता है।जैसे- पर्वतो वह्निमान् तप्तत्वात्। यहाँ तप्तत्व हेतु विकृत हेतु है क्योंकि यह 'अव्याप्ति' आदि दोषों से पूर्ण है।

अथार्थान्तरम्- अर्थान्तरं नामैकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह। यथा- ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह। (च.वि. ८.६४)

अर्थान्तर- जहाँ एक विषय को कहना हो, वहाँ उसे न कहकर दूसरी बात कहना अर्थान्तर कहलाता है। जैसे ज्वर के लक्षण बताने हैं, परन्तु प्रमेह के लक्षण बताता है।

अथ निग्रहस्थानं- निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः, तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिः अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचनम्, अहेतुः, न्यूनम्, अधिकं, व्यर्थम्, अनर्थकं, पुनरुक्तं, विरुद्धं, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं च निग्रहस्थानम्।

(च.वि. ८.६५)

निग्रहस्थान- पराजयप्राप्ति को निग्रहस्थान कहते हैं, कुछ व्याख्याकार पराजयप्राप्ति के कारण को निग्रहस्थान कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है- १. विद्वानों की किसी सभा में तीन बार कहने पर वाक्य के अर्थ को न जानना, २. अननुयोज्य अर्थात् जहाँ प्रश्न करना योग्य

नहीं है, वहाँ प्रश्न करना। ३.जहाँ प्रश्न करना योग्य है, वहाँ प्रश्न नहीं करना। प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचन, अहेतु, न्यून, अधिक, व्यर्थ, अनर्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर- ये सभी निग्रहस्थान[1] (keeping in check) हैं।

जैसे किसी कथन को तीन बार कहने पर उस कथन का अर्थ विद्वानों की सभा विशेष प्रकार से जानती है और प्रतिवादी नहीं जानता है तब उस प्रतिवादी का वह निग्रहस्थान है। (आयुर्वेद-दीपिका)

इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति। (च.वि.८.६६)

वादमार्ग का उपसंहार- इस प्रकार वादमार्ग में वर्णित पदों का जिस क्रम से उल्लेख है, उन्हें उसी क्रम में निर्दिष्ट किया है।

१. जिस कारण से व्यक्ति पराजय को प्राप्त होता है, वह उसका निग्रहस्थान है।

अध्याय-१३
काल एवं ऋतुचर्या

काल का परिचय

कालो हि नाम भगवान् स्वयंभूरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, सङ्कलयति कालयति वा भूतानीति कालः।।

(सु.सू. ६.३)

काल एक ऐश्वर्यशाली, स्वयंभू (स्वयंसिद्ध) तत्त्व है अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं है। आदि, मध्य और अन्त से रहित है अर्थात् न उसके आदि (प्रारम्भ) का, न मध्य का और न समाप्त होने का ज्ञान है। सभी रसों की विकृति और सम्पत्ति तथा सभी प्राणियों का जन्म-मरण काल के ही अधीन है। वह अपनी सूक्ष्म कला तक भी नहीं ठहरता इसलिए उसे 'काल' कहते हैं। प्राणियों का संकलन (सुख-दुःख के साथ संयोग) अथवा संहार करने के कारण भी उसे 'काल' कहते हैं।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेष-काष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति।।

(सु.सू. ६.४)

भगवान् सूर्य अपनी गतिविधियों से निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग आदि के रूप में संवत्सरात्मा काल का विभाग कर देता है।

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाऽक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्त्तः

कलादशभागश्च; त्रिशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः।। (सु.सू. ६.५)

उनमें से अकार आदि लघु अक्षर का उच्चारणमात्र काल अर्थात् लघु अक्षर का उच्चारण करने में जितना काल लगता है वह 'अक्षिनिमेष' कहलाता है। पन्द्रह निमेषों की काष्ठा और तीस काष्ठाओं की 'कला', बीस कला तथा एक कला का दसवां हिस्सा (तीन काष्ठा) का एक 'मुहूर्त' और तीस मुहूर्तों का 'अहोरात्र' तथा पन्द्रह अहोरात्रों का 'पक्ष' होता है। पक्ष दो होते हैं- शुक्ल और कृष्ण, दो पक्षों का एक 'मास' होता है।

तत्र माघादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षड् ऋतवो भवन्ति। ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति।।

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरञ्च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरञ्च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्द्धते। उत्तरञ्च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरञ्च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते।। (सु.सू. ६.६-७)

माघ आदि बारह मास 'संवत्सर' कहलाते हैं। दो-दो मास की एक ऋतु मानने से संवत्सर में छः ऋतुएँ होती हैं। शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त- ये छः ऋतुएँ होती हैं। उनमें तप (माघ) और तपस्य (फाल्गुन) मास शिशिर में, मधु (चैत्र) और माधव (वैशाख) मास वसन्त में, शुचि (ज्येष्ठ) और शुक्र (आषाढ़) मास ग्रीष्म में, नभ (श्रावण) और

नभस्य (भाद्रपद) मास वर्षा में, इष (आश्विन) और ऊर्ज (कार्तिक) मास शरद् में तथा सह (मार्गशीर्ष) और सहस्य (पौष) मास हेमन्त ऋतु में होते हैं। ये ऋतुएँ शीत, उष्ण और वर्षा लक्षण वाली होती हैं।

चन्द्र और सूर्य के काल का विभाग करने वाला होने से 'दक्षिण'और 'उत्तर' दो अयन होते हैं। उनमें से वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुएँ 'दक्षिणायन' कहलाती हैं। इन ऋतुओं से चन्द्रदेव आप्यायित होते हैं। अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सब प्राणियों का बल बढ़ता जाता है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ 'उत्तरायण' कहलाती हैं। इन ऋतुओं से सूर्यदेव वृद्धिमान् होते हैं। तिक्त, कषाय और कटु रस बलवान् होते हैं तथा उत्तरोत्तर सभी प्राणियों का बल घटता जाता है।

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वाञ् शोषयत्यपि। तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः।। (सु.सू. ६.८)

शीतल किरणों वाला चन्द्रमा पृथिवी को क्लिन्न (गीला) करता है और सूर्य सुखाता है। इन दोनों (चन्द्र और सूर्य) का आश्रय लेकर वायु प्रजा का पालन करती है।

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते। स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्त्तमानः कालचक्रमित्युच्यत इत्येके।। (सु.सू. ६.९)

दक्षिणायन और उत्तरायण इन दोनों अयनों को मिलाकर एक 'संवत्सर' होता है। वे पाँच संवत्सर 'युग' कहलाते हैं। किन्हीं आचार्यों के अनुसार निमेष से लेकर युगपर्यन्त यह काल चक्र के समान घूमता हुआ 'कालचक्र' कहलाता है।

ऋतुचर्या

आदान-काल

शिशिराद्यास्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्।
आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्।। (अ.हृ.सू. ३.२)
तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावत:।
आदित्यपवना: सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान् भुव:।। (अ.हृ.सू.३.३)
तिक्त: कषाय: कटुको बलिनोऽत्र रसा: क्रमात्।
तस्मादादानमाग्नेयम्-

शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म- इन तीन ऋतुओं को सम्मिलित रूप से 'उत्तरायण' कहा जाता है। चूँकि इस काल में प्राणियों का बल प्रतिदिन घटता जाता है इसलिए इस काल को 'आदान-काल' (बल का हरण करने वाला काल) भी कहा जाता है। इस काल में मार्ग के स्वभाव के कारण (सूर्य के उत्तर दिशा में गमन करने से) सूर्य किरणों के ताप से तप्त हवाएँ अत्यधिक तीक्ष्ण, रूक्ष एवं उष्ण होकर पृथ्वी के सौम्य (शीतल) गुणों को क्षीण करती हैं। चूँकि इस काल में रूक्ष गुण वाले तिक्त, कषाय और कटु रस की क्रमश: शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं में वृद्धि होती है इसलिए इस काल को 'आग्नेय-काल' (अग्निगुण प्रधान-काल) भी कहा गया है।

आदान काल में दौर्बल्य का कारण

तत्र रविर्भाभिराददानो जगत: स्नेहं, वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्त: शिशिरवसन्तग्रीष्मे यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसान् तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।।

(च.सू.६.६)

उस आदान काल में सूर्य अपनी प्रचण्ड रश्मियों से जगत् के स्नेहभाग का शोषण करता हुआ वायु को तीव्र और रूक्ष बनाकर शिशिर, वसन्त

और ग्रीष्म ऋतुओं में उत्तरोत्तर रूक्षता को उत्पन्न करते हुए (तिक्त कषाय और कटु)[1] इन रूक्ष रसों को बढ़ाकर मनुष्यों को दुर्बल कर देता है।

विसर्ग-काल

-ऋतवो दक्षिणायनम्।। (अ.हृ.सू. ३.४)
वर्षादयो विसर्गश्च यद् बलं विसृजत्ययम्।
सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः।। (अ.हृ.सू. ३.५)
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले।
स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः।। (अ.हृ.सू. ३.६)

वर्षा, शरद् एवं हेमन्त इन तीन ऋतुओं को 'दक्षिणायन' कहा जाता है। चूँकि इस काल में प्राणियों का बल प्रतिदिन बढ़ता है इसलिए इस काल को 'विसर्ग काल' (बल प्रदान करने वाला काल) भी कहा जाता है। इस काल में मार्ग के स्वभाव के कारण (सूर्य के दक्षिण दिशा में गमन करने से) सूर्य का तेज कम हो जाता है, चन्द्रमा बलवान् रहता है और बादल, वर्षा एवं शीतल हवाओं के कारण पृथ्वी का ताप शान्त हो जाता है। चूँकि इस काल में स्निग्ध गुण वाले अम्ल, लवण एवं मधुर रस की क्रमशः वर्षा, शरद् एवं हेमन्त ऋतुओं में वृद्धि होती है इसलिए इस काल को 'सौम्य-काल' भी कहा जाता है।

विसर्गकाल में बलवृद्धि का कारण

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगत्यरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं, तत्र बलमुपचीयते नृणामिति। (च.सू. ६.७)

---

१. 'वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति'। (च.सू. २६.४०)

वर्षा, शरद् और हेमन्त– इन तीन ऋतुओं में तो सूर्य के दक्षिणाभिमुख होने पर काल (विसर्ग), मार्ग (दक्षिणायन), मेघवात एवं वर्षा से सूर्य का प्रताप नष्ट हो जाता है तथा चन्द्रमा अपने पूर्ण बल को प्राप्त हुआ वर्षाकालिक आकाशीय जल द्वारा सन्तप्त भूमि को शान्त कर अरूक्ष रसों (अम्ल, लवण तथा मधुर) की वृद्धि करता है। उस समय मनुष्यों के शारीरिक बल की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगती है।

आदान एवं विसर्गकाल

विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति, इतरे पुनरादाने, सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः। आदानं पुनराग्नेयं, तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्ति-प्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते।। (च.सू.६.५)

विसर्गकाल में वायु अधिक रूक्ष प्रवाहित नहीं होती और इसके विपरीत आदानकाल में वायु अधिक रूक्ष रहती है। विसर्गकाल में चन्द्रमा अबाधित अर्थात् पूर्ण बल को प्राप्त होता है और अपनी सौम्य रश्मियों से समस्त भूमण्डल को निरन्तर आप्लावित कर देता है अतः विसर्गकाल सौम्य होता है तथा आदानकाल[१] आग्नेय अर्थात् अग्निगुण-प्रधान होता है। वे दोनों सूर्य, वायु और चन्द्रमा समय की स्वाभाविक गति से मार्ग ग्रहण किये हुए काल, ऋतु, रस, दोष, देहबल की उत्पत्ति में कारण कहे जाते हैं।

आदान एवं विसर्गकाल में देहबल की स्थिति

आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्यबलं, त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्।। (च.सू. ६.८)

---

१. 'आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनाञ्च बलमित्यादानम्'।
(च.सू.६.४ चक्रपाणिः)

विसर्गकाल के आदि (वर्षा ऋतु) में और आदानकाल के अन्त (ग्रीष्म ऋतु) में पुरुषों में दुर्बलता होती है। विसर्ग तथा आदानकाल के मध्य (शरद् ऋतु तथा वसन्त ऋतु) में पुरुषों का बल मध्यम होता है। विसर्गकाल के अन्त (हेमन्त ऋतु) में और आदानकाल के आदि (शिशिर ऋतु) में पुरुषों के बल की पूर्णरूप से अभिवृद्धि होती है।

सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः।
निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा।। (सु.चि. २४.८५)

ग्रीष्म और शरद् ऋतु में मनुष्य को सुखावह वायु का सेवन करना चाहिए तथा आयु और निरोगता के लिए सदा तेज वायु से रहित स्थान पर रहना चाहिए।

ऋतु-अनुसार प्राणियों का बल

शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः। (अ.हृ.सू. ३.७)

शीत काल (हेमन्त एवं शिशिर-ऋतु) में प्राणियों का बल 'उत्तम', वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतु में 'हीन' और शरद् एवं वसन्त ऋतु में 'मध्यम' होता है।

संवत्सर के विभाग

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योद-गयनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च।। (च.सू. ६.४)

इस आयुर्वेदशास्त्र में ऋतु-विभाग के अनुसार संवत्सर को छः भागों में विभाजित जानना चाहिए। जिसमें सूर्य के उत्तरायण[१] और आदानकाल में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म– इन तीन ऋतुओं को जानना चाहिए तथा सूर्य के दक्षिणायन और विसर्गकाल में वर्षा, शरद् और हेमन्त– इन तीन ऋतुओं को समझना चाहिए।

१. भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम्।

हेमन्त-ऋतुचर्या

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः।। (अ.हृ.सू. ३.७)
भवत्यल्पेन्धनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः।
अतो हिमेऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवणान् रसान्।। (अ.हृ.सू. ३.८)

हेमन्त ऋतु में मनुष्य बलवान् होता है। इस काल में शीत के कारण शरीर की ऊष्मा अन्दर ही रुककर जठराग्नि को बढ़ा देती है। आहाररूपी इन्धन के अल्प मात्रा में मिलने पर यह बढ़ी हुई जठराग्नि वायु द्वारा प्रेरित होकर रस आदि धातुओं का पाचन करने लगती है इसलिए हेमन्त ऋतु में मधुर, अम्ल एवं लवण रस वाले आहार का विशेषरूप से सेवन करना चाहिए।

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः।
अवश्यकार्यं सम्भाव्य यथोक्तं शीलयेदनु।। (अ.हृ.सू. ३.९)
वातघ्नतैलैरभ्यङ्गं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम्।
नियुद्धं कुशलैः सार्द्धं पादाघातं च युक्तितः।। (अ.हृ.सू. ३.१०)

हेमन्त ऋतु में रातें बड़ी होने के कारण प्रातःकाल ही भूख लगने लगती है इसलिए इस ऋतु में शौच आदि आवश्यक कार्य सम्पन्न कर पूर्व वर्णित मधुर, अम्ल एवं लवण रस प्रधान भोजन का सेवन करना चाहिए। वातनाशक तैलों से अभ्यंग करना, सिर पर तैल धारण करना, विमर्दन (शरीर का मर्दन करवाना) एवं पादाघात करवाना (पैर से युक्तिपूर्वक शरीर को दबवाना) चाहिए और मल्ल-युद्ध में कुशल व्यक्ति के साथ अपने बलार्ध से कुश्ती लड़ना चाहिए।

शिशिर-ऋतुचर्या

अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः।
तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम्।। (अ.हृ.सू. ३.१७)

हेमन्त-ऋतु में कही गई विधियों का सेवन शिशिर-ऋतु में भी करना चाहिए; क्योंकि इस ऋतु में शीत की विशेष अधिकता होती है और आदानकालजनित रूक्षता भी रहती है।

वसन्त-ऋतुचर्या

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तेऽर्कांशुतापित:।
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत्।। (अ.हृ.सू. ३.१८)

शिशिर-ऋतु में सञ्चित कफ वसन्त-ऋतु में सूर्य-किरणों के ताप से पिघलकर जठराग्नि को नष्ट कर नाना प्रकार के कफज रोगों को उत्पन्न करता है इसलिए वसन्त-ऋतु में कफ को शीघ्रता से दूर करना चाहिए अर्थात् वमन द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिए और कफनाशक आहार-विहार करना चाहिए।

तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनै:।
व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम्।। (अ.हृ.सू. ३.१९)

वसन्त ऋतु में तीक्ष्ण वमन, नस्य आदि कर्म, लघु एवं रूक्ष भोजन, व्यायाम, उद्वर्तन तथा पादाघात द्वारा बढ़े हुए कफ को जीतना चाहिए।

गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्।

गुरु, शीतल, स्निग्ध, अम्ल एवं मधुर आहार का तथा दिवाशयन का त्याग कर देना चाहिए।

ग्रीष्म-ऋतुचर्या

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत्।। (अ.हृ.सू. ३.२६)
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते।
अतोऽस्मिन्पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत्।।(अ.हृ.सू.३.२७)

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से संसार के स्नेहांश का शोषण कर लेता है जिससे दिन-प्रतिदिन शरीर के जलीयांश (श्लेष्मा/

कफ दोष) का क्षय होने लगता है और वातदोष की वृद्धि होने लगती है इसलिए इस ऋतु में लवण, कटु एवं अम्ल रस वाले आहार एवं औषध को छोड़ देना चाहिए और व्यायाम तथा सूर्य-किरणों से भी बचना चाहिए।

भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।
सुशीततोयसिक्ताङ्गो लिह्यात्सक्तून्सशर्करान्।। (अ.हृ.सू.३.२८)

ग्रीष्म ऋतु में मधुर, लघु, स्निग्ध, शीतल एवं द्रव-युक्त आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिए और शीतल जल से स्नान कर शर्करा-मिश्रित सत्तू का सेवन करना चाहिए।

वर्षा-ऋतुचर्या

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति।
वर्षासु दोषैर्दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे।। (अ.हृ.सू. ३.४२)
सतुषारेण मरुता सहसा शीतलेन च।
भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा।। (अ.हृ.सू. ३.४३)
वह्निनैव च मन्देन, तेष्वित्यन्योऽन्यदूषिषु।
भजेत्साधारणं सर्वमूष्मणस्तेजनं च यत्।। (अ.हृ.सू. ३.४४)

आदान काल के प्रभाव से दुर्बल हुए शरीर में मन्द हुई जठराग्नि वर्षा-ऋतु में प्रकुपित वातादि दोषों से और भी अधिक मन्द हो जाती है। वर्षा-ऋतु में आकाश जल से भरे लटकते हुए बादलों से युक्त होने पर (अम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे), तुषारयुक्त शीतल वायु के सहसा चलने से, भूमि से उठी वाष्प से, जठराग्नि के मन्द होने से, आहार के अम्लपाकी होने से, दूषित जल के सेवन करने से और काल के स्वभाव से वातादि दोष दूषित हो जाते हैं। इस प्रकार वर्षा-ऋतु में परस्पर दूषित हुए वातादि दोषों में सभी साधारण विधियों (ऐसी विधियाँ जो सभी के अनुकूल हों) का पालन करना चाहिए और विशेष रूप से दीपनीय आहार का सेवन करना चाहिए।

शरद्-ऋतुचर्या

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्तानां सञ्चितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति।। (अ.हृ.सू. ३.४९)
तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम्।
तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु।। (अ.हृ.सू. ३.५०)

वर्षाकालीन शीत से सात्म्य हुए शरीर के शरद् ऋतु की सूर्यकिरणों द्वारा अचानक ही सन्तप्त हो जाने से वर्षाकालीन संचित पित्त प्रकुपित हो जाता है। इस प्रकुपित पित्त को शान्त करने के लिए तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृतपान द्वारा विरेचन एवं रक्तमोक्षण करना चाहिए। शरद् ऋतु में भूख लगने पर तिक्त, मधुर, कषाय एवं लघु अन्न का सेवन करना चाहिए।

ऋतु-संधिकाल

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात्।।(अ.हृ.सू.३.५८)
असात्म्यजा हि रोगाः स्यु सहसा त्यागशीलनात्।

वर्तमान ऋतु के अन्तिम सप्ताह एवं आगामी ऋतु के प्रथम सप्ताह को मिलाकर कुल चौदह दिन 'ऋतुसन्धि-काल' कहलाता है। ऋतुसन्धि-काल में क्रमशः वर्तमान ऋतुचर्या का परित्याग करते हुए आगामी ऋतुचर्या का सेवन प्रारम्भ करना चाहिए; क्योंकि वर्तमान ऋतुचर्या का सहसा त्याग करने से अथवा आगामी ऋतुचर्या का सहसा सेवन करने से 'असात्म्यज रोग' (ऋतु के परिवर्तन से होने वाले रोग) हो जाते हैं।

ऋतुजन्य-रोगों से रक्षा के उपाय

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।।
(अ.हृ.सू. ४.३५)

शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर ऋतु) में संचित दोष को वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म ऋतु में संचित दोष को वर्षा ऋतु में और वर्षा में संचित दोष को शरद् ऋतु में शीघ्र ही उचित विधि (क्रमशः वमन, बस्ति एवं विरेचन) द्वारा निकाल देने पर व्यक्ति कभी भी ऋतुजन्य रोगों से ग्रसित नहीं होता है।

ऋतु के अनुकूल आहार-विहार के लाभ

तस्याशिताद्यादाहाराद् बलं वर्णश्च वर्धते।
यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।। (च.सू. ६.३)

ऋतुओं के अनुरूप जिसने अपनी चेष्टा[१] (व्यवाय, व्यायाम, अभ्यङ्ग आदि) और आहार को अच्छी प्रकार से जान लिया है, उस मनुष्य का चतुर्विध[२] आहार (अशित, पीत, लीढ तथा खादित) बल और वर्ण की वृद्धि करता है।

संक्षिप्त-ऋतुचर्या

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत्।।
स्वादुं निदाघे, शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्।
शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः।। (अ.हृ.सू. ३.५५-५६)
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा।
नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ।। (अ.हृ.सू. ३.५७)

शीतकाल (हेमन्त एवं शिशिर) और वर्षा ऋतु में प्रारम्भिक तीन रसों (मधुर-अम्ल-लवण) का तथा वसन्त ऋतु में अन्तिम तीन रसों (कटु-तिक्त-कषाय) का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार ग्रीष्म-ऋतु में मधुर रस का तथा शरद् ऋतु में मधुर-तिक्त-कषाय रस का सेवन करना

---

१. चेष्टाग्रहणेन व्यवायव्यायामाभ्यङ्गादीनां ग्रहणम्। (च.सू. ६.३., चक्रपाणिः:)
२. अशिताद्यादिति अशितपीतलीढजग्धात्। (च.सू. ६.३., चक्रपाणिः:)

चाहिए। संक्षेप में शरद् एवं वसन्त-ऋतु में रूक्ष-द्रव्यों का और ग्रीष्म एवं शरद्-ऋतु में (घर्मघनान्तयो:) शीत-द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। इसके विपरीत अन्य ऋतुओं में अर्थात् हेमन्त, शिशिर एवं वर्षा-ऋतु में स्निग्ध एवं उष्ण-द्रव्यों का तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त एवं वर्षा-ऋतु में उष्ण-द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। सामान्यत: सभी ऋतुओं में सदा ही सभी रसों का सेवन करना चाहिए, परन्तु उपरोक्त कही हुई ऋतुओं में सेवनीय रस का विशेषरूप से सेवन करना चाहिए।

अध्याय-१४

प्रकीर्ण

अध्ययन-विधि

ततोऽग्निं त्रिः परिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्- कामक्रोध-लोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादन-तत्परेणावश्यं भवितव्यं, मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययन-परेण भूत्वा मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्; अतोऽन्यथा ते वर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति।। (सु.सू. २.६)

आहुति के पश्चात् अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा करके अग्नि को साक्षी बनाने वाले शिष्य को आचार्य उपदेश करता है कि तुम काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, पारुष्य (कठोरता), पिशुनता, निन्दा, असत्य, आलस्य, अयशस्कर (निन्दित) कार्यों से सदा दूर रहो। केशों व नाखूनों को यथासमय काटो, पवित्र आचरण, कषायवस्त्रधारण, सत्यव्रत, ब्रह्मचर्य-पालन एवं अभिवादन में तत्पर रहो। मेरे द्वारा अनुमत स्थान पर जाने, सोने, बैठने, खाने और अध्ययन करने वाले होकर मेरे प्रिय और हितकर कार्यों में वर्तमान रहो। इसके विपरीत आचरण करने पर तुम्हें अधर्म प्राप्त होगा और तुम्हारी विद्या निष्फल होकर प्रसिद्धि को भी प्राप्त नहीं होगी।

अहं वा त्वयि सम्यग्वर्त्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च।। (सु.सू. २.७)

गुरु भी शिष्य के समक्ष प्रतिज्ञा करता है कि तुम्हारे द्वारा उचित आचरण करने पर भी यदि मैं अन्यथादर्शी होता हूँ तो मैं भी पाप का भागी होऊँगा और मेरी विद्या निष्फल हो जाएगी।

अथ वत्स! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया प्रोच्यमानमथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा। ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेयाः। एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत्। अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं व्यक्ताक्षरमपीडित-वर्णमक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत्। न चान्तरेण कश्चिद् व्रजेत् तयोरधीयानयोः।। (सु.सू. ३.५४)

शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात्।। (सु.सू. ३.५५)
वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः।। (सु.सू. ३.५६)

अध्ययन काल में उपस्थित हुए शुद्ध, पवित्र, उत्तरीय धारण किये हुए, शान्तचित्त शिष्य को आचार्य यथाशक्ति पद, पाद अथवा श्लोक का उपदेश करे। तत्पश्चात् उन पद, पाद और श्लोकों का अनुसंधान करे। इस प्रकार एक- एक करके पद, पाद और श्लोकों की अर्थपूर्वक योजना करे तथा शिष्यों के समक्ष स्वयं पढ़े। द्रुततारहित, अविलम्बित, नि:शङ्क, स्फुट अक्षरों के साथ, अधिक जोर न लगाते हुए, आँख, भृकुटि, ओष्ठ, हाथों के अभिनय के बिना, सुसंस्कृत, न अधिक नीचे और न अधिक ऊँचे स्वर से पढ़े। पढ़ते समय गुरु-शिष्य के बीच में से कोई भी न जाये। पवित्र, गुरुसेवानिरत, निपुण, तन्द्रा और निद्रा रहित होकर पढ़ने वाला शिष्य शास्त्र के मर्म को जान लेता है। अध्ययन के पार जाने के इच्छुक शिष्य को वाङ्माधुर्य, अर्थविज्ञान, प्रागल्भ्य (प्रत्युत्पन्नमतित्व), कर्मनैपुण्य, शास्त्राभ्यास और इष्टार्थसिद्धि में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रावलोकनम्।
तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गणः।। (सु.चि. २८.२७)

निरन्तर अध्ययन, वाद (वार्तालाप), दूसरे शास्त्रों का अवलोकन उनकी शिक्षा एवं उन शास्त्रों के आचार्यों की सेवा- ये सब बुद्धि और स्मृति की वृद्धि करने वाले गुणों का समूह है।

राजा के कर्त्तव्य

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ
भिषजि निरनुबन्धं देहरक्षां निवेश्य।
भवति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः
स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायु।। (अ.हृ.सू. ७. ७७)

जो राजा शंकारहित होकर अपने शरीर की रक्षा का भार शास्त्रज्ञ, चरित्रवान्, चिकित्सा-कर्म में कुशल एवं दयालु चिकित्सक के हाथों में सौंप देता है, वह राजा अत्यन्त कान्ति, आरोग्य, यश (कीर्ति), प्रताप और दीर्घायु को प्राप्त करता है।

मद्यप्रभाव-निवारण

मदयति न हि मद्यं जातु चेत् पीतमद्यः
पिबति घृतसमेतां शर्करामेव सद्यः।
अथ घनमधुकैलाकुष्ठदार्वेलवालु-
प्रकटितकबलास्ये मद्यगन्धोऽपि न स्यात्।। (अ.म. ४४)

शराब पीने के तुरन्त बाद शराबी यदि घी और शक्कर को मिलाकर पी ले तो शराब नशा नहीं करती है। घन (नागरमोथा), मधुका (मुलेठी), इलायची, कूठ, दारु (दारुसिता/दालचीनी) व एलवालु (हिन्दी में एल्वा नाम से प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्यविशेष)- इन सबको ग्रास (निवाला) बनाकर मुख में रखने से शराब की गन्ध भी नहीं आती है।

कूष्माण्डकस्य स्वरसो गुडेन पीतो मदं कोद्रवजं निहन्ति।
पयो निपीतं सितया समेतमुन्मत्त-मत्तत्वमपाकरोति।। (अ.म. ४६)

पेठे का रस गुड़ के साथ पीने से कोद्रव (कोदो नामक धान्य) से हुआ मद (नशा) नष्ट हो जाता है। शर्करा के साथ दूध पीने से उन्मत्त (नशायुक्त व्यक्ति) की उन्मत्तता दूर हो जाती है। कोदो नामक तृणधान्य कुछ मदकारक होता है। पर्याप्त मात्रा में खाने से उसके द्वारा कभी-कभी अधिक मद भी हो जाता है। प्रस्तुत पद्य में उसे दूर करने का उपाय बताया है।

देश-विज्ञान

अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।
ज्ञेयः स जाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च।। (च.वि. ३.४७)

अल्प उदकवाला, अल्प वृक्षों वाला, अच्छी वायु वाला, प्रचुर मात्रा में धूप वाला और जहाँ बहुत कम रोग हों- वह देश जाङ्गल देश के रूप में जानना चाहिए।

प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः।
अनूपो बहुदोषश्च समः साधारणो मतः।।) (च.वि. ३.४८)

अधिक जल वाला, अधिक वृक्ष वाला, अल्प वायु वाला, अत्यल्प धूप वाला तथा जहाँ रोग (दोष) अधिक हों वह देश 'अनूप' देश के रूप में जानना चाहिए और उपर्युक्त दोनों श्लोकों में कही गई बातें जहाँ (जिस स्थान में) सामान्य हो, वह देश 'साधारण देश' समझना चाहिए।

परिशिष्ट- १

पद्यानुक्रमणिका

गद्यानुक्रमणिका

परिशिष्ट- २

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

अजीर्णामृतमञ्जरी- आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, सं० २०७० वि०।

अष्टाङ्गहृदयम्- आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, सं० २०७१ वि०।

आयुर्वेद-महोदधि- आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, सं० २०७१ वि०।

आयुर्वेदाब्धिसार- (प्रथम भाग) सम्पादक डा० पुल्लेल श्री रामचन्द्र, संस्कृत परिषद्, हैदराबाद, आन्ध्रप्रदेश ५००००७, प्रथम संस्करण १९८९ ई०।

काश्यपसंहिता- अनुवादक- श्री सत्यपाल भिषगाचार्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, के ३७/११६ गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी-१, वि०सं० २०१०।

कैयदेवनिघण्टु- आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, गोकुल भवन, के ३६/१०६ गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी-१, पुर्नमुद्रित २००९ ई०।

चरकसंहिता- त्रिविक्रमात्मज यादव शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी, नई दिल्ली।

चिकित्सातिलकम्- सम्पादक- वे.सु.वेंकट सुब्रह्मण्य शास्त्री, राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास १९८३ ई०।

द्रव्यरत्नाकर-निघण्टु- सम्पादक- वैद्य एस०डी० कामत, 'प्रसाद' प्रथम तल, सरोजनी नायडू रोड, मुलुण्ड (पश्चिम) मुम्बई ४०००८०।

धन्वन्तरिनिघण्टु- सम्पादक- आचार्य प्रियव्रत शर्मा, चौखम्भा ओरियण्टालिया, बंगलो रोड, ९ यू०वी० जवाहर नगर, दिल्ली- ७, प्रथम संस्करण २००४ ई०।

भावप्रकाश-निघण्टु- डा० कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारतीय अकादमी, गोकुल भवन, के-३७/१०९ गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी-१ पुनर्मुद्रित २००६ ई०।

भोजनकुतूहल- आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, सं० २०७१ वि०।

मनुस्मृति- वेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, मुम्बई, वि०सं० १९६९।

महाभारत शान्तिपर्व- गीताप्रेस, गोरखपुर।

माधवनिदान- सम्पादक- त्रिविक्रमात्मज यादव शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।

योगरत्नाकर- वैद्य श्री लक्ष्मीपति शास्त्री, चौखम्भा प्रकाशन, के ३७/११६ गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी-१, पुनर्मुद्रण वि०सं० २०६७।

योगशतम्- आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, सं० २०७१ वि०।

राजनिघण्टु- अनुवादक- इन्द्रदेव त्रिपाठी, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, पञ्चम संस्करण १९१० ई०।

वृन्दमाधव- डा० प्रेमवती तिवारी, चौखम्भा विश्वभारती, वारणसी-१ प्रथम संस्करण २००७ ई०।

शार्ङ्गधरसंहिता- सम्पादक- सिद्धिनन्दन मिश्र, चौखम्भा ओरियण्टालिया बंगलो रोड, ९-यू०बी० जवाहर नगर, दिल्ली-७, प्रथम संस्करण १९८५ ई०।

सिद्धसारसंहिता- (रविगुप्त विरचिता) आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार, प्रथम संस्करण अगस्त २०१४ ई०।

सुश्रुतसंहिता- कविराज डा० अमृतादत्त शास्त्री चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, के-३७/११६ गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी।

सौन्दरनन्दम्- (अश्वघोष-विरचित) सम्पादक- सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, जवाहर नगर, बंगलो रोड, दिल्ली- ७, पुनर्मुद्रण- १९८६ ई०।

परिशिष्ट- ३

शब्दसंक्षेप-सूची

१.	अ.म.	अजीर्णामृतमञ्जरी
२.	अ.हृ.उ.	अष्टाङ्गहृदय उत्तरस्थान
३.	अ.हृ.सू.	अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान
४.	अ.हृ.चि.	अष्टाङ्गहृदय चिकित्सास्थान
५.	अ.सं.सू.	अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान
६.	आ.म.	आयुर्वेद-महोदधि
७.	आ.सा.	आयुर्वेदाब्धिसार
८.	कठ.उ.	कठोपनिषद्
९.	काठ.खि.	काठकसंहिता खिलपाठ
१०.	का.खि.	काश्यपसंहिता खिलस्थान
११.	कै.नि.	कैयदेव-निघण्टु
१२.	च.सू.	चरक सूत्रस्थान
१३.	च.नि.	चरक निदानस्थान
१४.	च.वि.	चरक विमानस्थान
१५.	च.शा.	चरक शारीरस्थान
१६.	च.चि.	चरक चिकित्सास्थान
१७.	चाण.सू.	चाणक्यसूत्र
१८.	चि.ति.	चिकित्सा-तिलकम्
१९.	तर्क.सं.	तर्कसंग्रह
२०.	द्र.र.नि.	द्रव्यरत्नाकर-निघण्टु
२१.	ध.नि.	धन्वन्तरि-निघण्टु
२२.	भा.प्र.नि.	भावप्रकाश-निघण्टु

२३.	भो.कु.	भोजन-कुतूहलम्
२४.	मनु.	मनुस्मृति
२५.	महा.शा.	महाभारत शान्तिपर्व
२६.	मा.नि.अ.	माधवनिदान अजीर्णनिदान
२७.	यो.अ.नि.	योगरत्नाकर अजीर्णनिदान
२८.	योग.द.	योगदर्शन
२९.	यो.श.	योगशतम्
३०.	रा.नि.	राजनिघण्टु
३१.	वृ.मा.	वृन्दमाधव
३२.	शा.सं.	शार्ङ्गधरसंहिता
३३.	सि.सं.	सिद्धसारसंहिता
३४.	सु.सू.	सुश्रुत सूत्रस्थान
३५.	सु. नि.	सुश्रुत निदानस्थान
३६.	सु.चि.	सुश्रुत चिकित्सास्थान
३७.	सौ.न.	सौन्दरनन्दम्
३८.	सां.सू.	सांख्यसूत्र